भारत विभाजन एक मानवीय त्रासदी थी । देश बँटा, परिवार बँटे और परिणामस्वरूप मनुष्य चरित्र का क्रूरतम पक्ष देखने को मिला । किन्तु हिंसा और अमानवीयता की काली छाया के बीच भी मानवता की उज्ज्वल किरण शेष थी । बँटवारे से सम्बन्धित त्रासद कथाओं में मनुष्य चरित्र के अँधेरे उजाले पक्ष का चित्रण करता है भारत विभाजन पर आधारित हिन्दी कथा साहित्य । साथ ही साहित्य । साथ ही साहित्यकारों की सामाजिक सदा मानवीय पक्षधरता का परिचायक भी हैं इस त्रासदी पर आधारित संवेदनापूर्ण रचनाएँ ।

भारत-विभाजन
और
हिन्दी-कथा-साहित्य
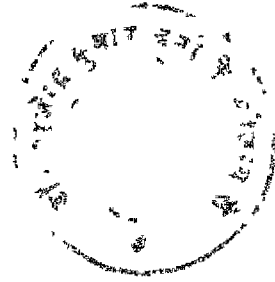
प्रो० (डॉ०) प्रमिला अग्रवाल
मारवाड़ी महाविद्यालय, राँची

जयभारती प्रकाशन
इलाहाबाद

BHARAT VIBHAJAN AUR
HINDI KATHA SAHITYA

by

Prof. (Dr.) Pramila Agarwal

Published by
Jaibharti Prakashan Allahabad

जयभारती प्रकाशन
447, पीली कोठी, नई बस्ती
कीडगंज, इलाहाबाद—3
द्वारा प्रकाशित

●

●

मूल्य : 175-00

प्रथम संस्करण : 1992

●

सुनील प्रिंटिंग प्रेस
बड़ा बघाड़ा, सादियाबाद
इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

प्राक्कथन

भारत विभाजन वर्तमान शताब्दी मे भारत की ही नही, अपितु विश्व इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। संसार के इतिहास में ऐसा उदाहरण नही मिलता, जब वर्षों से मित्रो की भांति निवास करने वाली दो जातियां धार्मिक अनुदारता, पारस्परिक वैमनस्य और अविश्वास के कारण धीरे-धीरे एक दूसरे की शत्रु बन गयी हों और जिनकी शत्रुता ने एक अखण्ड भू-भाग के टुकड़े कर डाले हों। देश की स्वतन्त्रता के लिये हमे बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। उसे पाने के लिये हमें उन सब उपलब्धियों की बलि देनी पड़ी जो स्वाधीनता सग्राम के दीर्घकालीन अनुशासन, तप और त्याग से मिली थी। एकता हमारे स्वाधीनता संघर्ष की धुरी थी, किन्तु देश-विभाजन से एकता की नीव हिल गई। अहिंसा हमारा मूल मन्त्र था, किन्तु विभाजन के फल-स्वरूप देश मे हिंसा का ऐसा भयानक नृत्य हुआ कि शैतान की क्रूरता भी उसके सामने फीकी पड़ गई। दोनो जातियों के पारस्परिक वैमनस्य और घृणा की आग के कारण विभाजन के उपरान्त मनुष्य की दानवता के अकल्पनीय दृश्य देखने में आये। देश में साम्प्रदायिक दंगो की जो आग भड़की, उसके कारण लाखो निर्दोष, निरुपाय मनुष्य मृत्यु के ग्रास बने और लाखो को बेघरबार होना पड़ा। विभाजन से उत्पन्न परिस्थितियों ने जनजीवन, उसकी नैतिकता, आदर्श और मान्यताओं को झकझोर दिया। साम्प्रदायिक उन्माद के कारण युगो से स्वीकृत मानवीय मूल्यो का अभूतपूर्व अवमूल्यन हुआ। विभाजन इतनी दूरगामी प्रभाव वाली घटना थी कि उसने भारतीय समाज पर तात्कालिक प्रभाव तो डाला ही; इस त्रासदी के प्रभाव और परिणामों को लाखों निरीह लोग आज तक किसी-न-किसी रूप में सहन कर रहे हैं। साम्प्रदायिक दंगो का जो सिलसिला विभाजन के कुछ समय पहले से प्रारम्भ हुआ, वह आज तक देश मे चल रहा है। जमशेदपुर मे हुए 1979 के दंगों के जाँच आयोग ने अपने प्रतिवेदन में कहा था कि विभाजन के जख्म अभी तक नही भरे हैं। निश्चय ही विभाजन एक मानवीय त्रासदी थी और साम्प्रदायिकता की समस्या के समाधान के दृष्टिकोण से राजनीतिज्ञो की एक भयंकर भूल—उनकी अदूरदर्शिता का परिचायक थी। विभाजन की दुर्घटना ने भारतीय उपमहाद्वीप के जनजीवन को बड़ी गहराई से प्रभावित किया। विभाजन की इस पृष्ठभूमि मे यह बात काफी महत्वपूर्ण हो जाती है कि इतिहास की इस युग परिवर्तनकारी घटना और उसकी कल्पनातीत परिणति ने साहित्यकार को किस सीमा तक प्रभावित किया। विभाजन के विषय में रचनाकारों का सामान्य दृष्टिकोण क्या रहा तथा अपनी कृतियों मे उन्होंने इस करुणाजनक प्रसंग का चित्रण किस रूप में किया। इन्ही प्रश्नों के उत्तर ढूंढने की लालसा ने मुझे इस विषय की ओर आकृष्ट किया। विशेषकर इस पृष्ठभूमि में कि पाकिस्तान की परिकल्पना में एक साहित्यकार उर्दू के प्रसिद्ध कवि इकबाल का भी हाथ रहा। वैसे विभाजन पर हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों

की रचना हुई, किन्तु अपनी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए इस शोध-प्रबन्ध के लिये हिन्दी के कथा साहित्य का ही चुनाव किया गया है।

हिन्दी में इस विषय पर शोध-कार्य का नितान्त अभाव है। दिल्ली विश्वविद्यालय के डॉ० नरेन्द्र मोहन ने अवश्य इस विषय पर कुछ कार्य किया है। उन्होंने 'सिक्का बदल गया' शीर्षक से विभाजन पर सभी भाषाओं की चुनी हुई कहानियों का संकलन प्रकाशित किया है तथा इस संग्रह की भूमिका में विभाजन की पृष्ठभूमि एवं संकलित कहानियों का एक सुसंघटित विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है; फिर भी हिन्दी कथा साहित्य में विभाजन पर क्या लिखा गया—इसका सर्वांगीण विवेचन अब तक नहीं हुआ है। हिन्दी के दिवंगत कवि श्री भारतभूषण अग्रवाल भारत विभाजन पर आधारित भारतीय साहित्य का सर्वेक्षण कर रहे थे, किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु ने इस महत्वपूर्ण कार्य को पूरा नहीं होने दिया।

इस दृष्टि से इस पुस्तक में हिन्दी कथा साहित्य के एक लगभग अछूते विषय को अध्ययन के लिये चुना गया है, और इससे हिन्दी साहित्य में विभाजन जैसी महत्वपूर्ण त्रासदी पर रचित कृतियों के अध्ययन की कमी कुछ सीमा तक दूर होगी, ऐसा विश्वास है।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में भारत विभाजन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की विवेचना की गयी है। वे कौन से तत्व थे, जिन्होंने विभाजन में सक्रिय भूमिका निभाई—जिनके कारण आर्यावर्त की अखण्डता का स्वप्न भंग हुआ। विभाजन के कारणों के सम्बन्ध में जो अलग-अलग दृष्टिकोण हैं, और जिन परिस्थितियों में विभाजन हुआ, उनका संक्षिप्त विवेचन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे अध्याय में विभाजनकालीन परिवेश के सन्दर्भ में लेखकीय चेतना की परख की गयी है। अर्थात् विभाजन की पृष्ठभूमि में साहित्यिक संभावनाओं को तलाशा गया है। विभाजन के दौरान तथा पश्चात् व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के स्तर पर ऐसा बहुत कुछ हुआ जिसमें लेखक की मानवीय चेतना को झकझोरने या उसके सामाजिक दायित्व बोध को जागृत करने की क्षमता मौजूद थी। विभाजन के परिवेश तथा उससे उत्पन्न समस्याओं ने लेखकीय चेतना को किस रूप में उद्वेलित किया, इसकी परख का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

तीसरे अध्याय मे भारत विभाजन पर आधारित कहानियों तथा चौथे अध्याय मे उपन्यासो की समीक्षा की गयी है। इस समीक्षा के पीछे मुख्य दृष्टिकोण यही रहा है कि इन रचनाओ में विभाजन की त्रासदी का चित्रांकन किस रूप में हुआ है; उसके किस पक्ष को प्रधानता दी गयी है तथा इस चित्रण के पीछे लेखक का कौन-सा दृष्टिकोण काम कर रहा है।

पाँचवें अध्याय में इन रचनाओ के सर्जनात्मक स्तर की समीक्षा की गयी है; साहित्यिक दृष्टि से विभाजन पर आधारित कृतियों का मूल्यांकन किया गया है। क्या विभाजन जैसी सर्वग्राही विभीषिका को लेकर हिन्दी में ऐसी कृतियो की रचना

हुई, जिन्हें महान कथाकृति अथवा अमूल्य साहित्यिक निधि के रूप मे स्वीकार किया जा सके ? विभाजन पर आधारित कृतियों के रचनात्मक स्तर, शैली-शिल्प तथा उनके पीछे काम करने वाले लेखकीय दृष्टिकोण के परीक्षण द्वारा इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने की चेष्टा की गयी है। अन्त में उपसंहार मे इस अध्ययन के निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है।

अन्य भाषाओं के कथा साहित्य का विवेचन इस पुस्तक का विषय नही है, फिर भी हिन्दीतर भाषाओं में इस विषय को कुछ महत्वपूर्ण लिखा गया, उसका सामान्य परिचय देने के दृष्टिकोण से परिशिष्ट--1 मे विभाजन पर आधारित अन्य भाषाओं की कुछ महत्वपूर्ण कृतियों की संक्षिप्त चर्चा की गयी है।

इस शोध-प्रबन्ध में हिन्दी की 57 कहानियों और 48 उपन्यासो का अध्ययन किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी-कथा-साहित्य के क्षेत्र में इस विषय पर इतना ही लिखा गया, किन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये इस विषय पर लिखी गयी हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारो की महत्वपूर्ण एवं प्रतिनिधि रचनाएं हैं। संख्या की दृष्टि से भले ही इस विषय की सभी कहानियो एवं उपन्यासो को इस पुस्तक में स्थान दे पाना संभव नही हुआ, किन्तु गुणात्मक दृष्टि से इस विषय पर रचित महत्वपूर्ण कथा-साहित्य की विवेचना इस पुस्तक मे की गयी है। आशा है कि यह पुस्तक इस विषय पर और आगे अध्ययन में सहायक होगी।

यह पुस्तक भारत विभाजन की त्रासदी पर आधारित कथा-साहित्य के सर्वेक्षण का प्रयास है। हिन्दी में इस विषय पर बहुत कम कार्य हुआ। सभवतः इस विषय पर इतने विस्तार से लिखी गई यह प्रथम पुस्तक ही है। यह दावा नही किया जा सकता कि इसमें विभाजन पर आधारित समग्र कथा साहित्य का समावेश हो ही गया है। फिर भी इस विषय पर आधारित महत्वपूर्ण रचनाओं को इसमें समाविष्ट करने का प्रयास किया गया है। पुस्तक के अन्त में इस विषय पर आधारित पुस्तको की सूची दी गई है। आशा है इस विषय पर शोध की इच्छा रखने वालो के लिये यह सहायक होगी।

इस पुस्तक के लिखने में कई लोगो से सहायता मिली। मैं सबको धन्यवाद देती हूं। डा० दिनेश्वर प्रसाद, हिन्दी विभागाध्यक्ष, रांची विश्वविद्यालय से सदैव सहयोग तथा मार्गदर्शन मिलता रहा। उन्होने काफी व्यस्तता के बावजूद इस पुस्तक की भूमिका लिखना स्वीकार किया। मैं उनकी अत्यन्त आभारी हूं। डॉ० भूपेन्द्र कलसी एव अपने पति डॉ० बी० पी० अग्रवाल की भी मैं अत्यन्त आभारी हूं। जिनके सहयोग से ही इस पुस्तक का लेखन संभव हुआ। मैं इस पुस्तक के प्रकाशक श्री जुगीलाल जी के प्रति भी आभार प्रकट करती हूं। जिनके प्रयास से ही इस पुस्तक का प्रकाशन हो सका। सबों को हार्दिक धन्यवाद।

रांची 17 9 92 • **प्रमिला अग्रवाल**

भूमिका

भारत-विभाजन आधुनिक विश्व इतिहास की एक ऐसी घटना है, जिसके दूरगामी प्रभावों का आकलन कई दृष्टियों से संभव है। इस विभाजन की पृष्ठभूमि मे इस्लाम धर्मावलम्बियों के लिए एक पवित्र देश (पाकिस्तान) की परिकल्पना काम कर रही थी। इस परिकल्पना का इतिहास मर इकबाल से भी पुराना है। 1857 ई० में मुगल साम्राज्य की समाप्ति के साथ भारत उपमहाद्वीप के मुसलमानों के एक छोटे, किन्तु प्रभावशाली समुदाय में हताशा और भय की भावना ही परिव्याप्त नहीं हुई, बल्कि यह मनोभाव भी पैदा हुआ कि फिरंगियो द्वारा शासित राज्य मे इस्लाम का अस्तित्व संकटग्रस्त हो गया है। स्वभावतः इस समुदाय ने अपने धर्म को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए भारत के परित्याग का आन्दोलन किया और बहुत-से भारतीय मुसलमान ईरान, सऊदी अरब आदि देशों में जाकर बस गये। सौदा ने जब यह कहा कि खुरासान के बादशाह की कृपा हो तो मैं भारत की नापाक जमीन पर सिजदा न करूँ (सिजदा न करूँ हिन्द की नापाक जमी पर), तो वह यही कह रहे थे कि भारत भूमि पाक नहो रह गई है और किसी पाक भूमि में ही भारतीय मुसलमानो का धर्म बचा रह सकता है। किन्तु कौन जानता था कि कभी स्वयं भारत भूमि को ही विभक्त कर मुसलमानो के लिए पवित्र भूमि या पाकिस्तान की स्थापना का आन्दोलन होगा और साम्राज्यवादी शक्तियाँ इसे साकार कर देंगी?

धार्मिक विद्वेष और अविश्वास की जिस पृष्ठभूमि में भारत का विभाजन हुआ, उसने न केवल यहाँ के भूगोल को प्रभावित किया, बल्कि समस्त सांस्कृतिक जीवन को भी। विभाजन के आन्दोलन के अन्तिम चरण मे हजारों परिवार बिखर गये, मातृजाति का अकल्पनीय अपमान हुआ और रक्त का पूरा समुद्र बह गया। विभाजन के बाद तो और भी अमानवीय घटनाएँ हुईं और आबादियों का अभूतपूर्व विस्थापन हुआ। घृणा और धार्मिक विद्वेष के आवर्त्त में फँसे मनुष्य को, जो सिर्फ मनुष्य था — जो न हिन्दू था, न मुसलमान—क्या कुछ झेलना पड़ा, इसका अमूल्य दस्तावेज डॉ० प्रमिला अग्रवाल की पुस्तक 'भारत-विभाजन और हिन्दी-कथा-साहित्य' है। इसमें इस विभाजन से सम्बन्धित हिन्दी उपन्यासो और कहानियों का बड़ा प्रामाणिक विश्लेषण हुआ है। लेखिका ने इसी विषय पर आधारित अन्य भाषाओं के कथा साहित्यो का भी सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। यह सर्वेक्षण एतत्सम्बन्धी हिन्दी कथा साहित्य के वैशिष्ट्य को उजागर करता है और यह बतलाता है कि इसके लेखकों ने कितनी सूक्ष्मता और के साथ तत्कालीन भारतीय त्रासदी का चित्रण किया है

डॉ० प्रमिला अग्रवाल की यह पुस्तक साहित्य के समाजशास्त्रियों के लिए भी उपयोगी है और आधुनिक भारतीय समाज के इतिहासकारों के लिए भी। इसके पाठक यह सोचने के लिए विवश होंगे कि इस विभाजन के योगफल के रूप में भारतीय उपमहाद्वीप के देशों को क्या प्राप्त हुआ है---वास्तविक लाभ, शान्त-सुस्थिर भविष्य की गारंटी या मुट्ठी भर राख, जो हर महाभारत के बाद तथाकथित उल्लसित विजेताओं को नसीब होती है। बर्लिन की जो दीवार कभी एक जर्मनी को दो जर्मनी बनाती थी, आज टूट चुकी है, लेकिन क्या भारत उपमहाद्वीप को विभाजित करने वाली घृणा और विद्वेष और राजनीतिक अतिजीविता के प्रयोजन से निर्मित दीवारें कभी टूटेंगी? इस प्रश्न का उत्तर तो भावी इतिहास ही देगा, लेकिन इस प्रकार की दीवारें मानव इतिहास के लिए कलंक हैं, यह बोध तो डॉ० प्रमिका अग्रवाल की किताब से गुजरने के बाद हो ही जाता है।

प्रोफेसर और अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
राँची विश्वविद्यालय, राँची

21–9–1992 दिनेश्वर प्रसाद

विषय-सूची

भारत विभाजन की पृष्ठभूमि

मानव सभ्यता का विकास युद्ध और नरसंहार की नीव पर हुआ है। युद्ध होते रहे है, हो रहे हैं और शायद सृष्टि के अन्त तक होते रहेगे। मनुष्य की महात्वाकांक्षा रक्त से सिक्त होकर उद्दाम रूप धारण करती रही है। भारत की धरती पर अनगिनत बार रणचंडी को अपनी रक्तपिपासा शान्त करने का अवसर मिला है, जिसके मूल में कभी कोई नैतिक आदर्श रहा, कभी मनुष्य की महत्वाकांक्षा। असुर-देवता सग्राम से अंग्रेजी शासन के प्रतिष्ठित होने तक के काल ने नरसंहार और विनाश के अनेकानेक दृश्य रंजित किये। किन्तु भारतभूमि का बंटवारा, अखण्ड आर्यावर्त का विभाजन भारतीय इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। यह घटना सैद्धान्तिक रूप से भले ही राजनैतिक रही हो, व्यावहारिक रूप से निश्चय ही साम्प्रदायिक थी। लोग युद्धो में मरते है, राजकीय प्रकोप के शिकार होते हैं—लेकिन सदियो से एक साथ रहते आए, एक सांस्कृतिक विरासत वाले लोग एक दूसरे के प्रति इतनी घृणा और नफरत प्रकट कर सकते हैं, हत्या करने के लिए इतने जघन्य और क्रूरतम तरीके व्यवहार मे ला सकते हैं—ऐसा शायद किसी ने नही सोचा था। भारत विभाजन इस उपमहाद्वीप के जीवन की सबसे भयंकर त्रासदी है। इसके अप्रत्याशित आघात ने सदियो से अर्जित संस्कृति, जातीयता, भाषा और प्रकृति तथा मानवीय सम्बन्धों को एक झटके से नष्ट कर डाला। जब तक लोग कुछ सोच-समझ पाते—लाखो-करोड़ो लोगो का जीवन, उनका वर्तमान और भविष्य, उनकी सभ्यता और संस्कृति साम्प्रदायिकता की आग में जलकर भस्म हो चुके थे। इस त्रासदी की मिसाल विश्व मे दूसरी नही है। इतना बड़ा नरसंहार संभव है पहले भी हुआ हो, किन्तु एक ही भूभाग में निवास करने वालो, समान जातीय भावो एवं संस्कृति से बँधी जातियों का ऐसा देशान्तरण अभूतपूर्व है। इस एक घटना ने भारतीय राजनीति और संस्कृति के स्वरूप को जितना प्रभावित किया, उतना शायद ही किसी अन्य घटना ने किया हो।[1]

मानवीय सम्बन्धों को अत्यन्त गहराई से प्रभावित करने वाली यह घटना केवल राजनैतिक कारणो का परिणाम नही थी, बल्कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे यह सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक भावनाओ के मौन एवं विवश अस्वीकार-स्वीकार की एक लम्बी प्रक्रिया की अन्तिम परिणति थी।

---

1 सिक्का बदल गया स० नरेन्द्र मोहन, पृ० 11

1. हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध एक-दो दिन में नहीं बने थे। इन सम्बन्धों के बनने की एक लम्बी प्रक्रिया है, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। प्रारम्भ में यद्यपि ये दो कौमें शासक और शासित के रूप में एक दूसरे के निकट आईं, किन्तु कालान्तर में इनके पारस्परिक सौहार्द की जड़ें गहरी होती गयीं। अंग्रेजों को यहाँ स्थापित होने में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, वे हिन्दू-मुसलमानों के सामूहिक प्रयास का ही परिणाम थीं।

धार्मिक सम्बन्ध—मुसलमान भारत में एक विजेता कौम के रूप में आये; लेकिन जिस देश में वे आये थे, वह उनके देश से दूर हटकर से सुखी, सम्पन्न और उन्नत था। अतः वे यहीं बस गए और क्रमशः यहीं के अंग हो गए। चूंकि मुसलमानों में से अधिकांश पहले हिन्दू थे जिन्होंने विभिन्न कारणों से इस्लाम धर्म स्वीकार किया; हिन्दू और मुसलमानों में बहुत-सी भिन्नताओं के बावजूद विचारों, रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार का आदान-प्रदान होता रहा। धार्मिक भिन्नता के होते हुए भी दोनों ही धर्मों में ऐसे लोग हुए, जिन्होंने एक दूसरे के धर्मों का अध्ययन किया। ऐसे सन्त और फकीर हुए जो दोनों ही धर्मों के लोगों के पूज्य हुए। भाषा, पोशाक, भवन निर्माण कला, रस्म-रिवाज, संगीत आदि क्षेत्रों में दोनों ही धर्मों के लोगों की काफी चीजें समान हो गयी थीं, हैं। यहाँ तक कि दोनों ही धर्म के लोग एक दूसरे के पर्व-त्योहारों में भाग लेते थे।"[1] ज्यादातर मुसलमान ऐसे थे जिन्होंने अपना पुराना धर्म बदल लिया था, पर पुरानी परम्परा का अब भी भूले न थे। वे हिन्दू विचारों, कथाओं और पुराणों की कहानियों से वाकिफ होते थे, वे एक तरह का काम करते, एक-सी जिन्दगी बिताते, एक से कपड़े पहनते और एक ही बोली बोलते थे। ये एक दूसरे के त्योहारों में शरीक होते और कुछ नीम मजहबी त्योहार ऐसे भी होते जो दोनों के लिये आम थे। इनके लोकगीत एक ही थे।"[1] धार्मिक भेद होते हुए भी हिन्दुस्तान इनका देश था। ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि विभाजन चर्चा से पूर्व मुसलमानों ने हिन्दुस्तान को अपना देश नहीं समझा हो।

सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध—हिन्दुओं और मुसलमानों के सामाजिक सम्बन्ध कटुतापूर्ण न थे। 'गाँव के सीमित घेरे के अन्दर हिन्दुओं और मुसलमानों के गहरे सम्बन्ध' होते थे। वर्ण व्यवस्था यहाँ कोई रुकावट नहीं डालती थी, और हिन्दुओं ने मुसलमानों को भी एक जात मान ली थी।[2] कुछ तो यों कि हिन्दुस्तान के ज्यादातर मुसलमान हिन्दू-धर्म से मत-परिवर्तन किये हुए लोग थे और कुछ

---

1. हिन्दुस्तान की कहानी : जवाहरलाल नेहरू : पृ० 364-365
2. वही पृष्ठ 364

इसलिए कि हिन्दू-मुसलमानों का यहाँ दीर्घकाल तक, विशेषतः उत्तरी हिन्दुस्तान मे, साथ रहा, दोनों के बीच बहुत-सी आम बातें, आदतें, रहन-सहन के ढंग और रुचियाँ पैदा हो गई थी, जो संगीत, चित्रकारी, इमारतों, खाने, कपड़े और एक सी परम्परा मे दिखाई देती हैं। वे मिल-जुलकर शान्ति के साथ एक कौम के लोगो की तरह रहा करते थे, एक-दूसरे के जलसों और त्योहारो मे सम्मिलित होते थे, एक बोली बोलते थे, और बहुत-कुछ एक ही ढंग से रहते थे, और जिन आर्थिक समस्याओं का उन्हे सामना करना पड़ता, वे भी एक-से थे।[1]

2. सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न करने वाले तत्व—

हिन्दू राष्ट्रीयता—यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि मुस्लिम मतावलम्बी शासकों ने हिन्दुस्तान पर लगभग 600 वर्षों तक शासन किया। मुस्लिम आक्रमण के पूर्व यहाँ हिन्दू शासको का राज्य था। हिन्दू धर्म यहाँ का प्रमुख धर्म था और मुस्लिम शासन के बावजूद उसमें अन्तर नही आया। मुस्लिम शासको ने हिन्दुओ के साथ यहाँ की मुस्लिम जनता पर भी राज्य किया तथा हिन्दुस्तान मे विभिन्न भागो के मुस्लिम शासक सदैव एक दूसरे पर आक्रमण करते रहे। किन्तु स्वतन्त्रता-सग्राम के दौरान जो पृथकतावादी शक्तियाँ उभरीं, उन्होंने यह प्रचार करना प्रारम्भ किया कि इस अर्से मे मुसलमानों ने हिन्दुओ पर राज्य किया।

इस प्रचार ने हिन्दुओ के मन में धार्मिक राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया, जिसका उद्देश्य था हिन्दुस्तान को मुस्लिम शासको से छीन कर हिन्दू राजाओं का शासन स्थापित करना। इस भावना के परिणामस्वरूप मुस्लिम शासकों के पारस्परिक युद्ध दो शासकों के बीच के संघर्ष मात्र माने गये, जब कि हिन्दू और मुस्लिम शासकों के बीच के युद्ध को हिन्दू राज्य की स्थापना का संघर्ष माना गया। उदाहरणार्थ चित्तौड़ के महाराणा प्रताप अपनी स्वाधीनता हेतु निरन्तर सघर्षरत रहे।[2] अब महाराणा प्रताप की प्रशंसा एक स्वतन्त्रताप्रिय, स्वाभिमानी राजा के रूप मे करना और बात है और उन्हें हिन्दुत्व का रक्षक मानकर हिन्दू राष्ट्रीयता का प्रतीक बना लेना और बात। यद्यपि शिवाजी के मामले मे भी यह कहा जा सकता है कि औरंगजेब से उनकी लड़ाई में हिन्दू राष्ट्रीयता का अंश मौजूद था।

हिन्दू राष्ट्रीयता को उभारने के लिये वातावरण पैदा करने मे कुछ कट्टर मुस्लिम राजा भी जिम्मेवार रहे। मोहम्मद गजनी द्वारा सोमनाथ मन्दिर की दौलत लूटे जाने, मन्दिर की प्रतिमा भंग किये जाने और मन्दिर को नष्ट करने की

1. हिन्दुस्तान की कहानी : पृ० 363-364.
2 वही पृ० 351

घटना या औरंगजेब द्वारा हिन्दुओं पर किये गये अत्याचारों ने हिन्दू राष्ट्रवाद को जन्म देने में सहायता पहुँचाई। बाबर, हुमायूँ, अकबर जैसे मुगल राजाओं की हिन्दू धर्म के प्रति सहिष्णुता तथा सूझ-बूझ के कारण हिन्दू राष्ट्रवाद नहीं पनपा। किन्तु औरंगजेब ने अपनी धर्मांधता के कारण हिन्दुओं को अपना शत्रु बना लिया।[1] परिणामतः हिन्दू राष्ट्रवाद का उत्थान हुआ। यद्यपि हिन्दू-राष्ट्रीयता भारत भूमि की एक स्वाभाविक उपज थी, लेकिन यह अनिवार्यतः उस बड़ी राष्ट्रीयता के रास्ते में रुकावट डालती थी, जो मजहबी भेद-भावों से ऊपर उठ जाना चाहती है।[2]

चूंकि निर्धन और सामाजिक दृष्टि से हीन अनेक हिन्दू धर्म परिवर्तन कर मुसलमान बने थे, स्वभावतः उनके मन में सवर्ण हिन्दुओं के प्रति कटुता का भाव था और वे हिन्दुओं को ही अपनी दुरावस्था का जिम्मेदार मानते थे। हिन्दू भी इन्हें हीन दृष्टि से देखते थे। यहाँ तक कि उच्चवर्गीय मुसलमान, जिनमें से कुछ लोग मुगलयुगीन शासक समुदायों की संतान थे, इन मुसलमानों को कोई खास आदर नहीं देते थे। किन्तु ये भावनायें दैनानुदिन व्यवहार में अधिक स्पष्ट नहीं थी और एक प्रकार की सहिष्णुता इनमें बनी हुई थी। यहाँ तक की अंग्रेजों के आने के बाद भी, जब तक राष्ट्रीयता की भावना तीव्र नहीं हुई थी—हिन्दू मुसलमानों में झगड़े बहुत कम थे। देखा जाये तो अंग्रेजों ने उन्हें आपस में लड़ाने की चालें उस समय शुरू की, जब भारतवासियों में स्वाधीनता-प्राप्ति की भावना प्रबल होने लगी।[3]

उन्हें यह समझा दिया गया कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद लोकतांत्रिक व्यवस्था में चुनाव के द्वारा सरकार बनेगी। बहुसंख्य होने के कारण हिन्दू ही अधिक चुनकर आयेंगे और इस तरह से हिन्दू, मुसलमानों पर शासन करेंगे। संकुचित विचार वाले मुसलमानों और स्वार्थी राजनीतिज्ञों ने इसी आधार पर मुसलमानों को भड़काया। इस नीति में अंग्रेजों का उद्देश्य हिन्दुस्तान में अपने शासन को बनाये रखना था। लेकिन बाद में ये भावनायें अत्यन्त गहरी और घातक सिद्ध हुईं।[4]

---

1. हिन्दुस्तान की कहानी : पृ० 366.
2. वही : पृ० 369.
3. राइज ऑफ मुस्लिम्स इन इण्डियन पॉलिटिक्स, पृ० 278-279
4. अंग्रेज लाखों रुपये खर्च करके हिन्दू-मुसलमान को लड़ाता था। वह मुसलमान आलिमों तथा हिन्दू पण्डितों पर धन खर्च करता था कि वे आपस में दोनों को लड़ायें। सिर्फ हिन्दू मुसलमान ही नहीं वह हिन्दू-हिन्दू तथा मुसलमान-मुसलमान को भी लड़ाता था। हिन्दुओं में आर्य-समाईयों तथा सनातन-धर्मियों में तथा मुसलमानों में शिया तथा सुन्नियों में, दंगे कराये जाते थे। घृणा व दंगों का यह पौधा अंग्रेज का लगाया हुआ था और इसमें पानी दिया खूब मश्कों से मुस्लिम लीग ने।

   —भारत विभाजन अभिशाप था : जोश मलीहाबादी द्वारा रेडियो पाकिस्तान को दिया गया इन्टरव्यू, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 8 मार्च 1949, पृ० 13 (शिवकुमार गोयल द्वारा प्रस्तुत)

धार्मिक

धार्मिक आधार पर भी हिन्दू-मुसलमानो के बीच अलगाव के बीज बोये गये। दोनो धर्मो के बीच के अन्तर पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा। दोनो के धार्मिक आचार-व्यवहार, रस्म-रिवाज मे जो पार्थक्य था, उसे साम्प्रदायिक दूरी पैदा करने का हथियार बनाया जाने लगा। यह कहा जाने लगा कि दोनों के धर्म बिलकुल विरोधी है, एक मूर्तिपूजा मे विश्वास रखता है, दूसरा नही; एक मुर्दे को जलाता है, दूसरा दफन करता है। ऐसे ही अनेक तर्कों के आधार पर दो राष्ट्रो के सिद्धान्त को स्थापित करने की चेष्टा की जाती रही।[1]

नेताओं की स्वार्थ भावना

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धो में कटुता उत्पन्न करने के लिए कुछ नेताओं की स्वार्थ-भावना भी जिम्मेदार रही। वे इन भावनाओ को उभारने मे सफल हो गये जो ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण हिन्दुओ और मुसलमानों में कटुता तथा अविश्वास उत्पन्न करती थी। हिन्दू और मुसलमान सदियो तक एक ही स्थान पर, एक साथ रहने के कारण एक ही धरती और संस्कृति से भावनात्मक स्तर पर जुड़े हुए थे। ये उनकी जड़ें थी, जो उन्हे मानवीय अर्थ प्रदान करती थी। पाकिस्तान के निर्माण के पक्षधर यह भली-भाँति जानते थे कि पाकिस्तान के रास्ते मे सबसे बड़ी बाधा हिन्दुओ-मुसलमानों का साझा जातीय-सांस्कृतिक सस्कार है। इन संस्कारों को तोडने और मिटाने के लिये साम्प्रदायिक तनाव और दंगे पैदा किय गये। मोहम्मद अली जिन्ना का तर्क था कि मुसलमान एक अलग कौम है, उनकी संस्कृति हिन्दुओ की संस्कृति से अलग है। उन्हें अपनी आकांक्षाओं और आदर्शों के अनुरूप रहने, स्व-शासन के लिए एक अलग देश मिलना ही चाहिये। मुस्लिम लीग के अधिकतर हिमायतियों का यही मत था। विभाजन के बाद बहुत सारे कांग्रेसी नेताओं का भी यही मत रहा कि हिन्दुस्तान मे हिन्दुओ और मुसलमानों के सम्बन्ध इतने बिगड़ गये थे कि बँटवारे के सिवाय और कोई चारा ही न था। मौलाना आजाद जैसे बहुत कम लोग थे जो साम्प्रदायिक मतभेदों और कडुआहट के मोजूदा अध्याय

---

1. हिन्दू धार्मिक क्षेत्र में रामायण, महाभारत और गीता से प्रेरणा प्राप्त करते हैं तथा मुसलमान कुरान तथा हदीस से। इसलिए आपसी मेल की अपेक्षा इनमे विभाजन की प्रवृत्ति अधिक है। हिन्दू और मुसलमानो मे सामान्य भाषा, सामान्य जाति तथा एक देश की भावना आकस्मिक तथा ऊपरी है। राज-नीतिक तथा धार्मिक विरोध हिन्दू-मुसलमानो को एक दूसरे से मिलाने की अपेक्षा गहराई से पृथक् करते हैं।

—बी० आर० अम्बेदकर—भारत का विभाजन अथवा पाकिस्तान पृ० 59

भी बढने लगी और सम्पूर्ण हिन्दुस्तान के मुसलमान उर्दू भाषा को अपने अस्तित्व और अस्मिता का प्रश्न मानने लगे।[1] बड़ी सूक्ष्मता से, दो विभिन्न जातियों के भाई-चारे और एकात्म सम्बन्धों की जड़ों को विषाक्त किया जाने लगा और साम्प्रदायिकता के बीज बड़ी चतुराई से बोये गये। इस प्रयत्न में अंग्रेजों की कूटनीति के साथ तत्कालीन भारतीय राजनैतिक वातावरण भी उत्तरदायी था।

राजनैतिक परिस्थितियां—1857 ई० के स्वतन्त्रता संग्राम में यद्यपि हिन्दू-मुसलमान दोनों ने भाग लिया था, लेकिन अंग्रेजों का दृष्टिकोण मुसलमानों के प्रति अधिक कटु हो गया।[2] मुसलमानों को अपना शत्रु समझने के कारण अंग्रेजों की नीति मुसलमान विरोधी रही। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान का अधिकांश भाग मुसलमानों से छीना था, अतः मुसलमान भी अंग्रेजी राज्य से अप्रसन्न थे। परिणाम यह हुआ कि सरकारी नौकरियों तथा अन्य मामलों में मुसलमानों की उपेक्षा होने लगी। मुसलमान भी अंग्रेजी शिक्षा की ओर से उदासीन रहे, जबकि हिन्दुओं ने अंग्रेजी शिक्षा को अधिक शीघ्रता से ग्रहण किया।[3] इन कारणों से 1870 ई० तक मुसलमान हिन्दुओं की तुलना में अंग्रेजों से दूर रहे। किन्तु 1870 ई० के बाद सन्तुलन की नीति के कारण ब्रिटिश नीति में धीरे-धीरे परिवर्तन आया। सम्बन्धों के इस परिवर्तन में सर सैयद अहमद खां का काफी हाथ रहा। उनको इस बात का पक्का यकीन था कि ब्रिटिश सरकार के सहयोग से ही वे मुसलमानों को ऊपर उठा सकेंगे।[4] वह उन्हें अंग्रेजी तालीम के पक्ष में करने के लिये चिन्ताग्रस्त थे और उनके कट्टरपन को दूर करना चाहते थे। धीरे-धीरे बहुत मुश्किल और बहस-मुबाहसे के बाद सर सैयद अहमद खां ने मुसलमानों के दिमाग को अंग्रेजी शिक्षा की तरफ मोड़ा। वे मुसलमानों

1. सुरेन्द्र परिहार—रविवार : 19 अप्रैल 1981, पृ० 19.
2. सन् 1857 के बलवे में दोनों ही शामिल थे, लेकिन उसका दमन मुसलमानों को ज्यादा महसूस हुआ। यह सही भी था, क्योंकि दोनों के मुकाबले में उन्हें ज्यादा नुकसान उठाना पड़ा। इस विद्रोह से दिल्ली की सल्तनत के बने रहने के सपने खत्म हो गये। —हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० 467.
3. "उनके (मुसलमानों) पच्छिमी शिक्षा, उद्योग और व्यवसाय से अलग रहने की वजह से और सामंती ढर्रे से चिपके रहने की वजह से हिन्दू आगे निकल गये, क्योंकि उन्होंने इन सब चीजों से फायदा उठाया। ब्रिटिश नीति का झुकाव हिन्दुओं के पक्ष में था और मुसलमानों के खिलाफ था। वही : 467.
4. वही : पृ० 470.

की पिछड़ी दशा को सुधारने को प्रयत्नशील थे, किन्तु उनके विचार राष्ट्रीय थे। एक भाषण के दौरान उन्होंने अपने आपको हिन्दू ही माना क्योंकि वे भी हिन्दुस्ता में रहते थे।[1] 1875 ई० में सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों में अंग्रेजी शिक्षा प्रसार के लिए अलीगढ़ में ऐंग्लो ओरियेन्टल कालेज की स्थापना की, जो बाद अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हुई। यह महाविद्यालय और बाद में विश्वविद्यालय मुस्लिम शिक्षा, धर्म और संस्कृति के साथ-साथ मुस्लिम राजनीति का केन्द्र भी बन गया। केवल शिक्षा के उद्देश्य तक ही इस कालेज को सीमित रखा जाता तो ठीक था, लेकिन इसके अंग्रेज आचार्यों ने इसका उपयोग मुसलमानों में साम्प्रदायिक भावनाओं को उभरने और मजबूत बनाने में किया।[2] इस तरह भारतीय राजनीति के आकाश में मुस्लिम राजनीति का उदय हुआ।

मुस्लिम राजनीति—सन् 1885 ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस अंग्रेजो, हिन्दुओं, मुसलमानों की एक सम्मिलित संस्था थी, जो ब्रिटिश राज्य की समर्थक थी तथा कुछ सुधार चाहती थी। सर सैयद अहमद खाँ को आरम्भ में तो कांग्रेस से कोई विरोध नहीं था, लेकिन बाद में वे इसके विरोधी बन गये। यद्यपि सर सैयद अहमद खाँ की मृत्यु 1894 ई० में हो गयी, लेकिन उन्होंने साम्प्रदायिकता पर आधारित मुस्लिम राजनीति के जो बीज बो दिये थे, वे दिनोंदिन घने वृक्ष का रूप धारण करते गये।

मुस्लिम लीग की स्थापना—सर सैयद अहमद खाँ द्वारा स्थापित ऐंग्लो ओरियेन्टल कालेज ने पढ़े-लिखे मुसलमानों का एक वर्ग तैयार किया था। इसी वर्ग ने 1906 ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना की जिसका उद्देश्य था, धर्म पर आधारित

---

1. "......वह किसी भी लिहाज से हिन्दू-विरोधी नहीं थे और न वह साम्प्रदायिक अलहदगी चाहते थे। उन्होंने इस बात पर बार-बार जोर दिया कि धार्मिक मतभेदों का कोई भी कौमी या राजनैतिक महत्त्व नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा—"क्या तुम सब एक ही देश के रहने वाले नहीं हो ?" "याद रखो हिन्दू और मुसलमान शब्द तो धार्मिक छांट के लिए हैं, वरना सब लोग, हिन्दू, मुसलमान और यहाँ तक कि ईसाई भी, जो इस देश में रहते हैं, इस लिहाज से सिर्फ एक ही कौम के लोग हैं।"

—हिन्दुस्तान की कहानी : पृ० 471.

2. इण्डिया डिवाइडेड : डा० राजेन्द्र प्रसाद, पृ० 99.

3. वही : पृ० 99-109.

फिलीप्स सेलेक्ट डाक्यूमेन्टस, पृ० 185 से उद्धृत।

राजनीति करना, धर्म को राजनीतिक उद्देश्य के लिए प्रयोग करना।[1] तत्कालीन वातावरण में लीग ने मुसलमानो के लिए अलग प्रतिनिधित्व के अधिकार के मुद्दे को लेकर संघर्ष किया। इसके अनुसार विधान परिषदों में मुसलमानों को अपना प्रतिनिधि अलग से चुनकर भेजने की माँग थी, तथा उनके प्रतिनिधियों की संख्या उनकी जनसंख्या के अनुसार निर्धारित की जानी चाहिये थी। बिलगाव की इस भावना को अंग्रेजों का भी समर्थन प्राप्त था।[2] पृथक् निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था से मुसलमानों के चारो तरफ एक राजनैतिक दीवार खड़ी कर दी गई और उनको बाकी हिन्दुस्तान से अलग कर दिया गया। इस तरह आपस मे घुल-मिलकर एक हो जाने की वह प्रक्रिया, जो सदियो से चल रही थी और जो वैज्ञानिक प्रगति से स्वाभाविक तौर पर तेज हो रही थी, अब उलट दी गई। इस तरह कुछ हद तक मुस्लिम मध्यम वर्ग, यहाँ तक कि आम मुस्लिम लोग भी, तरक्की की उन धाराओं से अलग हो गये, जो बाकी हिन्दुस्तान पर असर डाल रही थी। हिन्दुस्तान में ऐसे बहुत से निहित स्वार्थ थे, जिनको ब्रिटिश सरकार ने पैदा किया था, या जिनकी उसने हिफाजत की थी। अब पृथक्-निर्वाचन क्षेत्रों का एक नया और जबरदस्त निहित स्वार्थ पैदा किया गया।[3]

इस तरह अंग्रेजों के सहयोग और समर्थन से मुस्लिम लीग एक राजनीतिक दल के रूप में प्रतिष्ठित होती गई। अलग-प्रतिनिधित्व की माँग तथा स्वराज्य एवं स्वदेशी की बातों के विरोध के कारण मुस्लिम लीग अंग्रेजों के अधिक निकट आई। बंगाल के विभाजन के प्रश्न को लेकर भी हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धो का तनाव बढा— मुसलमान विभाजन के पक्ष मे थे, जबकि हिन्दू विरोध मे। प्रबल विरोध के कारण ही सरकार को बंग-भंग का प्रस्ताव रद्द करना पडा। इससे मुसलमानो के मन मे अंग्रेजो के प्रति विरोध का जन्म हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे घटी एक घटना ने भी मुसलमानो को अंग्रेजो से दूर किया। टर्की पर इटली के आक्रमण तथा 1912-13 ई० में बालकन युद्ध के परिणामस्वरूप टर्की को योरप के अपने क्षेत्रों से हाथ धोना पडा और इस तरह मुसलमानो के धर्मगुरु खलीफा तथा ब्रिटेन के बीच विरोध का प्रारम्भ हुआ। इसके प्रभावस्वरूप भारतीय मुसलमान भी अंग्रेजों के विरोधी होते गये। राष्ट्रवादी मुसलमानो का ऐसा वर्ग मुस्लिम लीग पर हावी हुआ जो अंग्रेजों को शत्रु समझता था यद्यपि ये लोग भी अलग प्रतिनिधित्व के ही समर्थक थे। 1916 ई० मे हुए एक समझौते के अन्तर्गत कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने साथ मिलकर कार्य करने का निश्चय किया। खिलाफत के मुद्दे पर मुसलमानो की उग्र भावनाओं का समर्थन करते हुए कांग्रेस ने भी खिलाफत के प्रति ब्रिटिश नीति का विरोध किया। इस तरह

1. दि इण्डियन पोलिटिकल पार्टीज, बी० बी० मिश्रा, पृ० 67 और हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० 472.
2. हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० 484.
3. वही : पृ० 483.

निष्कर्ष : विभाजन के कारण : विभिन्न दृष्टिकोण—भारत विभाजन के मूल में जो भी आन्तरिक कारण रहे हों, बाह्य रूप से विभाजन एक राजनीतिक घटना थी, जिसके परिणामस्वरूप पाँच हजार वर्षों के ज्ञात इतिहास में यह भूभाग दो सर्वप्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों में बँट गया। भारत विभाजन के राजनीतिक कारणों में जिन्ना की महत्वाकांक्षा, कांग्रेस की भूलें तथा कांग्रेस के बड़े नेताओं की महत्वाकांक्षा एवं अंग्रेजों की कूटनीति को प्रमुख माना जाता रहा है। भारत में बहुत से लोगों का ऐसा विचार था कि जिन्ना भारतीय राजनीति में जितना महत्व चाहते थे, उतना उन्हें नहीं मिल रहा था, इसलिये अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये उन्होंने मुस्लिम लीग के प्लेट-फार्म से मुसलमानों के लिये अलग देश की मांग की।[1]

विभाजन के कारणों के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण कांग्रेसी नेताओं की अव्यावहारिकता और अदूरदर्शिता को जिम्मेदार ठहराने वाला है। इसके समर्थकों के अनुसार कुछ कांग्रेसी नेताओं की अदूरदर्शिता तथा सत्ता के प्रति व्यक्तिगत आकर्षण के कारण ही विभाजन हुआ। उन्होंने मुस्लिम लीग से समझौते के कई अवसर गंवा दिये थे। कांग्रेसी नेताओं ने एक के बाद एक ऐसी भूलें कीं जिनसे मुस्लिम लीग को अपनी स्थिति मजबूत करने का मौका मिल गया। मुस्लिम लीग ने मंत्रिमण्डलीय मिशन की योजना स्वीकार कर ली थी और हिन्दुस्तान की समस्या का सन्तोषजनक हल नजर आने लगा था, किन्तु नेहरू जी के एक वक्तव्य ने सारी स्थिति बदल दी और मि० जिन्ना को मौका मिल गया कि लीग ने योजना को पहले जो स्वीकृति दे दी थी, उससे वे इन्कार कर सकें।[2] कांग्रेस की एक और गलती यह थी कि उन्होंने लार्ड वेवल का सुझाव नहीं माना और संयुक्त मंत्रिमण्डल में गृह-विभाग के

---

1. जिन्ना के कैरियर में दोराहा तब फूटा, जब 1937 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी ने उन राज्यों में जिन्ना अथवा उनकी मुस्लिम लीग का सहयोग लेने से इन्कार कर दिया, जहाँ मुसलमान निश्चित रूप से अल्पसंख्यक थे। बेहद स्वाभिमानी जिन्ना को कांग्रेस का यह काम, व्यक्तिगत आक्षेप जैसा लगा। उन्हें उसी दिन से हमेशा के लिये यकीन हो गया कि कांग्रेस संचालित भारत में उनके साथ, अथवा उनकी मुस्लिम लीग के साथ, कभी न्याय नहीं किया जायेगा। हिन्दू-मुसलमान एकता का वह हिमायती, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में बदल गया, जिसकी पथरीली जिद अपना अलग पाकिस्तान लेकर रही—वही पाकिस्तान जिसे उसी व्यक्ति ने 'असम्भव सपना' कहकर कभी रद्द कर दिया था।
—आधी रात को आजादी—लैरी कॉलिन्स और डामिनिक लेपियरे पृ० 89–90.

2 आजादी की कहानी पृ० 207

बदले वित्त-विभाग मुस्लिम लीग को सौंपा गया। फलतः वित्त को लेकर मुस्लिम लीग ने कदम-कदम पर कठिनाइयाँ पैदा की।[1] बाद मे कांग्रेस ने तंग आकर विभाजन के प्रस्ताव को स्वीकार किया और एक के बाद एक गलत फैसले किये। अपने कदम वापस लौटाने के बजाय वे दलदल मे और भी गहरे धँसते चले गये।[2] इस प्रकार विभाजन के लिये शायद कांग्रेस भी उतनी ही जिम्मेदार थी, जितनी मुस्लिम लीग।[3]

यही दृष्टिकोण कुछ तथाकथित हिन्दू सम्प्रदायवादियो का था, जिनके अनुसार कांग्रेस ने मुसलमानो को प्रसन्न करने के लिये मुस्लिम लीग की हर सही गलत बात का समर्थन किया, जिसका दुष्परिणाम विभाजन से रूप मे झेलना पड़ा।[4]

जिन्ना को आवश्यकता से अधिक महत्व देने के विषय मे मौलाना अबुल कलाम आजाद के भी बहुत कुछ ऐसे ही विचार थे, जिसकी वजह से मि० जिन्ना को हिन्दुस्तानी राजनीति में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर मुसलमानों के लिये पृथक् राष्ट्र की सौदेबाजी का अवसर मिला।[5]

विभाजन के कारणो के विषय में तीसरा दृष्टिकोण यह भी है कि कांग्रेसी नेताओं ने अनिच्छापूर्वक विवशता की स्थिति में इसे स्वीकार किया था। यह इतिहास का एक सत्य है कि हिन्दुस्तान में जो आदमी सबसे पहले लार्ड माउंटबेटन के इस विचार का शिकार हुआ, वह सरदार पटेल थे। शायद आखिरी मौके तक जिन्ना के लिए पाकिस्तान सौदेबाजी का एक साधन था, लेकिन पाकिस्तान के लिए लड़ने मे वे अपनी हद से कुछ बाहर चले गये थे। कार्य-परिषद् में जो स्थिति पैदा हो गई थी, उससे सरदार पटेल इतने तंग आ गये थे और चिढ़ गये थे कि वे भी बंटवारे मे विश्वास करने लगे। वित्त-विभाग लीग को सौंप देने का दायित्व सरदार पर ही थी। इसीलिए लियाकत अली के सामने अपनी असहायावस्था पर सबसे अधिक रोष उन्हें ही आता था। जब लार्ड माउंटबेटन ने यह सुझाया कि इस कठिनाई का हल बंटवारे से हो सकता है तो उन्होंने पाया कि सरदार पटेल के मन ने इस विचार को तुरन्त स्वीकार कर लिया है। सरदार पटेल के मन मे यह बात पक्की हो गई थी कि वे मुस्लिम लीग के साथ काम नही कर सकते। उन्होंने खुले आम कहा कि मै इसके

1. आजादी की कहानी : पृ० 204.
2. वही : पृ० 207.
3. वही : पृ० 207-208.
4. भारत गाँधी नेहरू की छाया में : पृ० 329-30.
5. आजादी की कहानी : पृ० 103-104.

लिए तैयार हैं कि लीग हिन्दुस्तान का एक हिस्सा ले ले पर हमें उससे मुक्ति तो मिले ।[1]

सरदार पटेल से अपनी बात मनवा लेने के बाद लार्ड माउंटबेटन ने अपना ध्यान जवाहरलाल पर केन्द्रित किया । ये भी तो सम्प्रदायवाद से बिल्कुल राजी न थे और बंटवारे के विचार पर ही उनकी [illegible] किन्तु लार्ड माउंट-बेटन बराबर अपनी बात कहते रहे और धीरे-धीरे जवाहरलाल के विरोध की दीवार टूटती गयी । लार्ड माउन्टबेटन के हिन्दुस्तान में आने के एक महीने के भीतर ही जवाहरलाल, जो कभी बंटवारे के पक्के विरोधी थे, अगर उसके समर्थक नहीं बन गये थे तो कम-से-कम उसमें उनकी मौन सहमति अवश्य हो गई थी । गांधी जी का निश्चय था कि 'अगर कांग्रेस बंटवारे को स्वीकार करना चाहती है तो उसे मेरी लाश पर से गुजरना होगा ।' किन्तु लार्ड माउन्टबेटन और सरदार पटेल के समझाने पर उन्हें भी विभाजन के प्रस्ताव का स्वीकार करना पड़ा । इस प्रकार कांग्रेसी नेताओं ने विवशता की स्थिति में ही विभाजन का स्वीकार किया था, ऐसा दृष्टिकोण एक बहुत बड़े वर्ग का है ।[2] देश की जनता ने कभी बंटवारे का स्वीकार न किया ।[3]

---

1. 'अगर दो भाई साथ नहीं रह सकते तो न्यारे हो जाते हैं । अपना-अपना हिस्सा लेकर अलग हो जाने पर वे दोस्त बन जाते हैं । दूसरी ओर अगर उन्हें जबर्दस्ती साझे में रखा जाये तो रोज लड़ने-झगड़ने हैं । रोज की चख-चख से अच्छा यह है कि एक बार अच्छी तरह लड़ लो और अलग हो जाओ ।'—बंटवारे के पक्ष में सरदार पटेल की युक्ति, आजादी की कहानी : पृ० 2[illegible]6.
2. "...कांग्रेसी नेताओं ने सहज-सरल भाव से बंटवारे को स्वीकार नहीं किया है । कुछ ने क्रोध और रोष के वश और अन्यों ने तंग आकर उसे स्वीकार कर लिया था । जब आदमी डर या रोष से अभिभूत हो जाता है तो वह किसी भी चीज को वस्तुपरक दृष्टि से नहीं परख पाता । फिर भाव के आवेश में काम करने वाले ये बंटवारे के हिमायती कैसे समझ पाते कि वे जो कुछ कर रहे हैं, उसके क्या-क्या नतीजे निकल सकते हैं ?"
   —आजादी की कहानी : पृ० 229-230.
3. बंटवारे के एकदम पहले और तुरन्त बाद जब हमने देश की ओर दृष्टि दौड़ाई तो पाया कि यह स्वीकृति बस कांग्रेस—महासमिति के एक प्रस्ताव में और मुस्लिम लीग के अभिलेखों में ही निहित है । हिन्दुस्तान के लोगों ने बंटवारे का स्वीकार न किया था । सच पूछिये तो उनके मन-प्राण इस विचार के प्रति विद्रोह करते थे ।
   वही पृ० 229

'14 अगस्त पाकिस्तान के मुसलमानों के लिए खुशियों का दिन था; हिन्दू और सिखों के लिए शोक-दिवस। यह अधिकतर जनता की ही भावना न थी, बड़े कांग्रेसी नेताओं की भी भावना यही थी।

आचार्य कृपलानी उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे। वे सिन्धी हैं। 14 अगस्त, 1947 को उन्होंने एक वक्तव्य जारी किया कि आज का दिन हिन्दुस्तान के लिए दुःख और बरबादी का दिन है। सारे पाकिस्तान में हिन्दुओं और सिखों ने खुले आम यही भावना प्रकट की। सचमुच अजीब स्थिति थी। हमारी राष्ट्रीय संस्था ने बंटवारे के पक्ष में फैसला कर लिया था मगर सारी जनता उस फैसले को लेकर दुःखी थी।[1] इस प्रकार विभाजन के कारणों के सम्बन्ध में यह प्रचलित मत है कि कांग्रेस ने विवशता की स्थिति में एक गलत फैसला किया, जिसे टाला जा सकता तो हमारा भविष्य अधिक सुरक्षापूर्ण और शानदार होता।

एक वर्ग ऐसे भारतीयों का भी था, जो राजनीतिक दृष्टिकोण से पाकिस्तान की स्थापना को उचित मानता था। उनके अनुसार मुसलमानों के लिए अलग राष्ट्र का होना भारत के लिए हितकर ही था।[2]

आर्थिक कारण—भारत विभाजन की घटना के लिए आर्थिक कारणों को भी उत्तरदायी ठहराया गया है। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच आर्थिक असमानता का विभाजन के लिए जिम्मेदार कारणों में प्रमुख स्थान था। कुछ लोगों ने इसमें मार्क्स के ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद का कार्यान्वयन देखा। एक पाकिस्तानी लेखक मुमताज हसन के अनुसार विभाजन तक हिन्दुओं और मुसलमानों की तुलनात्मक स्थिति यह रही कि हिन्दू 'सम्पन्न' और मुस्लिम 'विपन्न' बने रहे। दोनों जातियों के बीच आर्थिक असमानता, पाकिस्तानी क्षेत्र में करीब-करीब पूर्ण रूप से उद्योगों की अनुपस्थिति और हिन्दू आर्थिक एकाधिकार के समक्ष मुसलमानों के आर्थिक विकास की नगण्य सम्भावनाएं, विभाजन की मांग को बढ़ावा देने वाले प्रमुख कारण थे।'[3]

1. आजादी की कहानी : पृ० 220.
2. वही : पृ० 209.
3. "The relative position of Hindus and Muslims, however continued to be that of 'haves' and 'havenots' down to be partition. The economic disparity between to two peoples, the almost—Complete absence of industries in the Pakistan areas and the lack of any prospects of economic well-being among the Muslims in the face of the Hindu monopoly of the economy were major contributory factors in the demand for partition."
—The Background of the Partition of the Indo-Pakistan Sub-Continent—by Mumtaz Hasan. Page—325. — The Partition of India, policies and Perspectives 1935—1947, Edited by C. H. Philips & Mary Doreen Wainwright George Allen and Uniwin Ltd, London, First P. 1970.

विभाजन के सम्भावित कारणों पर दृष्टिपात करने के बाद यह स्प
है कि विभाजन किसी एक कारण की उपज नहीं था, न ही वह किसी र
नीतिक दल अथवा व्यक्ति की महत्वाकांक्षा का परिणाम था। सम्मिलित
परस्पर विरोधी विचार, परिस्थितियाँ और काफी हद तक संयोग विभा
सम्भावना में कड़ी बनकर जुड़ती गयी और एक असम्भव प्रतीत होने
कल्पना ऐतिहासिक सत्य में परिवर्तित हो गयी। अखण्ड भारत का विभा
तथा अपने अन्दर समन्वय की अद्भुत क्षमता रखने वाली भारतीय मानसिकता
जित हो गयी।

भारत विभाजन : परिवेश और लेखकीय चेतना

प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवेश के साथ जीता है। उसी में उसका निर्माण और विकास होता है। लेखक सामान्य मनुष्य से अलग नही है। उसके ऊपर भी वे सब प्रभाव एक साथ पड़ते हैं। अन्तर यही है कि जहाँ सामान्य आदमी अपनी चेतना और चिन्तन को अभिव्यक्त नही कर सकता, वहाँ लेखक उसे वाणी देता है। उसकी अनुभूतियाँ उसके भीतर आत्मसात होकर अनुगूँजे बन जाती है। अनुभूतियां एक दिन या एक वर्ष में नहीं उभरती। काल की कोई अवधि उनकी सीमा नही है। कभी कोई ऐसा क्षण आता है जो सामान्य होते हुए भी चेतना की पकड़ में आ जाता है और वही सृजन क्षण बन जाता है। निस्सन्देह इस क्षण की उत्पत्ति लेखक की अपनी सवेदना, मानसिकता और इन पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभाव डालने वाले परिवेश से हुई है।

लेखक के परिवेश और उसकी रचना मे वही सम्बन्ध है, जो वस्तु और चेतना मे है। लेखक अनिवार्य रूप से अपने परिवेश से प्रभावित होता है। अपनी रचना के लिये विषय-वस्तु और भाषा ही नही, रूप भी वह अपने परिवेश से ही प्राप्त करता है। किन्तु जिस तरह वस्तु और चेतना का सम्बन्ध एक सरल सम्बन्ध न होकर अत्यन्त जटिल सम्बन्ध होता है, उमी प्रकार लेखक के परिवेश और रचना का सम्बन्ध भी सरल न होकर अत्यन्त जटिल होता है। वास्तविकता यह है कि रचना लेखक के परिवेश से अनेक सरल और जटिल स्तरों पर सम्बद्ध होती है और अनेक सरल और जटिल रूपो में उसे प्रतिफलित करती है। ईमानदारी और अनुभूति का असंदिग्ध रूप से रचना में महत्व है, लेकिन रचना को प्रामाणिक बनाने वाली चीज, ईमानदारी और अनुभूति नही, बल्कि लेखक के परिवेश के साथ उसकी सम्बद्धता है। यह सम्बद्धता रहस्य-मण्डित हो सकती है, पर किसी भी तरह यह अनुपस्थित नही होती। लेखक का व्यक्ति अपने परिवेश से नितान्त पृथक् कभी नही होता।

मानव समाज का रहन-सहन, आचार-विचार, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियाँ उसके मनोभावों को आन्दोलित करती हैं। किन्ही विशेष क्षणो मे मनोभावो की तरंगें सभी कगारों को तोड़कर स्वच्छन्द रूप मे प्रवाहित होती हुई साहित्य का रूप धारण करती हैं। "जब कोई लहर देश मे उठती है तो साहित्यकार के लिये उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओ के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह

रो उठता है; पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक होता है।"[1]

इस स्थल पर कथाकार एक कवि और चित्रकार से समानता रखते हुए भी कई अर्थों में उनसे भिन्न होता है। चित्रकार और कवि एक वायवीय, काल्पनिक जगत् में जी सकते हैं : केवल बाह्य जगत् की स्थूल घटनाएं ही उनकी प्रेरणास्रोत हों, यह आवश्यक नहीं। जबकि उपन्यासकार और कहानीकार के पैर धरती पर होते हैं—उनका युग चेतना और सामयिक परिस्थितियों से तटस्थ रहना असंभव है। किन्तु यथार्थ को वास्तविक रूप में देखने और भोगते हुए भी लेखक अभिव्यक्ति अपनी संवेदना के अनुरूप ही करता है। समाज में रहते हुए उसका कार्य अखबार के संवाददाता की भांति तथ्य-परक समाचार प्रस्तुत कर देना मात्र नहीं है, अपितु तथ्यों को देख, समझ और भोग कर वह उनकी गहराई तक पहुँचता है तथा उनके विश्लेषण द्वारा जो तथ्य प्रस्तुत करता है, वह वास्तविक तथ्य से नितान्त भिन्न, पर लेखक द्वारा सृजित कृति के माध्यम से व्यक्त "सत्य होता है और किसी भी कृति का मूल्यांकन करने के लिये कृति के सत्य से गुजरना ही आवश्यक नहीं, अपितु अनिवार्य है।"[2] समाज की जो अनुभूति लेखक को होती है, वह रचना प्रक्रिया में आने पर कुछ और बदल जाती है। कृति के रूप में उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व हो जाता है।[3]

श्रेष्ठ साहित्य साहित्यकार की सच्ची अनुभूति की उपज है। जिस सत्य के साथ लेखक ने स्वयं पूरी तीव्रता के साथ साक्षात्कार नहीं किया, उसे लेकर मार्मिक और सार्थक साहित्य की रचना उसके लिये सम्भव नहीं है।[4]

युगद्रष्टा कलाकार की कृतियों में संवेदनशील रचनाकार का रूप उजागर होता है—वह रूप जो पीड़ित मानवता की करुणा से द्रवित होकर आँसू बहाता है और उसकी प्रसन्नता में मिलकर आनन्द के गीत गाता है। ऐसे कलाकार की दृष्टि सार्वभौमिक होती है, उसके चिन्तन का फलक विस्तृत होता है, इसी कारण घटना

---

1. प्रेमचन्द, हंस, अप्रैल 1932, पृ० 10.
2. डॉ० इन्द्रनाथ मदान : आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० 39.
3. लेखक के परिवेश और रचना का सम्बन्ध चूंकि अत्यन्त जटिल होता है, इसलिए रचना लेखक के परिवेश की प्रतिकृति नहीं होती। वह स्वयं एक कृति होती है। लेखक वस्तुतः अपने परिवेश का चित्रण-मात्र नहीं करता, बल्कि उसका पुनर्निर्माण करता है।

   —लेखक का परिवेश और रचना का संसार : नन्दकिशोर नवल
4. —बदलते परिप्रेक्ष्य : सामयिकता की समस्या : नेमिचन्द्र जैन, पृ० 65.

विशेष के लिये वह किसी को दोषी नही ठहराता—अच्छा या बुरा नहीं कहता, न ही प्रत्यक्ष रूप में किन्हीं मूल्यों का निर्धारण करता है। बल्कि मानव मात्र का चित्रण वह उसकी सबलताओं और दुर्बलताओं, अच्छाइयो और बुराइयों के साथ तटस्थ भाव से करता है। किसी-न-किसी सूत्र के सहारे वह मानव-जीवन की विविधता, अनेकरूपता और उसकी अखण्डता तथा प्रवहमानता को उद्भासित करता है। लेखक की परिवेशगत चेतना के इस पहलू को हम उसकी चेतना का मानवीय पहलू कह सकते हैं।

लेखकीय चेतना का दूसरा रूप उसके सामाजिक दायित्व के निर्वाह मे प्रकट होता है। निस्सन्देह लेखक पर भी अन्य व्यक्तियो की भाँति एक नागरिक और सामाजिक दायित्व है, जिससे प्रेरित होकर वह रचनाएं करता है। इतना अवश्य है कि एक विशेष दायित्व बोध की सीमा मे बँधे लेखक का दृष्टिकोण, उसका चिन्तन कुछ सकुचित हो सकता है, उसकी तटस्थता कम हो सकती है; बावजूद इसके वह एक अच्छी कृति दे सकता है। सामाजिक दायित्व का निर्वाह करते हुए भी संवेदनशील कथाकार अपनी कृति द्वारा जीवन के शाश्वत मूल्यों की स्थापना मे सक्षम हो सकता है। किन्तु लेखक के सामाजिक दायित्व का सही रूप क्या हो, इसका निश्चय करना कठिन है।

भारत विभाजन की घटना में लेखकीय चेतना को जाग्रत और प्रेरित करने वाले दोनों तत्व मौजूद हैं। विभाजन पूर्व, विभाजन के दौरान तथा विभाजन के पश्चात् व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के स्तर पर ऐसा बहुत कुछ घटित हुआ है, जिसमे लेखक की मानवीय चेतना को झकझोरने अथवा उसके सामाजिक दायित्व-बोध को जागृत करने की शक्ति अन्तर्निहित है।

विभाजन से उत्पन्न समस्यायें—विभाजनकालीन सम्पूर्ण सन्दर्भ की संवेदना को लेखकीय चेतना ने विभिन्न ससस्याओं के रूप मे देखा, जिसे विश्लेषण की सुविधा के लिये निम्न आयामों मे रखा जा सकता है—

1. मानवीय सन्दर्भ
2. परिवेशगत सन्दर्भ
3. मूल्यगत सन्दर्भ

मानवीय सन्दर्भ—अन्य पहलू विवाद के विषय हो सकते है, किन्तु भारत-विभाजन ने जिन मानवीय समस्याओं को जन्म दिया, वे विवाद से परे हैं। ये मानवीय समस्यायें अनेक रूपों मे सामने आयीं। सदियो से एक साथ, एक भूमि पर रहते आये हिन्दू-मुसलमानों के बीच धीरे-धीरे पनपता घोर अविश्वास, विभाजन के

पहले और बाद मे हुए भीषण साम्प्रदायिक दंगे[1], निरपराध मनुष्यों का रक्तपात, आगजनी, स्त्रियों पर बलात्कार की अमानवीय घटनाएँ[2], चिर परिचित भूमि को छोड़कर बिल्कुल अनजानी जगह आश्रय की तलाश में जाते लोगों पर हुए अमानुषिक अत्याचार[3], अपनी भूमि से उजड़ने और उखड़ने की वेदना, विस्थापित के रूप में नये देश मे बसने की समस्या, परिवार से बिछुड़ी स्त्रियों के पुनः अपने परिवार में स्थान पाने की समस्या—आदि।

विभाजन काल की ये घटनायें मानवीय सन्दर्भ प्रस्तुत करने वाली स्थितियाँ हैं। इनमे पीड़ा है, त्रास है, घृणा है और है बदले की भावना। किन्तु इनके साथ ही मानवीय करुणा तथा सौहार्द को प्रकट करने वाली घटनाएँ भी अनेक है। उन काले दिनों मे मानवता की ज्योति को जलाये रखने वाले ऐसे संवेदनशील लोगों की कमी

---

1. सिरिल रेडक्लिफ की विभाजन-रेखा ने पचास लाख हिन्दुओं और सिखों को पाकिस्तानी पंजाब में छोड़ दिया था। भारतीय पंजाब में पचास लाख मुसलमान छूट गये थे। ये तीनों कौमें एक दूसरे पर टूट पड़ी। ...... जनता ने इस हद तक आपसी नफरत, क्रूरता और राक्षसपने का परिचय दिया कि सभी नेता हक्के-बक्के रह गए......उस छोटी-सी अवधि में न्यूनतम विवेक और अधिकतम उन्माद के साथ भारत और पाकिस्तान ने शैतान पूजा की। —(फ्रीडम एट मिडनाइट का अनुवाद): लैरी कालिन्स और डोमिनिक ला पियरे: अनु० मनहर चौहान, सं० 76, पृ० 224)
—आजादी की कहानी, पृ० 233.
2. आधी रात को आजादी, पृ० 209-210.
3. भारत की आजादी भयानक कीमत चुका कर प्राप्त की गई। विभाजन ने एक करोड़ लोगों को जड़मूल से उखाड़ दिया। उन्होंने पंजाब की सड़कों और रेल मार्गों से, या सूने पड़े खेतों के बीच से, मानव-इतिहास की सबसे बड़ी देशान्तर-यात्रा की। हिन्दू और सिख पाकिस्तान से भारत आए; मुसलमान भारत से पाकिस्तान गये। वह डरावनी देशान्तर-यात्रा 1947 की शरद् ऋतु मे सम्पन्न हुई, जिसमें यातायात का हर सम्भव साधन इस्तेमाल किया गया। आक्रमणकारी टुकड़ियों, भूख, प्यास, गर्मी, थकान और आशंका ने हजारों-हजार लोगों को बीच राह मे ही खत्म कर दिया। जो खत्म न हुए, वे उन वीभत्स शरणार्थी शिविरों में पहुँचे, जहाँ कॉलरा जैसी बीमारियाँ उन्ही का इन्तजार कर रही थी। ऐसे अभागे लोगों ने आजादी को साक्षात् नर्क के अनुभव के रूप में याद रखा।
—आधी रात को आजादी

नही है जिन्होंने राजनीतिक क्रूरता और निर्ममता, साम्प्रदायिक घृणा और हिंसा से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र की रक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग कर दिये ।[1]

शरणार्थी समस्या का भावात्मक अथवा मानवीय सन्दर्भ—अपनी मिट्टी से विस्थापितो के उजड़ जाने का एक पक्ष तो भौतिक था। उनकी जमीन-जायदाद सब छूट गये और एक नये, अनजान जगह पर जाकर उन्हे जीवन-यापन के कठिन सघर्ष से जूझना पड़ा। किन्तु इसका एक भावात्मक पहलू भी है। बहुतो के लिये वे गलियां, जिनमें उनका बचपन बीता होगा, वे हवायें जिनमे उन्होने अब तक सांस ली होगी, पराई हो गयी। उनके प्रति उनका भावनात्मक लगाव बना ही रहा, भले ही शारीरिक रूप से वे दूसरे देश मे जाकर बसने को मजबूर हुए। कम-से-कम उस पीढी के लिये, जिसने विभाजन को भोगा, यह स्थिति काफी त्रासदायक रही। इस पीड़ा को वे आजीवन भोगते रहे। कुछ दिन पूर्व उर्दू के प्रसिद्ध शायर जोश मलीहाबादी ने रेडियो पाकिस्तान को एक इन्टरव्यू दिया, जिसके कारण उन्हे पाकिस्तान मे काफी कठिनाइया झेलनी पड़ी। इस इन्टरव्यू मे जोश साहब ने अपनी मिट्टी से उखड़ जाने की पीड़ा की अभिव्यक्ति की "हम तरस गये उन गलियों को जहाँ कि हम खेलते थे, जहाँ हमारे बुजुर्गों की हड्डियाँ है। हम अपने बुजुर्गों के

1. "पर बावजूद इतने खून-खराबे के, मानव विरोधी कारनामों के, उन काले दिनो मे भी, दोनों पक्षो में ऐसे लोग थे जो धरती से जुड़े हुए थे, सस्कृति से बँधे हुए थे—जो जानते थे कि शारीरिक रूप में सीमाएँ निर्धारित हो जाने से दिल नही बँट पाते। बँटवारे की विभीषिका को, उससे उत्पन्न होने वाली सम्बन्धो की गुत्थियों को तथा मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों को, सास्कृतिक आधार पर मानवीय दृष्टि से देखने वाले ये ही संवेदनशील व्यक्ति थे, जिन्होने सस्कृति को पूरी तरह मिटने से बचाने का प्रयत्न किया। सवाल यह नही है कि यह प्रयत्न छोटा था या बड़ा, महत्व इस बात का है कि यह एक मानवीय प्रयत्न था—राजनीतिक क्रूरता और निर्ममता, साम्प्रदायिकता घृणा, पाखण्ड और हिंसा तथा सांस्कृतिक पृथक्ता के सिद्धान्त को झुठलाने वाला।
—सिक्का बदल गया : नरेन्द्र मोहन, पृ० 18.

तथा

लाहौर मे मुसलमान हिन्दुओं और सिखो के घर मे आग लगा रहे थे और लाहौर मे मुसलमान हिन्दू-सिख औरतो को बचा-बचा कर कैम्पो में लिए जा रहे थे। हिन्दुस्तान में सिख-हिन्दू, मुसलमानों का कत्ले आम कर रहे थे और हिन्दुस्तान मे हिन्दू-सिख, मुसलमानों को अपने संरक्षण में गलियों, बाजारो और मकानो से निकाल रहे थे। दोनो तरफ आग थी। दोनों तरफ फूल थे।"
—पत्तर अनारां दे - ए हमीद - सं० सिक्का बदल गया, पृ० 76

बनाये घरों को देखने को तरसते हैं। अगर हम याद में आह भरते हैं तो जुर्म समझा जाता है, गद्दार करार दिये जाते हैं। ये तमाम तबाहियाँ पाकिस्तान बनने से ही तो हुई हैं।" उन्होंने भारत विभाजन की तबाही का जिम्मेदार जिन्ना साहब को ठहराते हुए कहा, "उन्होंने देश का नहीं बाँटा, बल्कि आदमी आदमी को ही बाँट डाला। आशिक यहाँ है, माशूक हिन्दुस्तान में। बेटा वहाँ है, बीवी यहीं है। भाई वहाँ है, तो कुफोजाद यहाँ—एक मुसीबत मे ही जान है। कोई मर जाता है तो हम बाखबर नही होते, हम उसकी आखिरी दीदार भी नही कर सकते। इस बदनामी ने सियासत को तबाह कर दिया।"[1]

इस स्थिति की तुलना द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न मानवीय त्रासदी से की जा सकती है। युद्ध का एक राजनीतिक पहलू था। किन्तु सच्चा लेखक राजनीति से नही, मानव की पीडा से जुड़ा होता है। युद्ध में मृत और युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवमात्र उसकी सहानुभूति का पात्र है, किसी विशेष धर्म या जाति का मानव नहीं। वह युद्ध के कारण संकटग्रस्त मनुष्य को देख उद्वेलित हो उठता है। जर्मन बन्दी शिविरो में हुए निर्मम अत्याचार अथवा यहूदियों की सामूहिक हत्या पर लिखने के लिए रचनाकार का किसी राष्ट्रविशेष की सीमा में बँधा होना आवश्यक नही। सच तो यह है कि द्वितीय विश्वयुद्ध का शिकार कोई एक विशेष देश, जाति या कौम नहीं हुई, इसका शिकार 'मनुष्य' हुआ। इसी कारण द्वितीय विश्वयुद्ध की घटनाओं, उसके भयंकर परिणामों पर उन भाषाओं में भी पुस्तकें लिखी गयीं, जिसके बोलने वाले प्रत्यक्ष रूप से युद्ध मे शामिल नही थे।

भारत विभाजन प्रत्यक्षतः कोई युद्ध नही था, किन्तु वह युद्ध की विभीषिका से भी अधिक दारुण था। उसमे मानवीय करुणा और पीड़ा के अनछिए, अनचीन्हे सन्दर्भ और संवेदनाएँ थीं। विभाजन ने जिन मानवीय समस्याओ को जन्म दिया, उनके दो रूप हैं—साम्प्रदायिक घृणा, विद्वेष, हिंसा, पीड़ा और अत्याचार के चित्र, तथा घृणा और द्वेष के इस मरुस्थल में प्रेम, सौहार्द, त्याग, विश्वास और मानवता मे आस्था जागृत करने वाली घटनाओ एवं कोमल मानवीय भावों का चित्रण अपनी जमीन से उखड़े लोगों की अन्तर्वेदना तथा अपनी भूमि से उनके गहरे लगाव का चित्रण।

परिवेशगत सन्दर्भ—लेखक ने सृजनात्मक संभावनाओं से युक्त विभाजनकाल को मानवीय सन्दर्भ के साथ ही अपने परिवेश के सन्दर्भ मे भी चित्रित किया। लेखकों ने साधारणतया अपने परिवेश को निम्न आयामो मे सृजनात्मक धरातल प्रदान किया है—

1 'भारत विभाजन अभिशाप था' जोश मलीहाबादी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 4 मार्च 1979 पृ० 13

1. राजनीतिक
2. सामाजिक
3. धार्मिक और सांस्कृतिक
4. शरणार्थी समस्या का भौतिक पक्ष

1. राजनीतिक सन्दर्भ

भारत विभाजन के मूल में आन्तरिक कारण तो थे, किन्तु बाह्य रूप से विभाजन एक राजनीतिक घटना थी, जिसके फलस्वरूप देश का विभाजन हुआ। विभाजन के राजनीतिक कारणों के प्रति लेखक का दृष्टिकोण उसके सामाजिक परिवेश एवं उसकी अपनी राजनीतिक विचारधारा पर आधारित है। विभाजन के राजनीतिक कारणों में जिन्ना की महत्वाकांक्षा, कांग्रेस की भूलें, कांग्रेस के बड़े नेताओं की महत्वाकाक्षा, अंग्रेजों की कूटनीति आदि जिन कारणों को प्रमुख माना जाता रहा है, उनमें से लेखक किस दृष्टिकोण को अपनायेगा, यह उसके राजनीतिक विचारो तथा सामाजिक दायित्वबोध पर निर्भर करता है।

विभाजन के कारणों की राजनीतिक सभावनाओं के पक्ष के साथ विभाजन के प्रभावों के राजनीतिक सन्दर्भ भी हैं। विभाजन ने यदि एक राजनीतिक झगड़े को समाप्त किया तो कई अन्य राजनीतिक समस्याओं को जन्म भी दे दिया। विभाजन के बाद जो सबसे बड़ी राजनीतिक समस्या सामने आयी, वह थी रातोरात मुस्लिम लीगियों का कांग्रेस मे प्रवेश कर जाना, जिसने बाद मे कांग्रेस के चरित्र तथा देश की राजनीति को निश्चित रूप से प्रभावित किया। दो सौ वर्षों की दासता के एक लम्बे इतिहास के बाद भारतवासियों को स्वाधीनता मिली, किन्तु दुर्भाग्य से देश का विभाजन भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही हुआ। देश आजाद तो हुआ, किन्तु टुकड़ों में बँटकर। विभाजन के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगों, नर-सहार तथा मानवता पर बलात्कार के कारण देश में दुःख, निराशा, विद्वेष, घृणा तथा अनिश्चय का अवसादपूर्ण वातावरण छा गया। संभवतः स्वतन्त्रता जैसी अमूल्य वस्तु प्राप्त करने के लिये देश को मूल्य चुकाना था और विभाजन के रूप मे उसने चुकाया भी। विभाजन के पश्चात् 1948 मे भारत को पाकिस्तान से युद्ध करना पड़ा। महात्मा गाधी की हत्या के पीछे भी बहुत हद तक विभाजन ही कारण था। वस्तुतः विभाजन ने भारतीय राजनीति का स्वरूप बदल दिया। विभाजन के राजनीतिक प्रभाव के कारण ही स्वतन्त्र्योत्तर भारत मे जनसंघ जैसे हिन्दू राष्ट्रवाद का पोषक दल सामने आया और कुछ राज्यो मे उसकी स्थिति सुदृढ़ भी रही।

भारतीय राजनीति मे आर्थिक सामाजिक आधार पर दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ थी—वामपंथी और दक्षिणपंथी। लेकिन भारत विभाजन की घटना ने हिन्दू

उजाड़े घरों को देखने को तरसते हैं। अगर हम याद में आह भरते हैं तो जुर्म समझा जाता है, गद्दार करार दिये जाते हैं। ये तमाम तबाहियाँ पाकिस्तान बनने से ही तो हुई हैं।" उन्होंने भारत विभाजन की तबाही का जिम्मेदार जिन्ना साहब को ठहराते हुए कहा, "उन्होंने देश को नहीं बाँटा, बल्कि आदमी आदमी को ही बाँट डाला। आशिक यहाँ है, माशूक हिन्दुस्तान में। बेटा यहाँ है, बीवी वहाँ है। भाई यहाँ है, तो फूफीजाद वहाँ—एक मुसीबत में हो जान है। कोई मर जाता है तो हम बाखबर नहीं होते, हम उसकी आखिरी दीदार भी नहीं कर सकते। इस कमीनगी ने सियासत को तबाह कर दिया।"[1]

इस स्थिति की तुलना द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न मानवीय त्रासदी से की जा सकती है। युद्ध का एक राजनीतिक पहलू था। किन्तु सच्चा लेखक राजनीति से नहीं, मानव की पीड़ा से जुड़ा होता है। युद्ध में मृत और युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवमात्र उसकी सहानुभूति का पात्र है, किसी विशेष वर्ग या जाति का मानव नहीं। वह युद्ध के कारण संकटग्रस्त मनुष्य को देख उद्वेलित हो उठता है। जर्मन बन्दी शिविरों में हुए निर्मम अत्याचार अथवा यहूदियों की सामूहिक हत्या पर लिखने के लिए रचनाकार का किसी राष्ट्रविशेष की सीमा में बँधा होना आवश्यक नहीं। सच तो यह है कि द्वितीय विश्वयुद्ध का शिकार कोई एक विशेष देश, जाति या कौम नहीं हुई, इसका शिकार 'मनुष्य' हुआ। इसी कारण द्वितीय विश्वयुद्ध की घटनाओं, उसके भयंकर परिणामों पर उन भाषाओं में भी पुस्तकें लिखी गयीं, जिसके बोलने वाले प्रत्यक्ष रूप से युद्ध में शामिल नहीं थे।

भारत विभाजन प्रत्यक्षतः कोई युद्ध नहीं था, किन्तु वह युद्ध की विभीषिका से भी अधिक दारुण था। उसमें मानवीय करुणा और पीड़ा के अस्पर्शित, अनचीन्हे सन्दर्भ और संवेदनाएँ थीं। विभाजन ने जिन मानवीय समस्याओं को जन्म दिया, उनके दो रूप हैं—साम्प्रदायिक घृणा, विद्वेष, हिंसा, पीड़ा और अत्याचार के चित्र, तथा घृणा और द्वेष के इस मरुस्थल में प्रेम, सौहार्द, त्याग, विश्वास और मानवता में आस्था जाग्रत करने वाली घटनाओं एवं कोमल मानवीय भावों का चित्रण अपनी जमीन से उखड़े लोगों की अन्तर्वेदना तथा अपनी भूमि से उनके गहरे लगाव का चित्रण।

परिवेशगत सन्दर्भ—लेखक ने सृजनात्मक संभावनाओं से युक्त विभाजनकाल को मानवीय सन्दर्भ के साथ ही अपने परिवेश के सन्दर्भ में भी चित्रित किया। लेखकों ने साधारणतया अपने परिवेश को निम्न आयामों में सृजनात्मक धरातल प्रदान किया है—

---

1. 'भारत विभाजन अभिशाप था'—जोश मलीहाबादी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 4 मार्च 1979, पृ० 13

1. राजनीतिक
2. सामाजिक
3. धार्मिक और सांस्कृतिक
4. शरणार्थी समस्या का भौतिक पक्ष

1. राजनीतिक सन्दर्भ

भारत विभाजन के मूल में आन्तरिक कारण तो थे, किन्तु बाह्य रूप से विभाजन एक राजनीतिक घटना थी, जिसके फलस्वरूप देश का विभाजन हुआ। विभाजन के राजनीतिक कारणो के प्रति लेखक का दृष्टिकोण उसके सामाजिक परिवेश एवं उसकी अपनी राजनीतिक विचारधारा पर आधारित है। विभाजन के राजनीतिक कारणों में जिन्ना की महत्वाकांक्षा, कांग्रेस की भूलें, काग्रेस के बड़े नेताओं की महत्वाकाक्षा, अंग्रेजो की कूटनीति आदि जिन कारणों को प्रमुख माना जाता रहा है, उनमें से लेखक किस दृष्टिकोण को अपनायेगा, यह उसके राजनीतिक विचारो तथा सामाजिक दायित्वबोध पर निर्भर करता है।

विभाजन के कारणो की राजनीतिक संभावनाओ के पक्ष के साथ विभाजन के प्रभावों के राजनीतिक सन्दर्भ भी हैं। विभाजन ने यदि एक राजनीतिक झगड़े को समाप्त किया तो कई अन्य राजनीतिक समस्याओ को जन्म भी दे दिया। विभाजन के बाद जो सबसे बड़ी राजनीतिक समस्या सामने आयी, वह थी रातोरात मुस्लिम लीगियों का कांग्रेस मे प्रवेश कर जाना, जिसने बाद मे काग्रेस के चरित्र तथा देश की राजनीति को निश्चित रूप से प्रभावित किया। दो सौ वर्षों की दासता के एक लम्बे इतिहास के बाद भारतवासियों को स्वाधीनता मिली, किन्तु दुर्भाग्य से देश का विभाजन भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही हुआ। देश आजाद तो हुआ, किन्तु टुकड़ों में बँटकर। विभाजन के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगों, नर-सहार तथा मानवता पर बलात्कार के कारण देश मे दुःख, निराशा, विद्वेष, घृणा तथा अनिश्चय का अवसादपूर्ण वातावरण छा गया। संभवतः स्वतन्त्रता जैसी अमूल्य वस्तु प्राप्त करने के लिये देश को मूल्य चुकाना था और विभाजन के रूप मे उसने चुकाया भी। विभाजन के पश्चात् 1948 में भारत को पाकिस्तान से युद्ध करना पड़ा। महात्मा गाधी की हत्या के पीछे भी बहुत हद तक विभाजन ही कारण था। वस्तुतः विभाजन ने भारतीय राजनीति का स्वरूप बदल दिया। विभाजन के राजनीतिक प्रभाव के कारण ही स्वतन्त्र्योत्तर भारत मे जनसंघ जैसे हिन्दू राष्ट्रवाद का पोषक दल सामने आया और कुछ राज्यो मे उसकी स्थिति सुदृढ भी रही।

भारतीय राजनीति में आर्थिक सामाजिक आधार पर दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ थी—वामपंथी और दक्षिणपंथी। लेकिन भारत विभाजन की घटना ने हिन्दू

राष्ट्रीयता के आधार पर राजनीतिक चिन्तन को एक नया आधार दिया, जिसका झुकाव दक्षिणपंथ की ओर था, लेकिन उसकी पहचान आर्थिक विचारों के कारण उतनी नहीं थी, जितनी अपने हिन्दूवादी दृष्टिकोण के कारण।

विभाजन के बाद की राजनीतिक स्थितियाँ ऐसे वातावरण की सृष्टि करती है, जिनके आधार पर किसी भी सशक्त कृति की रचना संभव है। यद्यपि एक कथाकार राजनीतिक शोधकर्ता नहीं है, फिर भी उपस्थित राजनीतिक स्थितियाँ लेखकीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। स्वतन्त्रता प्राप्ति और देश का विभाजन दोनो एक साथ होने के कारण कथाकार के लिये विभाजन के प्रभाव को स्वतन्त्रता के प्रभाव से अलग करके चित्रित करना मुश्किल हो जाता है। इसलिये इन दोनो घटनाओं के राजनीतिक प्रभाव की एक साथ अभिव्यक्ति सम्भव और स्वाभाविक है।

धार्मिक : सामाजिक : सांस्कृतिक पहलू

विभाजन का परिणाम यह हुआ कि जिन समस्याओं को समाप्त करने के उद्देश्य से विभाजन स्वीकार किया गया था, वे और भी उग्र रूप में सामने आईं।[1] हिन्दुओं और मुसलमानों में धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर जितनी दूरी तब थी, आज भी है—शायद आज पहले से भी अधिक।

विभाजन ने भारत में बचे अल्पसंख्यक मुसलमानो के सामने एक कठिन स्थिति पैदा की। यद्यपि मुस्लिम लीग को हिन्दुस्तान के बहुत सारे मुसलमानों का समर्थन प्राप्त था, फिर भी देश में राष्ट्रवादी मुसलमानो का एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा भी था जिसने सदैव लीग का विरोध किया था। देश को बाँटने के फैसले से स्वभावतः उनके बीच बड़ी गहरी खाई बन गई थी। हिन्दू और सिख तो बँटवारे के विरुद्ध थे ही, विभाजन के दुष्परिणामों से लीग के अनुयायी मुसलमान भी त्रस्त हो गये। विभाजन के पश्चात् भारतीय मुसलमानों की स्थिति विचित्र हो गयी—वे अपने घर में ही गैर और परदेशी हो गये। सबसे विडम्बनामय स्थिति तो उन मुस्लिम लीगी नेताओ की थी जो हिन्दुस्तान मे रह गये थे। जिन्ना अपने अनुयायियों को यह सन्देश देकर करांची चले गये कि अब देश बँट गया है, इसलिए उन्हें हिन्दुस्तान

1. क्या कोई इस बात से इन्कार कर सकता है कि पाकिस्तान बन जाने से साम्प्रदायिक समस्या हल नही हुई है, बल्कि पहले से भी अधिक गम्भीर बन गई है। खतरा पहले से भी अधिक बढ गया है। बँटवारे का आधार था हिन्दुओं और मुसलमानो की दुश्मनी। पाकिस्तान बना तो इसे एक स्थायी संविधानिक रूप मिल गया और उसका हल पहले से भी ज्यादा मुश्किल हो गया।
—आजादी की कहानी, : पृ० 252.

के वफादार नागरिक बन जाना चाहिए। इस सन्देशे से इन नेताओं की दशा दयनीय हो गयी और उन्हे लगा कि जिन्ना ने उन्हे धोखा देकर मँझधार में छोड दिया है।[1]

अवसरवादी मुस्लिम लीगियो ने चतुराई से काम लिया और गांधी जी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त को अपना कर वे रातोरात काग्रेसी बन गये। जिम्मेदारी के पद भी उन्होने प्राप्त कर लिये और अनेक राष्ट्रीय मुसलमान, जिन्होंने आजादी की लडाई मे अपना सब कुछ खो दिया, वंचित के वंचित रह गये। विभाजन के परिणामस्वरूप हिन्दुओ का मुसलमानों के प्रति भेद-भाव और भी बढ गया और मुसलमानों को पाकिस्तान को लेकर अनेक कटु टिप्पणियाँ सुनने को मिली। राष्ट्रवादी मुसलमान पाकिस्तान के निर्माण में कही-न-कही अपने आप को अपराधी महसूस करने लगे, भले ही इस अपराध मे उनका कोई हिस्सा न था। फलतः सामाजिक स्तर पर वे न लीगी मुसलमानो के निकट आ सके, न ही पूरी तरह हिन्दुओ के विश्वासपात्र बन सके। बल्कि धर्मनिरपेक्षता या सर्वधर्मसंभाव की हवाई घोषणाओ और नारो के बावजूद भी हिन्दू-मुसलमान, दोनों के बीच की खाई बढती ही गयी।[2] इस खाई को चौड़ा करने मे विभाजन के पहले और बाद साम्प्रदायिक आधार पर चलने वाली राजनीति का भी प्रमुख हाथ रहा।[3] आजादी के बाद मुस्लिम लीग ही नही, तथाकथित धर्मनिरपेक्ष दल भी सम्प्रदायो के बीच कृत्रिम दीवारें खड़ी करने की कोशिश करते रहे हैं ताकि अल्पसख्यकों मे आतंक की भावना बनी रहे।[4] विभाजन के बाद होने वाले साम्प्रदायिक दंगे ऐसी ही स्वार्थी, अवसरवादी राजनीति का परिणाम है। इससे देश की जनता का ध्यान आर्थिक, सामाजिक समस्याओं से हटाकर आपसी संघर्ष मे उलझा देना आसान होता है।[5]

---

1. आजादी की कहानी, पृ० 232.
2. दिनमान 14-20 सितम्बर, 1980, पृ० 24.
3. दिनमान, 31 अगस्त—6 सितम्बर 80, पृ० 17.
4. दिनमान, 21-27 सितम्बर, 80, पृ० 25.
5. किसी शहर में कोई पुराना कब्रिस्तान उसमें नया मुर्दा गाड़ा जाये या न गाड़ा जाये इसको लेकर दंगा हो सकता है। इस पर सारा शहर दो खेमों मे बँट सकता है। राजनेता अलग-अलग मंच लगा सकते हैं। जहाँ जिन्दा इन्सान मारे-मारे फिर रहे है वहाँ कब्रिस्तानो और मरघटो पर लड़ाइयाँ हो इससे बढ़-कर और विडम्बना क्या हो सकती है।

   - अटल बिहारी वाजपेयी दिनमान, 7-13 सितम्बर 80, पृ० 20

विभाजन के बाद हिन्दू और मुसलमान दोनों में साम्प्रदायिकता का पुराना आधार यदि समाप्त नहीं हुआ है तो कम से कम कमजोर अवश्य हो चुका है। लेकिन नये कारण भी पैदा हुए हैं। अभी भी एक औसत हिन्दू सोचता है कि मुसलमानों का एक दूसरा मुल्क भी है और वह जब चाहे वहाँ चला जा सकता है। एक दशक पहले तक शायद यह बात सच भी थी, लेकिन अब इसमें कोई वास्तविकता नहीं रह गयी है। मुसलमान कभी भारत से पाकिस्तान जाना चाहे तो उसे वहाँ न जमीन, न रोजगार, न कोई अपनापन मिलने वाला है। इसलिए पाकिस्तान जाने की इच्छा भी खत्म हो चुकी है। अगर एक काल्पनिक पैमाने पर एक मनोवैज्ञानिक आश्रय स्थान के रूप में उसके दिमाग में पाकिस्तान है, तो वह कराची-इस्लामाबाद वाला पाकिस्तान नहीं, बल्कि उसकी असुरक्षा के अहसास और इतने दिनों में बने हुए मानसिक अलगाव का ही एक प्रेत है।[1]

निश्चय ही विभाजन हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच अलगाव बढ़ाने में और अधिक सहायक हुआ। आपसी अविश्वास ने मुसलमानों को देश के सामान्य जनजीवन की धारा से काट कर अलग कर दिया[2], और ऐसी स्थिति में बहुत से राष्ट्रवादी मुसलमान अपने ही वर्ग में अपने आपको अल्पसंख्यक महसूस करने लगे।

विभाजन के पक्ष में दलील देने वालों का यह तर्क था कि हिन्दुस्तान की कोई एक संस्कृति नहीं और कांग्रेस चाहे कुछ भी कहती रहे, हिन्दू और मुसलमानों का सामाजिक जीवन एकदम भिन्न है। इसी आधार पर विभाजन हुआ भी। अब जब मुसलमानों के लिए अलग पाकिस्तान बन गया तब हिन्दुस्तान में बचे मुसलमानों के सामने स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि उनके सांस्कृतिक स्रोत क्या होंगे। निस्सन्देह हिन्दू और मुसलमान, सदियों तक एक ही स्थान पर एक साथ रहने के कारण एक ही धरती और संस्कृति से भावनात्मक स्तर पर जुड़े हुए थे। पाकिस्तान के निर्माण के रास्ते में हिन्दुओं-मुसलमानों का यह साँझा जातीय सांस्कृतिक संस्कार

---

1. साम्प्रदायिकता—किशन पटनायक—दिनमान 7-13 सितम्बर' 80, पृ० 23,
2. "...बड़े पैमाने पर जवान लड़के और लड़कियाँ (मुस्लिम) पढ़ाई क्यों नहीं कर रहे ? महँगाई, बेकारी या किसी बड़े अन्याय के खिलाफ जो आंदोलन होते हैं उनमें वह बड़ी संख्या में भाग क्यों नहीं लेते ? वे अलग-अलग क्यों रहते हैं ? वे खोल में क्यों घुसे हुए हैं ? ... क्यों उनके मन में यह भाव नहीं है कि अगर इस देश की तकदीर बनेगी तो इसके साथ उनकी तकदीर भी बनेगी। ...गरीबी, भुखमरी को मिटाने की जो आज आदमी की माँग है उसके साथ मुस्लिम व्यक्ति के तौर पर तो जुड़ते हैं लेकिन समूह के तौर पर नहीं।"

अटल बिहारी वाजपेयी : दिनमान 7-13 सितम्बर' 80, पृ० 20

एक बड़ी बाधा थी। पाकिस्तान के निर्माण के पक्षधरों ने इन संस्कारों को तोड़ने और नष्ट करने के लिए ही साम्प्रदायिक तनाव और दंगे पैदा किये थे।[1]

देश के विभाजन से एक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या राष्ट्र विभाजन के साथ-साथ हमारी संस्कृतियों का भी विभाजन हो गया ?[2]

विभाजन के बाद जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, या राजनीतिक कारणों से उत्पन्न की गयी, उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के साँझा जातीय-सांस्कृतिक संस्कारों को तोड़ने का काम ही अधिक किया। यह तथ्य बहुतों के लिए अनदेखा ही रहा कि विभाजन सांस्कृतिक भिन्नता का नहीं, उस भिन्नता के अपने-अपने राजनैतिक लक्ष्यों और वर्ग-स्वार्थों के लिए किए गये सचेत उपयोग का परिणाम था। स्वतन्त्र भारत में पनपने वाली साम्प्रदायिकता भी भिन्न धर्म और भिन्न संस्कृति की टकराहट का नहीं, इस टकराहट को पैदा करने और बढाने वाली सचेत राजनीति का परिणाम है। निश्चय ही यह सांस्कृतिक अलगाव वास्तविक नहीं था, किन्तु परिस्थितियों और प्रयास के कारण यह वास्तविक दीखने लगा।[3] आजाद हिन्दुस्तान में मुसलमानों की सामाजिक हैसियत में गिरावट आयी, खासकर सामंती व्यवस्था के पतन के साथ। आत्मविश्वास युक्त सामंती मुस्लिम शिष्ट वर्ग ही हिन्दू संस्कृति के सुन्दर पहलुओं के संरक्षण का काम सरलता से कर सकता था। आखिरकार, कृष्णलीला को सम्पूर्णता के साथ संरक्षित रखने का काम उन कत्थक ने ही किया है, जो मुस्लिम दरबार में पनपा विकसा।[4]

---

1. सिक्का बदल गया, पृ० 14.
2. हिन्दुस्तान का बँटवारा बड़ी दुःखदायी घटना है और उसके पक्ष में सिर्फ यही कहा जा सकता है कि हमने इस बँटवारे को टालने का भरसक प्रयास किया मगर हमें सफलता नहीं मिली। पर हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि हमारा राष्ट्र एक है, कि हमारा सांस्कृतिक जीवन एक रहा है और एक रहेगा।
—आजादी की कहानी, पृ० 219 (कांग्रेस महासमिति की 14 जून, 1947 को हुई बैठक में मौलाना आजाद के भाषण का अंश)
3. सईद नकवी : दिनमान, 21-27 सितम्बर' 80, पृ० 17.
4. हम लोगों की यह आस्था रही है कि इस्लाम सभी मजहबों में सर्वाधिक गतिशील है। पर साथ ही हमें यह भी सहज ही समझ में आ गया था कि यह इस्लाम की एक महत्तर सभ्यता से पारस्परिक क्रिया का ही परिणाम था कि दाराशिकोह, रहीम, कबीर, अमीर खुसरो, रसखान, नजीर अकबराबादी, गालिब, अनीस आदि सामने आये ......लोग इन दिनों 18वीं सदी के कवि नजीर अकबराबादी की उन कविताओं से अनजान हैं : क्या-क्या लिखूं मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन अथवा सम्ते काशी से चला जानिबे मथुरा बादल, तब तलक ब्रज में कन्हैया है ये खुलने का नहीं। है कोई इन दिनों जो ये यकीन कर सकेगा कि ये पंक्तियाँ एक मुसलमान कवि ने पैगम्बर मोहम्मद के जन्म दिन के अवसर पर लिखी थी ?
सईद नकवी, दिनमान, 21 27 सितम्बर' 80, पृ० 17

आजादी के पूर्व भाषा के प्रश्न को लेकर दोनों सम्प्रदायों के बीच जो कटुता थी, सरकारी नीति के कारण उसमें और वृद्धि ही हुई। कट्टर हिन्दू राष्ट्रवादियों ने संस्कृत निष्ठ हिन्दी को हिन्दुस्तान की और कट्टर मुस्लिम राष्ट्रवादियों ने अरबी फारसी निष्ठ उर्दू भाषा को पाकिस्तान की राजभाषा बना दिया। किन्तु राजभाषा बना देने से भी उर्दू पाकिस्तान की जनभाषा नहीं बन सकी। वह सम्पर्क भाषा आज भी हिन्दुस्तानी का ही एक रूप है। पाकिस्तान में उर्दू भी वैसे ही कैद है, जैसे हिन्दुस्तान में हिन्दी और उर्दू भाषाएँ कैद हैं—अकादमी स्कूल, कालेज प्रशासन, पत्र-पत्रिकाओं और सरकारी वक्तव्यों में।[1] सैकड़ों वर्षों से हिन्दुस्तानी भाषा उत्तर भारत में जनभाषा और सम्पर्क भाषा के रूप में प्रयुक्त होने के साथ अन्य क्षेत्रों में सम्पर्क भाषा के रूप में विकसित हुई। यह भाषा राष्ट्रीय स्तर पर राजभाषा के रूप में जन अभिव्यक्ति के सबल माध्यम के साथ-साथ हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों के बीच अविश्वास और दुर्भावना की दीवार तोड़ने का काम भी कर सकती थी। किन्तु भाषा का प्रश्न राजनीतिज्ञों के वोट बटोरने का साधन बन गया। उर्दू से सहानुभूति प्रकट कर तथा इसे मुसलमानों की अस्मिता का प्रश्न बतलाकर ये राजनीतिज्ञ उर्दू का उपयोग महज चुनावी हथकण्डे के रूप में मुसलमानों को भड़काने और साम्प्रदायिकता का जहर फैलाने के लिये करने लगे। इस प्रकार विभाजन से भी भाषाओं के टकराव और साम्प्रदायिकता का अन्त नहीं हुआ। भाषाओं के जिस समन्वय ने एक मिली-जुली संस्कृति के विकास में योगदान दिया था, वह वैमनस्य बढ़ाने और अलगाव पैदा करने का हथियार बन कर रह गयी।[2]

शरणार्थी समस्या का भौतिक पक्ष—विभाजन ने भयानक शरणार्थी समस्या को जन्म दिया। एक करोड़ अभागे लोग अपनी भूमि से उखड़ गये। हिन्दुओं, मुसल-

1. —सुरेन्द्र परिहार, रविवार, 19 अप्रैल' 81, पृ० 19.
2. हमारे समूचे व्यक्तित्व का, हमारी कुल संघटना का एक जबर्दस्त हिस्सा था भद्र उर्दू, संस्कृत और लोकभाषा अवधी तथा ब्रजभाषा का सुव्यवस्थित संयोजन। मैंने जिन्दगी में बहुत शुरू में ही यह सीख जान लिया और तब से लेकर मुझसे बराबर मानो यह भूलने की अपेक्षा की जा रही है कि उर्दू एक या समन्वित संस्कृति का प्रस्फुटन है, एक मिली-जुली संस्कृति के खिलने की पहचान और परिणाम है। मेरे अब्बाजान इस झूठी अफवाह और बकवास को सुनकर गुस्से से उबल उठे होते कि उर्दू मुसलमानों की भाषा है। क्योंकि उर्दू के महानतम गद्य लेखकों में थे पंडित रतननाथ सरशार और उसके जीवित महानतम कवियों में से एक हैं रघुपतिसहाय फिराक।

   —सईद नकवी, दिनमान, 21-27 सितम्बर' 80, पृ० 17.

मानों और सिक्खों को अपनी-अपनी जन्मभूमि छोड़कर भागने को मजबूर होना पड़ा। चूँकि दुर्घटनाग्रस्त लोगो के स्थानान्तरण की कोई समुचित योजना और व्यवस्था न पाकिस्तान की ओर से की गई न हिन्दुस्तान की ओर से, फलतः स्थिति और अधिक विकट हो गई।[1] कांग्रेसी नेताओं की जनसंख्या की अदला-बदली से सम्बन्धित डावाडोल नीति के परिणाम को लाखों निरीह और अबोध लोगों को भोगना पड़ा। विस्थापितों की इस समस्या का मानवीय के अतिरिक्त शुद्ध भौतिक पहलू भी था—वह था विस्थापितों के पुनर्वास की समस्या। विस्थापित व्यक्तियो के आवास और भोजन की व्यवस्था करना एक ऐसी समस्या थी जिसका समाधान हुए बिना अनेक प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दुष्परिणाम दृष्टिगोचर होने की पूर्ण संभावना थी। रक्त-पिपास और प्रतिशोध की भावना से देश की नवार्जित स्वतन्त्रता भी खतरे में पड़ सकती थी। नवनिर्मित राष्ट्रीय सरकार ने इस विषम स्थिति पर काबू पाने की भरसक चेष्टा की। समस्या विस्थापितो के आवास और भोजन की ही नही थी, वरन् उनके लिए जीविकोपार्जन के साधन जुटाना भी एक गुरुतर कार्य था। पाकिस्तान से उजडकर आये हुए लाखो शरणार्थियों के जीवन को नये मार्ग पर लगाना आसान काम नही था। उन्हे भारत की जीवन-धारा में आत्मसात् करने के लिए राष्ट्रीय सरकार को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा। इस देशान्तरण के कारण भारतीय सरकारी कोष पर कितना बोझ पड़ा होगा, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।[2] तो भी राष्ट्रीय सरकार ने विस्थापितो की सहायता तथा उनके जीवन-यापन के साधन जुटाने मे कसर न छोड़ी। व्यापार और उद्योग-धंधो के लिए उन्हें जमीनें दी गईं, कृषि-कार्य के लिए खेत दिये गये। जो पाकिस्तान में अपनी अचल सम्पत्ति छोड़ आये थे, उन्हे मुआवजा भी दिया गया। शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए नई कालोनियाँ बनायी गयीं, जिनके लिए सरकार ने बहुत से गाँवों की जमीन ऐक्वायर की। परिणामतः उन गाँवों में रहने वाले एक तरह से अपने ही घरो और गाँवों मे विस्थापित हो गये और उनकी पीढियो से बँधी चली आयी जीवन-प्रणाली टूटने लगी। जमीन का नकद मुआवजा इन लोगों को मिला जिससे उनकी निजी

---

1. एक ओर केन्द्रीय सरकार अपने आदशो से चिपके रहने के कारण स्थानान्तरण के विरुद्ध थी तो दूसरी ओर प्रान्तीय नेता साम्प्रदायिकता की आग को भड़का कर लोगो को घर-बार छोड़कर भागने पर मजबूर कर रहे थे। इससे लोगो में असुरक्षा-भाव पैदा हो रहा था और वे दहशत से भाग रहे थे। जिस स्थिति मे वे फँस गये थे वह लगभग सामूहिक नरहत्या जैसी स्थिति थी।
   —सिक्का बदल गया : नरेन्द्र मोहन, पृ० 18.
2. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० 11.

आर्थिक व्यवस्था का मुद्रीकरण हो गया। जमीन ठेकेदार होने के साथ उनके पुश्तैनी व्यवसाय खत्म हो गये और वे एक नयी जीवन-प्रणाली के लिये भटकने को विवश हो गये। यह विस्थापित समस्या का एक दूसरा पहलू था।[1]

देश के विभाजन के बाद ये शरणार्थी पश्चिमी पंजाब, बंगाल, सीमा प्रान्त और बलुचिस्तान से उठकर पूरे भारत में फैल गये। पुनर्वास की प्रक्रिया में ये शरणार्थी स्थानीय आबादी के सम्पर्क में आये। उनके सामान्य जीवन और व्यवसायों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। कहीं उनमें परस्पर सहयोग पैदा हुआ और कहीं असहयोग। यह एक विचित्र द्वन्द्व एवं तनाव की स्थिति थी।[2] जिन लोगों ने प्रत्यक्षतः विभाजन को नहीं भोगा था, वे भी इसके प्रभाव से अछूते न रह पाये। शरणार्थियों के सम्पर्क में आकर सदियों पुरानी मान्यताएँ और जीवन-मूल्य बदलने लगे। देश का स्वरूप परिवर्तित होने लगा।[3] इन बदलते हुए जीवन-मूल्यों ने जनजीवन को किस रूप में प्रभावित किया, शरणार्थियों का उन प्रदेशों पर क्या प्रभाव पड़ा, जहाँ वे गये; स्वयं शरणार्थी नयी परिस्थितियों से किस रूप में समझौता कर पाये; ये प्रश्न लेखक के मानस को उद्वेलित करने को काफी हैं। निश्चय ही विस्थापितों की समस्या अपने विभिन्न रूपों में लेखक को सामाजिक दायित्व के निर्वाह का अवसर प्रदान करती है।

मूल्यगत सन्दर्भ :

यहाँ यह प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि इस विभाजन ने जीवन-मूल्यों को, पारम्परिकता को, बनी-बनायी मर्यादाओं को किस रूप में प्रभावित किया। जीवन-मूल्य हर युग में बदलते हैं, किन्तु इस दुर्घटना ने हमारे मूल्यों और विश्वासों की जड़ हिला दी, उन विश्वासों को एक झटके से तोड़ डाला, जिन्होंने बहुत दिनों तक हमारे साहित्यिक सृजन को प्रेरित किया था।[4]

---

1. मुट्ठी भर कांकर—जगदीशचन्द्र, भूमिका (मेरी ओर से)।
2. वही : भूमिका
3. हिन्दी कहानी : पहचान और परख, सं० इन्द्रनाथ मदान : नई संभावनाओं की खोज—मोहन राकेश, पृ० 31.
4. "लगभग सोलह-सत्रह साल पहले कुछ कांच की इमारतें एकाएक टूटती नजर आई थीं। बहुत मेहनत से, बहुत कौशल से, बहुत ही बारीक टुकड़े जोड़-जोड़ कर न जाने कितनी सदियों में उन्हें खड़ा किया गया था। सदियों से उनकी रखवाली-पहरेदारी की जाती रही थी। सदियों से उन्हें धूप और ओसों से बचाकर रखा जा रहा था। पर एक दिन जब वे गिरने पर आईं, तो एकाएक ही टूटकर गिर गईं...इमारतें गिरीं और कांच के टुकड़े दूर-दूर जा बिखरे। आकाश अपने नंगेपन में स्तब्ध हो रहा। पर उन पर पहरा देने वाले लोग बिना इस वास्तविकता को जाने, या जानकर भी इससे अनजाने बने, फिर भी पहरा देना, अपना फर्ज समझते रहे। टूटने वाली इमारतों में एक इमारत उन विश्वासों की थी, जिन्होंने बहुत दिनों तक हमारे साहित्यिक सृजन को प्रेरित किया था।"

   —मोहन राकेश : नई संभावनाओं की खोज, हिन्दी कहानी : पहचान और परख—सं० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 30-31।

विभाजन से पहले के दिनों मे आग, लहू और क्रन्दन—इनकी पृष्ठभूमि मे कुछ लोगो ने पहले-पहल जिन्दगी को देखा। जो नजर आया, वह था जलता-सुलगता और धुआँ छोड़ता हुआ एक सत्य। उसके नाम से वे परिचित थे, पर उसे पहचानने का मौका उससे पहले उनकी जिन्दगी मे नही आया था।[1] शरणार्थियो के आने और परिस्थितियों मे बदलाव के कारण रोजमर्रा के जीवन का व्यवहार बदला, मान्यतायें बदली, आपस के सम्बन्ध बदले। पर जिन्दगी के पुराने ढाँचे में रची-बसी आखें परेशान होकर देखती रहीं; और कोई प्रतिक्रिया उनमें नही हुई।......इसलिए पहले जिन आँखो मे कुछ सवाल जागने लगे, वे आँखें बिल्कुल नयी थी। विभाजन के बाद के वर्षो में बीतने और आने वाले दो युगो का निरन्तर संघर्ष दिखाई देता रहा है—एक ओर विश्वासो को जन्म देने वाली नई चेतना थी और दूसरी ओर चेतना को शासित करने वाले पुराने विश्वास।[2] यह सघर्ष दो बिल्कुल विपरीत दृष्टियों का था। विभाजन के बाद परिस्थितियां तेजी से परिवर्तित हुई और नई पीढ़ी ने अपने को ऐसे, क्राइसिस मे पाया जिसमें एक तरफ तो जीवन के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ बहुत तीव्र और संवेदनायें बहुत गहरी थी, पर दूसरी ओर अभिव्यक्ति के परम्परागत संस्कार बिल्कुल खोखले और कृत्रिम जान पड़ते थे।

विभाजन के साथ जिस क्राइसिस का आरम्भ हुआ था, वह आने वाले वर्षों मे निरन्तर गहरा होता गया। यद्यपि देश मे बड़े-बड़े भवनों, सरकारी-अर्द्धसरकारी संस्थाओं, समितियों, आयोगों, कारखानों, विकास योजनाओ का निर्माण हुआ, किन्तु इसकी सतह के नीचे से मनुष्य का जो रूप सामने आया—वह अत्यन्त विकृत था। ऐसा लगा जैसे आस-पास के बड़े-बड़े परिवर्तनो के साये में मनुष्य निरन्तर पहले से क्षुद्र होता जा रहा है, नैतिकता की तथाकथित मर्यादायें टूटती जा रही हैं। लगभग एक दशक से नई पीढ़ी की चेतना उस क्राइसिस का सामना कर रही है। यह क्राइसिस केवल कुछ मूल्यों के ढहने का ही नही, उन मूल्यो के अस्तित्व को लेकर भी है। क्या सचमुच कभी वे मूल्य जीवन के आधारभूत मूल्य रहे हैं ? यदि ऐसा होता, तो उनकी बुनियादें आज इतनी खोखली क्यों नजर आती ? क्यों लगता कि उन मूल्यों का दामन पकड़कर एक अरसे से हम सिर्फ अपने को झुठलाते रहे है ? बौद्धिकता और शब्दयोजना के मोह में पड़कर जीवन की वास्तविकताओं और उनसे पैदा होने वाली यथार्थ संवेदों को हमने नैतिकता के नाम पर साहित्य से निर्वासित किये रखा है।[3]

---

1. मोहन राकेश : नई संभावनाओ की खोज, हिन्दी कहानी : पहचान और परख —सं० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 31.
2. वही : पृ० 32.
3. मोहन राकेश : नई संभावनाओ की खोज, हिन्दी कहानी : पहचान और परख —सं० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 33-34.
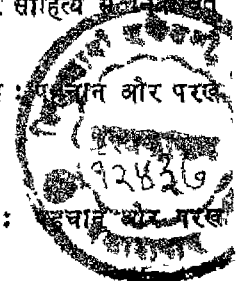
स्वतन्त्रता के बाद की संक्रमणकालीन[1] परिस्थितियों ने मनुष्य के समस्त अन्तर-बाह्य को आन्दोलित कर जीवन, समय एवं समाज के प्रति उसकी धारणाओं को परिवर्तित कर दिया। जहाँ तक पश्चिम का प्रश्न है, वहाँ दो-दो महायुद्धों की भयंकर बरबादियों ने मनुष्य को तोड़ डाला। हर घर में मौत हुई और उस मौत ने सम्बन्धों की शृंखला को खण्डित कर दिया। परिवार उजड़ गए......और जो कुछ भी बचा उसमें 'आदमी का' मैं कहीं नहीं रहा। उसके 'मैं' के साथ-साथ उसके सम्बन्धों के भी चिथड़े उड़ चले। आदमी को एक स्थान से उखड़कर दूसरे स्थान पर बसना पड़ा। वहाँ उसे अपना एक औसत 'कामचलाऊ घर' बनाना पड़ा और अपने खण्डित व्यक्तित्व की सुरक्षा-अनुरक्षा में चिन्तित वह जीवन की दिशा और मूल्य खोजने लगा। धीरे-धीरे उस कामचलाऊ घर में वह भौतिक शक्तियों और जरूरतों का नियमन करने लगा और जो वास्तविक घर था, उसे चेतना के धरातल पर जीने लगा। इस प्रकार उसके दो घर बन गए और वह दोनों के बीच झूलते या 'लटकते' रहने के लिए अभिशापित हो उठा।

यही भारतीय परिवेश में भी हुआ। हमारे यहाँ युद्ध तो नहीं, राजनीतिक आजादी ने यह ध्वंस पैदा किया है। आजादी के साथ ही पूँजीवाद की व्यक्ति सत्तात्मक वृत्ति ने देश के दो टुकड़े करवाए, जिसमें आदमी का 'घर' उजड़ गया और वह 'शरणार्थी' बन गया।......'शरणार्थी' एक 'कामचलाऊ घर' बनाकर बस तो गए, परन्तु चेतना के स्तर पर अपने उसी पुराने या 'वास्तविक घर' को झेलते रहे। मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' उसी 'वास्तविक घर' की पीड़ा भरी तलाश है, जिसे वह मलबे के रूप में पाकर छाती से चिपटाये रखना चाहता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही देश का वैचारिक पुनर्जन्म हुआ था। आजादी केवल राजनीतिक मूल्य के रूप में स्वीकृत नहीं हुई थी; बल्कि विचारों की एक नवक्रान्ति का सपना भी उससे जुड़ा हुआ था। किन्तु वैचारिक पुनर्जन्म के साथ ही एकाएक विभाजन का अभिशाप जुड़ जाता है और तब, जब कि हमारी चेतना एक स्वर्णिम भविष्यवाद से स्पन्दित हो ही रही थी कि शरणार्थियों के काफिले आते और जाते दिखाई देने लगे—और उस भयंकर रक्तपात के बीच आंतरिक रूप से एक विघटन समा गया, जो कहीं हमें हमारे दिमागों और दिलों में शरणार्थी बनाता चला गया।[2] वे सब लोग जिन्होंने भारतीय एकता का स्वप्न संजोया था और जो उस माहौल में पैदा हुए थे, जहाँ धार्मिक सहिष्णुता और उदारता एक बहुत बड़ा राष्ट्रीय

1. समकालीन कहानी : संवेदना और स्वर—विश्वेश्वर : हिन्दी कहानी : पहचान और परख—सं० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 112-113
2 नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर : पृ० 10-11

मूल्य था—वे विभाजन होते ही अपने आप में शरणार्थी बन गये थे। उनके मा शर्म से झुके हुए थे, जबानें बन्द थी और वे अपने देश में अपने सारे विश्वासों और आस्थाओं को संजोये हुए ही झूठें पड़ गये थे। खण्डित मूल्यो और आस्थाओं ने पराजय की भयंकर अनुभूति से उन्हे जर्जर कर दिया था। इसी कारण देशों की सीमाएँ पार करनेवाले शरणार्थियो से भी ज्यादा शरणार्थी वे थे, जिनके मानवीय मूल्यो की हत्या हो गई थी।

इसी के साथ जुड़ा हुआ है, मोहभंग का एक अध्याय। वह त्यागी पीढ़ी, जो 14 अगस्त की रात के ग्यारह बजकर उनसठ मिनट तक बहुत सयमी, आदर्शवादी, स्वप्नदर्शी, सच्चरित्र और साधु थी, एक मिनट बाद ही स्वार्थलोलुप अत्याचारियो मे बदल गयी। चारो तरफ एक नया राजनीतिक वर्ग पनपने लगा, जो जोंक की तरह जनता का रक्त चूसने लगा और अपने लिये सुविधाएँ बटोरने मे लग गया। स्वार्थपरता, जातिवाद, बेईमानी का जो दौर चला, उसने भारतीय मानस को जबरदस्ती मोहभंग की स्थिति मे खड़ा कर दिया।[1]

इस बदले हुये यथार्थ ने हिन्दी कथा साहित्य में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात किया। व्यक्ति-व्यक्ति का शरणार्थी होना, मोहभंग की स्थिति और खण्डित परिवार वाला मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग ऐसी सच्चाइयाँ हैं, जिन्हे नजरअन्दाज करना नई पढी के रचनाकारो के लिये संभव न था। इस सारे विक्षोभ, अनास्था और टूटने के बीच वह पुराने कथाकारों की तरह तटस्थ या विशिष्ट बना नही रहा; बल्कि अपनी रचनाओ द्वारा भोगे हुए यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के माध्यम से उसने परिवर्तन की एक गतिवान प्रक्रिया को जन्म दिया।

अनुभूति की प्रामाणिकता या सच्चाई इस कथा साहित्य की एक प्रमुख विशिष्टता है। चारों ओर के विघटन ने नई पीढ़ी के लेखक के लिये जो मानसिक सकट पैदा किया, नया कथा साहित्य उसी अनुभूति की प्रामाणिकता पर टिका है।[2] नये साहित्य के आन्दोलन ने मनुष्य की चेतना के अवरुद्ध स्रोतो को खोलने के साथ जीवन को झेलने वाले केन्द्रीय पात्रों की ओर उसे अभिमुख किया। भारतीयता की तलाश प्रारम्भ हुई और इसीलिए अपने अनुभूत प्रामाणिक यथार्थ की ओर उसकी दृष्टि गई। मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, रेणु जैसे लेखको की प्रामाणिक और अनुभूत यथार्थ की रचनाओं ने कथा साहित्य मे व्याप्त गतिरोध को तोड़ डाला। स्रष्टा,

1. नयी कहानी की भूमिका : शरणार्थी आदमी और मोहभंग : 'नये' का एक और कोण, पृ० 60-70.

2. नयी कहानी की भूमिका नयी कहानी और संत्रस्त लोग—कमलेश्वर पृ० 54.

द्रष्टा और भविष्यवक्ता के खोल को उतारकर लेखक ने सीधे मानवीय संकट का सामना करना प्रारम्भ किया। किसी भी प्रकार के आरोपण को अस्वीकार कर उसने आधुनिकता के संक्रमण को वहन करते भारतीय व्यक्ति को उसकी निजता भारतीय परिस्थितियों और समय में सम्प्रेषित किया। आरोपित मानवतावाद से पृथक् न्याय और समता पर आधारित व्यापक मानवीय मूल्यों को उसने अंगीकार किया। उसकी प्रतिबद्धता का अर्थ जीवन से प्रतिबद्धता का रहा, मत-मतान्तरों, फैशनों या वादों से आक्रान्त होने का नहीं।

इस नये कथा साहित्य ने स्वतन्त्रता के बाद पहली बार आदमी को आदमी के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया, शाश्वत मूल्यों की दुहाई देकर नहीं, बल्कि उसी आदमी को उसी के परिवेश में सही आदमी या मात्र आदमी के रूप में अभिव्यक्ति देकर। नये कथा साहित्य के सैकड़ों इन्सान और उसकी पूरी दुनिया किसी धर्ममूलक संस्कार या अवधारणा की मोहताज नहीं रहीं। निश्चय ही विभाजन और उससे उत्पन्न नयी परिस्थितियों ने कल्पनालोक से निकालकर मनुष्य को यथार्थ की कठोर दुनिया में जीना सिखाया और यह प्रभाव नये कथा साहित्य में भी बड़ी तीव्रता से मुखरित हुआ। धर्म और सम्प्रदाय से ऊपर उठकर, और आदर्शलोक से निकलकर उसने मनुष्य को मनुष्य के रूप में चित्रित किया।[1]

वस्तुतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के उत्साह, देश-विभाजन के समय के क्रूर कृत्य, दो विश्व-युद्धों के प्रभाव से हुए परिवर्तनों ने कथाकार को अपनी नियति से जूझने के लिए एकदम अकेला छोड़ दिया, और लेखकीय प्रक्रिया की यातना को सहता हुआ वह पूरे समुदाय से कटकर अलग पड़ गया। इसी कारण नया कथा साहित्य मनुष्य की विडम्बना, नपुंसकता, टूटने और अकेले पड़कर सड़ते जाने की भी कथा है।[2]

भारत विभाजन ने जिस सामूहिक पाशविकता का उदाहरण प्रस्तुत किया, उसकी पृष्ठभूमि में अनेक राजनीतिक, सामाजिक अथवा वैयक्तिक सत्य फूटे दिखायी देने लगे। भाई अपनी बहनों से उतना प्यार नहीं करते, जितना बहनें अपने भाइयों से—हमारे यहाँ यह एक माना हुआ सत्य था। पर युद्ध की विभीषिका, बढ़ती कीमतों और विभाजन के बाद जब लड़कियाँ नौकरी करने लगीं, वे न केवल आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी हुईं, वरन् माता-पिता और छोटे भाई-बहनों की पालन-कर्त्री बनीं तो घर में उनकी स्थिति अनायास बदल गयी और बेरोजगार भाइयों के लिये

1 नयी कहानी की भूमिका : शरणार्थी आदमी और मोहभंग : 'नए' का एक और कोण पृ० 72

कहीं-कहीं उनका व्यवहार वैसा ही उपेक्षापूर्ण हो गया, जैसा कभी पहले भाइयों का बहनों के प्रति होता था। उषा प्रियम्वदा ने अपनी कहानी 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' में इसी वस्तु सत्य को नयी दृष्टि से परखा है।[1]

स्पष्टतः विभाजन की त्रासदी ने भारतीय जन-जीवन तथा साहित्य, दोनों पर दूरगामी प्रभाव डाले। इसी कारण विभाजन के बाद का वह साहित्य, जो सीधे विभाजन की घटनाओं या समस्याओं पर आधारित नहीं है; विभाजन के कारण हुए परिवर्तनों से प्रभावित हुआ। इस परिप्रेक्ष्य ने लेखकीय चेतना को उद्वेलित कर अनेक सार्थक रचनाओं की पृष्ठभूमि तैयार की।

भारत का विभाजन भारत के पूर्वी और पश्चिमी, दोनों क्षेत्रों में हुआ। दोनों क्षेत्रों की भाषा, आचार-विचार, रहन-सहन में काफी भिन्नता थी। विभाजन पर आधारित साहित्य के विवेचनक्रम में यह भी महत्वपूर्ण है कि लेखक ने अपनी कथावस्तु के लिए किस क्षेत्र का चुनाव किया। जिन प्रान्तों का विभाजन हुआ, अर्थात् पंजाब और बंगाल—दोनों की अलग-अलग आंचलिक विशेषताएँ है। अतः विभाजन पर लिखी जानेवाली रचनाओं में आंचलिकता की भी काफी संभावनाएँ हैं।

---
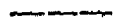
1. नई कहानी : दशा : दिशा : संभावना : नयी कहानी : एक पर्यवेक्षण—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृ० 44-45.

विभाजन और हिन्दी कहानी’

कहानी आज अपने रूप एवं शिल्प के कारण साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है। निरन्तर परिवर्तनशील एवं विकासमान परिवेश के साथ आन्तरिक सम्पृक्तता के कारण उसका भी निरन्तर विकास हुआ है। विशिष्ट शिल्प की रचनात्मक क्षमता ने उसकी संभावनाओं को विस्तृत एवं व्यापक आयाम दिये हैं।

हिन्दी कहानी मे सामाजिक चेतना और अपने परिवेश से जुड़े रहने की एक स्वस्थ परम्परा रही है। इसलिए यह आश्चर्य ही होता अगर हिन्दी साहित्यकार भारत विभाजन जैसी त्रासदी के प्रति निरपेक्ष रह जाते। भारत विभाजन सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य पर दृष्टि डालने पर यह स्पष्ट होता है कि विभाजन के तुरन्त बाद और विभाजन के बाद के वर्षों मे इस विषय से सम्बन्धित कहानियाँ हिन्दी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं मे भी लिखी गयीं। विभाजन पर लिखा गया कहानी साहित्य इतना विपुल है कि उसका सर्वांगीण विश्लेषण एक स्वतन्त्र प्रबन्ध की माँग करेगा। अतः प्रस्तुत अध्याय मे ऐसी कहानियों का चुनाव किया गया है, जिनसे विभाजन सम्बन्धी प्रवृत्तियों तथा उनके विभिन्न पक्षों का उद्घाटन हो सके।

उदाहरणतः अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उग्र, चतुरसेन शास्त्री, उपेन्द्रनाथ अश्क, कमलेश्वर, मोहन राकेश, कृष्णा सोबती, बदीउज्जमाँ, महीप सिंह, भीष्म साहनी प्रभृति कहानीकारो की अनेकानेक कहानियों में विभाजन के विविध पक्षों का विभिन्न आयामों में चित्रण और विश्लेषण हुआ है। इन कहानियों के विषय में कहा जा सकता है कि ये इस विषय पर लिखी गयी हिन्दी की महत्वपूर्ण और प्रतिनिधि कहानियाँ हैं।

कहानियों का कोई निश्चित वर्गीकरण सम्भव नहीं है, किन्तु मोटे तौर पर इतना कहा जा सकता है कि इन कहानियों में विभाजन के राजनीतिक पक्ष को प्रस्तुत करने के साथ-साथ कहानीकारों ने उस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक हादसे के विभिन्न रूप और पहलू, उससे उत्पन्न होने वाली आन्तरिक तथा बाह्य समस्याओं तथा इन सबमे अन्तर्निहित मानवीय करुणा की बहुवर्णी अभिव्यक्ति की।

विभाजन के कारण विभाजन के पहले और बाद में मानवीय सम्बन्धों में जो दरार, उलझन और विरोधाभास उत्पन्न हुए, जो नयी तरह की ग्रन्थियाँ और विकृतियाँ निर्मित हुईं उन्हें कहानीकारों ने कथा के माध्यम से अभिव्यक्ति दी।

बदली हुई परिस्थितियों के कारण मनुष्य की परिवर्तित मानसिकता तथा विभाजन के कारण विघटित मानव मूल्यों और फलस्वरूप मानव की निराशा, द्वन्द्व और सुविधा के संवेदनात्मक चित्र इन कहानियों में अंकित हुए। विभाजन के प्रभाव से अपना वतन छोड़ने को विवश असहाय शरणार्थियों की व्यथा; अपहृत स्त्रियों की वेदना तथा उनकी समस्याओं एवं विभाजन से जुड़ी मनुष्य की क्रूर मानसिकता के उद्घाटन के साथ-साथ इन सबकी जिम्मेदार अवसरवादी राजनीति के प्रति आक्रोश का स्वर भी इन कहानियों मे मुखरित हुआ। इस त्रासदी से उत्पन्न करुण परिस्थितियों का मार्मिक चित्रांकन कहानीकारो ने अपने-अपने ढंग से किया। कुछ कहानियों में कहानीकारों का बिल्कुल नया दृष्टिकोण सामने आया; तो कुछ कहानियों में एक आदर्श धरातल पर इस समस्या के मूल्यांकन का प्रयास किया गया। मनुष्य के अच्छे और बुरे के बीच द्वन्द्व दिखाकर बुराई पर अच्छाई की विजय स्थापित करने का इनमे प्रयास है। कुछ ऐसी भी कहानियाँ हैं, जिनमे घटनाओं तथा परिस्थितियों के विवरणात्मक चित्र खीचे गये है, और जो पाठक के मन पर किसी प्रकार की संवेदनापूर्ण छाप छोड़ने में असमर्थ रहती हैं। फिर भी विभाजन को विषय बनाकर लिखी गयी कहानियो को पढकर इस तथ्य की स्पष्ट अनुभूति होती है कि इनका केन्द्रीय स्वर करुणा का है।"'''इन कहानियों में इस करुणा की सैकडो अर्थच्छवियाँ और सैकडों 'शेड्स' मिलेंगे। कहीं यह सास्कृतिक सकट या द्वन्द्व से उत्पन्न करुणा है तो कहीं बंटवारे से उत्पन्न संत्रास से सम्बद्ध राजनीति विरोधी करुणा, कही यह परिवर्तित सम्बन्धों और विघटित मूल्यों से निष्पन्न करुणा है तो कही विभाजन से निर्मित क्रूर मानसिकता का उद्घाटन करने वाली करुणा, कहीं यह अपनी जमीन, अपने वतन से उजड़े हुए लोगों की अन्तर्वेदना से जुडी करुणा है तो कही अपहृत औरतों तथा बलात्कार की घिनौनी वारदातों से जुड़ी हुई करुणा।[1]

अज्ञेय ने 'शरणदाता' कहानी में समय के इस दबाव को एक व्यापक अर्थ प्रदान किया है। रफीकुद्दीन अपने अभिन्न मित्र देविन्दरलाल को दंगे के दिनों में भी भारत नही जाने देते, बलपूर्वक रोक लेते है। खतरे का आभास मिलने पर सुरक्षा के लिये वे देविन्दरलाल को अपने घर ले जाते हैं। उसी दिन शाम को देविन्दरलाल का घर लूट लिया जाता है और रफीकुद्दीन आंखो मे पराजय लिये चुपचाप देखते रह जाते है। धीरे-धीरे देविन्दरलाल को रफीकुद्दीन की बातों में कुछ चिन्ता, कुछ पीड़ा का स्वर सुनाई पड़ता है। अन्त में जब देविन्दरलाल की वजह से रफीकुद्दीन को जलील होना पड़ता है, खतरा भी उठाना पड़ता है, देविन्दरलाल स्वयं वहाँ से हट जाने का आग्रह करते हैं। सुरक्षा की तलाश मे अब वे रफी-

1. सिक्का बदल गया : सं० डॉ० नरेन्द्र मोहन, सीमान्त पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1975, 'विभाजन की भूमिका और एक कथा संसार', पृ० 19

कुद्दीन के मित्र शेख अताउल्लाह की शरण में पहुँचते हैं। वहीं एक दिन फुल्कों की तह के बीच पड़ी कागज की पुड़िया उनके हाथ लगती है। उसपर एक सतर लिखी हुई है। "खाना कुत्ते को खिलाकर खाइयेगा।" देविन्दरलाल सन्न रह जाते हैं। आश्रयदाता के यहाँ से आये इस खाने को खाकर देविन्दरलाल के एकान्त के साथी बिलार की मृत्यु हो जाती है। देविन्दरलाल आँगन की दीवार फाँदकर बाहर फाँद जाते हैं और बाद में सुरक्षित दिल्ली पहुँचने में सफल होते हैं।

डेढ़ महीने बाद अपने घरवालों का पता लेने के लिए जब देविन्दरलाल अपना पता देकर दिल्ली रेडियो से अपील करता रहा है, उन्हें लाहौर के मुहर-वाली छोटी-सी चिट्ठी मिलती है जो शेख अताउल्लाह की पुत्री जैबू द्वारा लिखी गयी है "अब्बा ने जो किया या करना चाहा, उसके लिये मैं माफी माँगती हूँ और यह भी याद दिलाती हूँ कि उसकी काट मैंने ही कर दी थी। अहसान नहीं जताती—मेरा कोई अहसान आप पर नहीं है—सिर्फ यह इल्तजा करती हूँ कि आपके मुल्क में अकलीयत का कोई मजलूम हो तो याद कर लीजिएगा। इसलिए नहीं कि वह मुसलमान है, इसलिए कि आप इनसान हैं।"[1] देविन्दरलाल चिट्ठी की छोटी सी गोली बनाकर उड़ा देते हैं।

इस कहानी में अज्ञेय ने परिवेश के दबाव को व्यापक अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की है। देविन्दरलाल और रफीकुद्दीन अभिन्न मित्र हैं, मनुष्य हैं, परिवेश का दबाव उन्हें हिन्दू और मुसलमान बनाता है, आश्रयदाता और आश्रित बनाता है। किन्तु दोनों की मानवीयता बनी रहती है, विश्वास बने रहते हैं। धीरे-धीरे रफीकुद्दीन के विश्वास परिवेश के दबाव में दरकते हैं। वह आश्रयदाता है, इसलिए दबाव उस पर अधिक है, किन्तु उसका आत्मविश्वास भी इस दबाव में किसी समर्थ सहारे की तलाश करता है। यहाँ तक कहानी का रचनात्मक धरातल व्यक्ति के मानवीय संदर्भों को प्रतिकूल परिप्रेक्ष्य में रखकर निर्मित होता है और मानवीय विवशता का एक तीखा बोध यहाँ उभरता है। अपनी विवशता में व्यक्ति निरीह हो सकता है, असमर्थ हो सकता, किन्तु अमानवीय तब तक नहीं हो सकता, जब तक वह विभाजित न हो जाये। कहानी का दूसरा रचनात्मक धरातल परिवेश के दबाव में विभाजित होता मनुष्य एवं मनुष्यता के क्रमशः विभाजित होते सन्दर्भ हैं। शेख अताउल्लाह रफीकुद्दीन की भाँति विवश नहीं है। पूरी सामर्थ्य से वह देविन्दरलाल की रक्षा कर सकता है, किन्तु काल-प्रवाह में उसकी मान्यताएँ पूर्णतया खण्डित हो चुकी हैं, नैतिक मूल्य बदल चुके हैं। मानवीय संवेदनाओं का अवमूल्यन हो चुका है, इसी कारण वह देविन्दरलाल को भोजन में जहर दे देता है।

---

1. शरणदाता—अज्ञेय : अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ—2 : सोरटवी पयबक्सिक पृ० 256

रफीकुद्दीन और शेख अताउल्लाह विभाजन-काल के विभिन्न आयाम हैं, विश्वासों के दायरे व्यक्तिगत होते है और तब तक उनकी रक्षा होती है, जब तक कोई प्रतिकूल दबाव नहीं पड़ता। इस दबाव के भी विभिन्न आयाम होते हैं। या तो व्यक्ति विवशताओं से घिरकर पराजित हो जाये या पूर्णतया समझौतावादी होकर स्वयं बदल जाए। विभाजन काल मे दोनो तरह के उदाहरण मिले। इन दोनों के आपसी टकराव मे देविन्दरलाल के रूप में मानवीयता के दर्शन होते हैं। जब देविन्दरलाल के आश्रयदाता रफीकुद्दीन को उनकी वजह से जलील होना पड़ता है, धमकियाँ सुननी पड़ती हैं, देविन्दरलाल खतरे की परवाह किए बिना वहाँ से जाने को प्रस्तुत हो जाते है। विषाक्त वातावरण और मानवीय मूल्यो के अवमूल्यन ने देविन्दरलाल को जो कुछ भोगने पर मजबूर किया है, उसके कारण उनके लिए मानवीय सदाशयता के नाम पर की गई अपील अर्थहीन हो गयी है। इसी कारण वे जैबु के पत्र को चुटकी से मसल कर फेंक देते हैं। जैबू के चरित्र द्वारा अज्ञेय ने उन आदर्शों की स्थापना का प्रयास किया है, जिन्हे वे मानवीय विवेक के नाम पर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। अपने पूरे परिवार की इच्छा और योजनाओं के विरोध में जाकर जैबू देविन्दरलाल को खाने में विष के प्रति सचेत करती है, इस प्रकार उस कुटिल वातावरण में भी वह शरण मे आए हुए की रक्षा का धर्म निभा जाती है।

बदला

'शरणदाता' के विपरीत हिंसा और घृणा मे परिपूर्ण विभाजन का परिवेश मानव-मूल्यों के अवमूल्यन के स्थान पर मानवीय भावों का उदात्तीकरण करता है। अँधेरे डिब्बे मे बच्चो सहित चढने वाली सुरैया सिख सहयात्रियों को देखकर भय से काँप उठती है, किन्तु बड़ी उम्र का सिख उसे आश्वस्त करता है। यह ज्ञात होने पर कि सिख शेखूपुरे का शरणार्थी है, एक हिन्दू सहयात्री सहानुभूति प्रकट करने के बहाने बड़ी दिलचस्पी से सिख के परिवार के लोगों का हाल पूछता है, मुसलमानों ने जो अत्याचार हिन्दुओं और सिखों पर ढाये है, उनका हवाला देते हुए निर्लज्जता से औरतों की दुर्दशा के चित्र खींचने को उद्यत दीखता है। सिख उनकी नकली हमदर्दी स्वीकारने को आगे नहीं बढता" मुझसे आप हमदर्दी कर सकते होते-उतना दिल आप मे होता तो जो बातें आप सुनाना चाहते हैं उनसे शर्म के मारे आप की जबान बन्द हो गई होती-सिर नीचा हो गया होता।" सिख के लिए औरत की बेइज्जती औरत की बेइज्जती है, वह हिन्दू या मुसलमान की नहीं, वह इन्सान की माँ की बेइज्जती है। शेखूपुरे मे उसके साथ जो हुआ सो हुआ—वह जानता है कि वह उसका बदला कभी नहीं ले सकता—क्योंकि उसका बदला हो ही नहीं सकता। वह बदला दे सकता है और वह यही कि उसके साथ जो हुआ है, वह और किसी के साथ नहीं हो। इसीलिए वह दिल्ली और अलीगढ के बीच इधर और उधर लोगों को पहुँचाता है। उसके दिन भी कटते हैं और कुछ बदला भी वह चुका पाता है, और इसी तरह अगर किसी

कुद्दीन के मित्र शेख अताउल्लाह की देख-रेख में पहुँचते हैं। वहीं एक दिन फूलों की तह के बीच पड़ी कागज की पुड़िया उनके हाथ लगती है। उसपर एक सतर लिखी हुई है। "खाना कुत्ते को खिलाकर खाइयेगा।" देविन्दरलाल सब समझ जाते हैं। आश्रयदाता के यहाँ से आये इस खाने को खाकर देविन्दरलाल के एकान्त के साथी बिलार की मृत्यु हो जाती है। देविन्दरलाल आँगन की दीवार फाँदकर बाहर कूद जाते हैं और बाद में सुरक्षित दिल्ली पहुँचने में सफल होते हैं।

डेढ़ महीने बाद अपने घरवालों का पता लेने के लिए जब देविन्दरलाल अपना पता देकर दिल्ली रेडियो से अपील करवा रहे हैं, उन्हें लाहौर के मुहर वाली छोटी-सी चिट्ठी मिलती है जो शेख अताउल्लाह की पुत्री जैबू द्वारा लिखी गयी है "अब्बा ने जो किया या करना चाहा, उसके लिये मैं माफी माँगती हूँ और यह भी याद दिलाती हूँ कि उसकी काट मैंने ही कर दी थी। अहसान नहीं जताती—मेरा कोई अहसान आप पर नहीं है—सिर्फ यह इल्तजा करती हूँ कि आपके मुल्क में अकलीयत का कोई मजलूम हो तो याद कर लीजियेगा। इसलिए नहीं कि वह मुसलमान है, इसलिए कि आप इनसान हैं।"[1] देविन्दरलाल चिट्ठी की छोटी सी गोली बनाकर उड़ा देते हैं।

इस कहानी में अज्ञेय ने परिवेश के दबाव को व्यापक अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की है। देविन्दरलाल और रफ़ीकुद्दीन अभिन्न मित्र हैं, मनुष्य हैं, परिवेश का दबाव उन्हें हिन्दू और मुसलमान बनाता है, आश्रयदाता और आश्रित बनाता है। किन्तु दोनों की मानवीयता बनी रहती है, विश्वास बने रहते हैं। धीरे-धीरे रफ़ीकुद्दीन के विश्वास परिवेश के दबाव में दरकते हैं। वह आश्रयदाता है, इसलिए दबाव उस पर अधिक है, किन्तु उसका आत्मविश्वास भी इस दबाव में किसी समर्थ सहारे की तलाश करता है। यहीं पर कहानी का रचनात्मक धरातल व्यक्ति के मानवीय संदर्भों को प्रतिकूल परिवेश में रखकर निर्मित होता है और मानवीय विवशता का एक तीखा व्यंग्य यहाँ उभरता है। अपनी विवशता में व्यक्ति निरीह हो सकता है, असमर्थ हो सकता, किन्तु अमानवीय तब तक नहीं हो सकता, जब तक वह विभाजित न हो जाये। कहानी का दूसरा रचनात्मक धरातल परिवेश के दबाव में विभाजित होता मनुष्य एवं मनुष्यता के क्रमशः विभाजित होते सन्दर्भ हैं। शेख अताउल्लाह रफ़ीकुद्दीन की भाँति विवश नहीं है। पूरे सामर्थ्य से वह देविन्दरलाल की रक्षा कर सकता है, किन्तु काल-प्रवाह में उसकी मान्यताएँ पूर्णतया खण्डित हो चुकी हैं, नैतिक मूल्य बदल चुके हैं। मानवीय संवेदनाओं का अवमूल्यन हो चुका है, इसी कारण वह देविन्दरलाल को भोजन में जहर दे देता है।

---

1. शरणदाता—अज्ञेय : अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ 2 : [illegible] पृ० 256

रफीकुद्दीन और शेख अताउल्लाह विभाजन-काल के विभिन्न आयाम हैं, विश्वासों के दायरे व्यक्तिगत होते हैं और तब तक उनकी रक्षा होती है, जब तक कोई प्रतिकूल दबाव नहीं पड़ता। इस दबाव के भी विभिन्न आयाम होते है। या तो व्यक्ति विवशताओं से घिरकर पराजित हो जाये या पूर्णतया समझौतावादी होकर स्वयं बदल जाए। विभाजन काल में दोनों तरह के उदाहरण मिले। इन दोनों के आपसी टकराव में देविन्दरलाल के रूप में मानवीयता के दर्शन होते हैं। जब देविन्दरलाल के आश्रयदाता रफीकुद्दीन को उनकी वजह से जलील होना पड़ता है, धमकियाँ सुननी पड़ती है, देविन्दरलाल खतरे की परवाह किए बिना वहाँ से जाने को प्रस्तुत हो जाते हैं। विषाक्त वातावरण और मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन ने देविन्दरलाल को जो कुछ भोगने पर मजबूर किया है, उसके कारण उनके लिए मानवीय सदाशयता के नाम पर की गई अपील अर्थहीन हो गयी है। इसी कारण वे जैबू के पत्र को चुटकी से मसल कर फेंक देते हैं। जैबू के चरित्र द्वारा अज्ञेय ने उन आदर्शों की स्थापना का प्रयास किया है, जिन्हें वे मानवीय विवेक के नाम पर प्रतिष्ठित देखना चाहते है। अपने पूरे परिवार की इच्छा और योजनाओं के विरोध में जाकर जैबू देविन्दरलाल को खाने में विष के प्रति सचेत करती है, इस प्रकार उस कुटिल वातावरण में भी वह शरण में आए हुए की रक्षा का धर्म निभा जाती है।

बदला

'शरणदाता' के विपरीत हिंसा और घृणा से परिपूर्ण विभाजन का परिवेश मानव-मूल्यों के अवमूल्यन के स्थान पर मानवीय भावों का उदात्तीकरण करता है। अंधेरे डिब्बे मे बच्चों सहित चढने वाली सुरैया सिख सहयात्रियों को देखकर भय से काँप उठती है, किन्तु बड़ी उम्र का सिख उसे आश्वस्त करता है। यह ज्ञात होने पर कि सिख शेखूपुरे का शरणार्थी है, एक हिन्दू सहयात्री सहानुभूति प्रकट करने के बहाने बड़ी दिलचस्पी से सिख के परिवार के लोगों का हाल पूछता है, मुसलमानों ने जो अत्याचार हिन्दुओं और सिखो पर ढाये हैं, उनका हवाला देते हुए निर्लज्जता से औरतों की दुर्दशा के चित्र खींचने को उद्यत दीखता है। सिख उनकी नकली हमदर्दी स्वीकारने को आगे नहीं बढ़ता" मुझसे आप हमदर्दी कर सकते होते—उतना दिल आप मे होता तो जो बातें आप सुनाना चाहते हैं उनसे शर्म के मारे आप की जबान बन्द हो गई होती—सिर नीचा हो गया होता।" सिख के लिए औरत की बेइज्जती औरत की बेइज्जती है, वह हिन्दू या मुसलमान की नहीं, वह इन्सान की माँ की बेइज्जती है। शेखूपुरे मे उसके साथ जो हुआ सो हुआ—वह जानता है कि वह उसका बदला कभी नहीं ले सकता—क्योंकि उसका बदला हो ही नहीं सकता। वह बदला दे सकता है और वह यही कि उसके साथ जो हुआ है, वह और किसी के साथ नहीं हो। इसीलिए वह दिल्ली और अलीगढ के बीच इधर और उधर लोगों को पहुँचाता है। उसके दिन भी कटते हैं और कुछ बदला भी वह चुका पाता है, और इसी तरह अगर किसी

दिन कोई उसे मार देता तो बदला पूरा हो जायेगा—चाहे मुसलमान मारे चाहे हिन्दू ! उसका उद्देश्य तो इतना ही है कि चाहे हिन्दू हो, चाहे सिख, चाहे मुसलमान, जो उसने देखा है, वह किसी को न देखना पड़े, और मरने से पहले उसके घर के लोगों की जो गति हुई, वह ईश्वर न करे, किसी की बहू-बेटियों को भुगतनी पड़े ।"[1]

सिख का चरित्र इस तथ्य का परिचायक है कि अपना सब कुछ खोकर भी मनुष्य अपना विवेक, विश्वास, अर्न्तदृष्टि और सन्तुलन कायम रख सकता है। इसी कारण दंगों में सब कुछ लुट जाने पर भी उसके मन में मुस्लिम सम्प्रदाय के प्रति दुर्भावना उत्पन्न नहीं होती और उस सम्प्रदाय के लोगों की रक्षा वह एक मित्र की हैसियत से करता है। उसका अपना दुःख उसे औरों के दुःख से जोड़ता है। वह मनुष्य को धर्म के खानों में बाँटकर देखने की मानसिकता से ऊपर उठ चुका है। उसका लक्ष्य विभाजन की त्रासदी को भोगती घायल मानवता की रक्षा का है। वस्तुतः यह कहानी विभाजन के वातावरण में विघटित होते मानवीय मूल्यों, जिनका प्रतिनिधित्व डिब्बे में बैठे हिन्दू महोदय करते हैं, के बीच किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित मानवीय मूल्यों की है। सिख पात्र निराशा और घृणा के अमानवीय माहौल में जीवित मानवीय चेतना का प्रतीक है।

लैटर बॉक्स :

अज्ञेय की 'लैटर बॉक्स' शीर्षक कहानी भी परिवेश के दबाव से आक्रान्त निरीह मनुष्य का करुण चित्र है। पेशावर का रोशन नामक बालक कैम्प में अपने पिता की प्रतीक्षा कर रहा है। उसकी माँ मर चुकी है। वह अपने पिता तक पत्र पहुँचाना चाहता है लेकिन उनका पता उसे मालूम नहीं। चेहरे पर सीमाहीन धैर्य का भाव लिए लेटर-बॉक्स के पास खड़ा वह उस व्यक्ति की प्रतीक्षा कर रहा है जो उसे बता दे कि वह अपनी चिट्ठी किस पते पर छोड़े ताकि वह बाबू जी को मिल जाय।[2]

विभाजन के भयानक दुष्परिणामों को भोगता यह अभागा निरीह बालक उन सैकड़ों बालकों का प्रतिनिधि है, विभाजन ने जिनका वर्तमान और भविष्य सब कुछ छीन लिया है, और विभाजन के समय देखे गये हत्याकाण्ड के दृश्यों ने उनके कोमल मस्तिष्क पर जो छाप छोड़ी है, उसने जीवनभर के लिए एक जलता हुआ नरक उन्हें दे दिया है। विभाजन की अमानवीय परिस्थितियों ने रोशन जैसे बालकों को बिल्कुल अकेला कर दिया है। उसके पिता कहाँ हैं; जीवित हैं भी अथवा नहीं, कुछ न ज्ञात होने पर भी वह झूठी आशा की डोर थामे उस व्यक्ति की प्रतीक्षा कर रहा है, जो उसके पिता का पता बता देगा। उसकी यह अन्तहीन प्रतीक्षा मानवीय करुणा को

1. 'बदला'—अज्ञेय, पृ० 275.
2. लैटर बॉक्स वही : पृ० 243

गहरे स्तर पर जगाती हैं। अपनी भूमि से उखड़ कर आने वाले लोग जहाँ एक ओर अपने वतन से अलग होने की त्रासदी को झेल रहे हैं, वहीं दूसरी ओर मानसिक स्तर पर वे अकेलेपन की भयानक व्यथा झेलने को भी मजबूर हैं। शेखूपुरे के वीरावाली गाँव से चलकर जो काफिला जालंधर पहुँचता है, उसमे पहले दिन का एक भी साथी शेष नही रहा है।

विभाजनकालीन परिस्थितियो से प्रभावित निरीह मनुष्य की वेदना के चित्रण के साथ अज्ञेय उस मानसिकता का भी चित्रण करते है विभाजन से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मे प्रभावित न होने के कारण इतनी बड़ी दुर्घटना और दुर्घटना के शिकार सैकडो निरीह मनुष्यो को बिल्कुल अनदेखा कर देती है। कहानी के 'मैं' का अपना कोई शरणार्थी कैंप मे नही है, किन्तु जिन-जिन अपनो का पता वह लेना चाहता है। प्रायः सभी का कोई-न-कोई साथी वहाँ मिल गया है, और सबकी खबर उसे मिल गयी है। इसी कारण वह आश्वस्त है। "कितनी बड़ी-से-बडी दुर्घटना को मनुष्य 'न-कुछ' करके निकाल देता है। यदि वह कह सके कि मेरे अपनो की कोई क्षति नही हुई।"[1]

रमंते तत्र देवता

अज्ञेय की 'रमंते तत्र देवताः' विभाजनकालीन अमानवीय परिवेश की पृष्ठ-भूमि में हिन्दू समाज की खोखली मान्यताओ, विघटित मानव-मूल्यो तथा स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध मे उसके दोहरे विचार-मूल्यो का व्यंग्यपूर्ण उद्घाटन है।

अक्तूबर सन् 1946 का कलकत्ता इस कथा का वण्य विषय है, जब कलकत्ते के लोग दंगे, हत्या और लूट-पाट के आदी हो गये थे। शहर छोटे-छोटे हिन्दुस्तान-पाकिस्तान मे बँट गया था। किन्तु कुछ मुहल्ले ऐसे भी थे जिनमे हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की सीमाएँ नही बाँधी जा सकती थी। ऐसे मुहल्लो में विस्फोट होने पर लोग अपने-अपने किवाड़ बन्द कर जहाँ-के-तहाँ रह जाते, बाहर गये हुये शाम को घर न लौट कर बाहर ही कही रात काट देते, और दूसरे-तीसरे दिन तक घर के लोग यह न जान पाते कि गया हुआ व्यक्ति इच्छा-पूर्वक कही रह गया है या कही रास्ते मे मारा गया है···[2]

कहानी का 'मैं' बालीगंज के शांत इलाके का निवासी है। आतंक के दूसरे दिन अपने शातिप्रिय, उदार पडोसी सरदार बिशन सिंह को अन्य सिख सरदारों के साथ लम्बी किरपान लगाकर जाते देख उसे आश्चर्य और कौतूहल होता है। बाद मे पता चलता है कि कल शाम सरदार त्रिशनसिंह ने एक डरी और घबड़ाई हुई बंगाली स्त्री को गुरुद्वारे मे आश्रम दिया था। सुबह जब वे स्त्री के साथ उसके घर पहुँचे,

---

1. लेटर बॉक्स : अज्ञेय, पृ० 239.
2. रमंते तत्र देवताः —वही, पृ० 263.

रात बाहर बिताकर आयी स्त्री को उसके घर में प्रवेश की अनुमति नहीं मिली। निरुपाय सरदार जी उस स्त्री का साथ ले जाय। बाद में वे तीन सरदारों के साथ स्त्री के घर गये। अन्ती को देख पतिदेवता की कुछ अक्ल आई और उन्होंने पत्नी को गृह-प्रवेश की अनुमति दे दी। स्त्री मौन अपराध का बोझ लिए घर के अन्दर चली गई और विशन सिंह साथियों सहित लौट आये। ऊपर से देखने से लगता है कि बात खत्म हो गई। लेकिन क्या बात वास्तव में खत्म हो गई है?

इस कहानी में अज्ञेय ने विभाजन के सन्दर्भ में हिन्दू धर्म की जड़ता, पाखण्ड और रूढ़िवादिता पर प्रहार करते हुए हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के एक मूलभूत कारण के विषय में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। वे मानते हैं कि अधिकांश निम्नवर्गीय हिन्दुओं के मुस्लिम धर्म स्वीकारने की सबसे बड़ी जिम्मेदारी सवर्ण हिन्दू-वर्ग की ही थी। "सारे मुसलमान अरब और फारस या तातार से नहीं आये थे। सौ में एक होगा जिसको हम आज अरब या फारस या तातार की तरह कह सकें। और मेरा तो ख्याल है—ख्याल नहीं तजरुबा है कि अरब या ईरानी बड़ा नेक, मिलनसार और अमनपसन्द होता है।......बाकी सारे मुसलमान कौन हैं? हमारे भाई, हमारे मजलूम जिनका मुँह हम हजारों बरसों से मिट्टी में रगड़ते आये हैं। वही, आज वही मुँह उठाकर हम पर थूकते हैं तो हम बुरा मानते हैं। वह मुसलमान हैं, इसलिए हम खिसिया कर अपने और भाइयों को पकड़ कर उनका मुँह मिट्टी में रगड़ते हैं। और भाइयों को ही क्यों, बहिनों को पैरों के नीचे रौंदते हैं...... मुसलमान हैं कौन? मजलूम हिन्दू ही तो मुसलमान है।"[1] हमने जिनसे हिकारत की, वह हमसे नफरत करे तो क्या बुरा करता है—"[2] इसी क्रम में अज्ञेय हिन्दू धर्म के थोथे मूल्यों और मान्यताओं पर प्रहार करते हैं। हिन्दू धर्म एक ओर तो मानता है कि जहाँ स्त्रियाँ पूजी जाती हैं, वहाँ देवता निवास करते हैं; दूसरी ओर वह स्त्रियों से दासी सा व्यवहार करता है। कहानी के पति महोदय स्वयं मित्र के यहाँ सुरक्षित रात बिताकर घर आये हैं, किन्तु जब पत्नी गुरुद्वारे में रात व्यतीत कर घर लौटती है, वे उसे घर में नहीं घुसने देते। पति कहे जाने वाले उस पशु के पास विवश और निरीह स्त्री को लौटना पड़ता है, उसके लिए और कोई राह नहीं है। बिना अपराध के वह जैसे निरन्तर झुकती और छोटी होती चली जाती है। अब उस स्त्री का क्या होगा? "बंगाल में आये दिन अखबारों में पढ़ने को मिलता है कि स्त्री ने सास या ननद या पति के अत्याचार से दुःखी होकर आत्महत्या कर ली, जहर खा लिया या कुएँ में कूद पड़ी। और......कभी-कभी ऐसे एक्सीडेण्ट भी होते हैं कि स्त्री के कपड़ों में आग लग

1. रमन्ते तत्र देवता : : अज्ञेय, पृ० 264.

2 वही, पृ० 265

गयी ......[1] हिन्दू धर्म उदार है, मारता नहीं, मरने का सब तरह से सुभीता कर देता है।[2] ऐसे आदमी का इन्साफ क्या हो ? यही कि 'वह औरत घर से दुतकारी जाकर मुसलमान हो, मुसलमान जने, ऐसे मुसलमान जो एक-एक सौ-सौ हिन्दुओं को मारने की कसम खाये।......देवताओं का इन्साफ तो हमेशा से यही चला आया है। नहीं तो यह जंगल यहाँ उगा कैसे, जिसमें आज हम-आप खो गये हैं और क्या जाने कभी निकलेंगे कि नहीं ? हम रोज दिन में कई बार नफरत का नया बीज बोते है और जब पौधा फलता है तो चीखते हैं कि धरती ने हमारे साथ धोखा किया।"[3]

नफरत के इस बीज ने अविश्वास और हिंसा का जो पौधा तैयार किया है, उसी का फल है साम्प्रदायिक दंगे। सन् 1946 का कलकत्ता शहर दंगों का इतना आदी हो गया है कि इक्के-दुक्के खून और लूट-पाट की घटनाएँ पढ़ कर तन नहीं सिहरता, न शहर की शान्ति भंग होने का अहसास ही होता है। विभाजित मानसिकता के परिणामस्वरूप शहर भी छोटे-छोटे हिन्दुस्तान-पाकिस्तान में बँट गया है। इस बँटी हुई जीवन-प्रणाली को लेकर भी लोग दिन काट रहे है, मान बैठे है कि "जैसे जुकाम होने पर एक नासिका बन्द हो जाती है तो दूसरी से श्वास लिया जाता है......वैसे ही श्वास की तरह नागरिक जीवन भी बँट गया तो क्या हुआ......एक नासिका ही नहीं, एक फेफड़ा भी बन्द हो जा सकता है और उसकी सड़न का विष सारे शरीर में फैलता है और दूसरे फेफड़े को भी आक्रान्त कर लेता है, इतनी दूर तक रूपक को घसीट ले जाने की क्या जरूरत ?"[4] किसी भी परिस्थिति या घटना के दूरगामी प्रभावों को अनदेखा करने वाली मानसिकता ने भी विभाजन की पृष्ठभूमि तैयार करने में सहयोग दिया है, दंगे और खून-खराबे की जड़ें रोप कर उन्हें सींचा है। ऐसे अनेक अनुत्तरित प्रश्न यह कहानी हमारे सामने उपस्थित करती है।

'मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई' :

अज्ञेय की 'मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई' विभाजन के सन्दर्भ में मनुष्य की मानसिकता के एक भिन्न पक्ष का उद्घाटन करती है। विभाजन के समय फैली दहशत से घबड़ाकर सरदारपुरे की तीन अधेड़ स्त्रियाँ—आमिना, जमीला और सकीना पाकिस्तान जाने का निश्चय करती हैं। तीनों के पति बाहर है और इस अनिश्चय के माहौल में पतियों को कोई सूचना भी उन्हें नहीं मिली है। स्टेशन में गाड़ी आते ही लोग उसपर टूट पड़ते है; तीनों स्त्रियाँ गाड़ी पर चढ़ने में असमर्थ रहती है। तब वे उस स्पेशल ट्रेन से जाने का निश्चय करती हैं, जो दिल्ली से सीधे पाकि-

1. रमन्ते तत्र देवता :: अज्ञेय, पृ० 269.
2. वही, पृ० 269.
3. वही, पृ० 269-270.
4. वही, पृ० 262.

स्तान जा रही है। ट्रेन आते ही वे जनाने डिब्बे की ओर लपकती हैं। आभिजात्य दर्प से भरी डिब्बे की स्त्रियाँ उन्हें झिड़क देती हैं। विरोध करने पर वे बगल के डिब्बे से अपने अफसर भाई को बुला लेती हैं। तीनों को बुरी तरह फटकारने और झिड़कने के बाद 'असगर भैया' अपने डिब्बे में चढ़ जाते हैं। पाकिस्तान स्पेशल चली जाती है और तीनों स्त्रियाँ सन्नाटे में खड़ी रह जाती हैं।

यहाँ अज्ञेय ने इस तथ्य की व्यंजना की है कि कोई भी वर्ग चेतना धर्म और मजहब से नहीं, अपने वर्ग हितों से अनुशासित होती है। इस्लाम में सब बराबर हैं, लेकिन स्पेशल ट्रेन के सेकेण्ड क्लास में अपने अफसरी दर्प से भरे असगर भाई और अपनी उच्च स्थिति को लेकर गर्वित उनके साथ की औरतें आमिना, सकीना और जमीला जैसी सामान्य और साधनहीन औरतों को किसी कीमत पर बराबरी का दर्जा देने को तैयार नहीं। स्पेशल ट्रेन स्पेशल लोगों के लिए है, आमिना, सकीना, जमीला जैसे ऐरा-गैरों के लिये नहीं, इसी कारण इस्लाम का हवाला देकर बराबरी का दावा करने पर उन्हें सुनना पड़ता है "अच्छा रहने दे। बराबरी करने चली है। मेरी जूतियों की बराबरी की है तैने ?"[1] आमिना, सकीना, जमीला जैसी स्त्रियों का यह सरल विश्वास बड़ी निर्ममता से टूटता नजर आता है कि स्पेशल ट्रेन के यात्री अफसर हैं तो क्या, आखिर तो मुसलमान हैं, अपने भाई हैं, उन्हें ट्रेन में बैठने क्यों न देंगे ?[2]

उच्चवर्गीय मानसिकता के इस व्यंग्यपूर्ण उद्घाटन के साथ लेखक विभाजन-कालीन मनःस्थितियों और उसके परिणामस्वरूप निर्मित दहशत भरे माहौल को भी चित्रित करता है। विभाजन ने मानवीय सम्बन्धों में जो अविश्वास, घृणा और द्वेष उत्पन्न किया है, उसकी जड़ है डर, जो छूत की सकामक बीमारी के समान विभाजन के दिनों में फैल रहा था। छूत को कोई न कोई वाहक लाता है, सरदारपुरे में इस छूत को सर्वथा निर्दोष दीखने वाला वाहक अखबार लाता है। अखबार की एक पंक्ति "अफवाह है कि जाटो के कुछ गिरोह इधर-उधर छापे मारने की तैयारियाँ कर रहे हैं।" का आधार लेकर यह खबर उड़ जाती है कि जाटों का एक बड़ा गिरोह हथियारों से लैस सरदारपुरे पर चढ़ा आ रहा है। दहशत के मारे लोग सुरक्षित निकल भागने को गाड़ी पर टूट पड़ते हैं। 'दरवाजों से, खिड़कियों से, जो जैसे घुस सका, भीतर घुसा। जो न घुस सके वे किवाड़ों पर लटक गये, छतों पर चढ गये, या डिब्बों के बीच में धक्का सँभालने वाली कमानियों पर काठी कसकर जम गये।'[3] विभाजन कालीन परिवेश ने एक ओर जहाँ सामान्य जन को पशुओं से

---

1. 'मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई', अज्ञेय, पृ० 261
2. वही, पृ० 258
3. वही, पृ० 258

भी बदतर स्थिति में पहुँचा दिया है, वहाँ दूसरी ओर स्पेशल ट्रेन में आराम से यात्रा कर रहे सरकारी मुलाजिम अपने से छोटो को हिकारत की दृष्टि से देखकर अपने अभिजात दर्प में डूबे हुए झपटी गयी सुविधाओ को भोग रहे हैं। परिस्थितियो के विरोधाभास का अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण चित्र यहाँ अज्ञेय ने प्रस्तुत किया है।

नारंगियाँ :

अज्ञेय की 'नारंगियाँ' शीर्षक कहानी विपन्न और साधनहीन शरणार्थियों के हृदय की विशालता और संवेदना को उजागर करती है। हरसू और परसू जैसे शरणार्थियो के माध्यम से लेखक ने शरणार्थियों की उदारता को रेखांकित किया है।

एक दिन मोहल्ले वाले देखते हैं कि हरसू ने मोहल्ले के बाहर की सड़क पर बोरिये का टुकड़ा बिछाकर उस पर नारंगियाँ सजाकर दुकान कर ली है। जब से हरसू और परसू दोनो भाई अचानक आकर मुहल्ले के सिरे की पुरानी दीवार की एक मेहराब के नीचे घर बनाकर जम गये थे, तब से किसी ने उनको काम करते हुये या काम की तलाश भी करते हुए कभी नही देखा था।...किसी ने उन्हे कभी भीख माँगते नही देखा, चोरी करते कम से कम देखा तो कभी नहीं, यद्यपि यह सब समझते थे कि दोनो भाई अगर कुछ लेकर नहीं आये हैं और कुछ कमाते भी नही है तो चोरी के बिना कैसे काम चलता होगा। हाँ, चोर जैसे वे दीखते भी नही थे ... और दोनो का बर्ताव कुछ ऐसा शालीनता-भरा होता था कि किसी को कुछ पूछने का साहस भी नही होता था।[1] अब हरसू ने नारंगियो की दुकान लगायी है और परसू कुछ दूर पुलिया पर बैठा हुआ बड़ी अवज्ञा से हरसू और दुकान की ओर देख रहा है। मोहल्ले के दो-चार बच्चे नारंगियो की दुकान के आस-पास इकट्ठे हो जाते है। एक छोटी लड़की नारंगियों की ओर इशारा करते हुए टुकुर-टुकुर हरसू की ओर देखने लगती है। हरसू एक क्षण के लिये उसकी ओर देखता है, फिर दो नारंगियाँ उठाकर लड़की को दे देता है। नारंगियों के आस-पास दो-चार बच्चे फिर इकट्ठे हो गये हैं। एक के हाथ में इकन्नी है। इकन्नी और नारंगी के विनिमय के बाद वह बच्चा विजय से भरा हृदय लिये नारंगी छीलकर खाने लगता है। आस-पास एकत्र अधनंगे बच्चे उसे देखते रहते हैं। परसू हरसू से बच्चो को एक-एक नारंगी दे देने का आग्रह करता है। हरसू अचकचा कर कहता है "कहाँ से दे दूँ सबको ? फिर तू ही कहता है कि दुकान कैसे चलेगी और कल को माल कहाँ से खरीद कर लाऊँगा।"[2] परसू कहता है "अबे बस, यही है तेरा रिफ्यूजी का जिगरा ? अबे जानता नही, हम सब लोग पीछे बड़ी-बड़ी जायदादे छोड़ कर आये हैं। और देखता

---

1. नारंगियाँ,—अज्ञेय, पृ० 376
2 वही, पृ० 380

नहीं, यहाँ भी किसी ने फिर शायद नहीं कर दी है।² "बस पैसे में देता हूँ—मिला सबको नारंगियाँ !" परन्तु अपनी कहीं जेब में एक अठन्नी निकालकर हरमू की ओर फेंकता है। हरमू चुपचाप कुछ नारंगियाँ उठाकर बच्चों को बाँट देता है। अब हरमू बाकी पैसे लौटाना चाहता है, परन्तु वह ... "आगे भी तो, अन्ने आयेंगे—उन्हें दे देना।" ... लोग भी क्या कहेंगे कि हरमू ... करने लगा तो दिन-आत्मा भी बेचकर खा गया।"³ हरमू की आँखें नारंगियों की तरह गूँगी और सूखी हुई हो गयी हैं और उसके कान नीम की सरसराहट में अनसुनी छिप गये हैं।

और परसू के पहले कई बार ऐसे भी दिन आये हैं, जब उसकी दोनों जेबों में दो-दो अठन्नियाँ हुई हैं और उसने नहीं जाना कि क्यों, और ऐसे भी जब कि जेब में कुछ नहीं है और वह नहीं सोचता कि तो फिर क्या ! वह वहीं पुड़िया पर फिर लेटकर नीम के ऊपर छाये आसमान की ओर देखने लगता है। आसमान की ही काली, गहरी और अन्तहीन है उसकी आँखें।⁴

यह कहानी साधनहीन, टूटे हुए हरमू परसू की उदारता को उजागर करने के साथ-साथ उनकी कुछ त्रुटियों को भी रेखांकित करती है, जिससे शरणार्थियों के उस वर्ग की मनःस्थिति का परिचय मिलता है, विभाजन के कारण बदली हुई परिस्थितियों से जिसका समझौता करना कठिन हो रहा है। आशय है कि हरमू-परसू नारंगियाँ ऐसी जगह बेच रहे हैं जहाँ उनका खरीदार कोई नहीं है। उन्हें नारंगियाँ ऐसी जगह बेचनी चाहिए थीं, जहाँ उन्हें खरीदने की सामर्थ्य वाले लोग होते। इस विरोधाभास में नारंगियाँ प्रतीक बनकर उभरती हैं। वह है आभिजात्य संस्कार। संस्कार आभिजात्य भी तभी हो सकते हैं जब व्यक्ति भूखा नहीं हो, संस्कृति तभी कोई अर्थ रखती है जब जीवन की दैनान्दिन की आवश्यकताएँ भी पूरी हों। दूसरी ओर संस्कार चूँकि एक दिन में नहीं बनते, इसलिए एक दिन में टूट भी नहीं सकते। व्यक्ति विपन्नावस्था में भी अपने संस्कारों के हाथों विवश है, किन्तु ऐसे संस्कारों के वशीभूत होकर वह अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय नहीं पा सकता। सम्पूर्ण अतीत से, अपनी संस्कृति से कटना संभव नहीं है किन्तु जीवन गति और प्रवाह है। यह गति समय की गति के समयोग्य होनी चाहिए, थोड़ा भी पिछड़ जाने पर फिर समय के साथ होना कठिन होता है। 'ग्रहण' हमें, हमारी मानसिकता और संस्कृति को जीवन्त बनाता है। लेखक ने अत्यन्त सूक्ष्मता से जीवन-प्रवाह के इस अनिवार्य तत्व की ओर संकेत किया है। परिस्थितियों से

1. नारंगियाँ, अज्ञेय
2. वही
3. वही, पृ० 381
4. वही, पृ० 381

समझौता नहीं कर पाने से रूढिवादिता बढ़ती है और रूढ़िवादिता जिस जडता को जन्म देती है, वह घुन की तरह किसी विकसित संस्कृति के लिये भी घातक सिद्ध होती है।

विभाजन पर चर्चित अज्ञेय की कहानियो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि इन कहानियो मे कहानीकार का प्रमुख लक्ष्य विभाजन के दौरान दम तोड़ती मानवता के चित्रण के साथ-साथ उन सहृदय मनुष्यों की पीड़ा को स्वर देना है जो विभाजन के अमानवीय माहौल मे कुछ न कर पाने, स्थिति के सामने निरुपाय बने रहने की विवशता झेल रहे थे। इन कहानियों के माध्यम से अमानवीयता और हिंसा के माहौल के बीच किसी-न-किसी रूप मे जीवित बची मानवता का चित्रण भी उनका लक्ष्य रहा है। 'बदला' और 'रमन्ते तत्र देवता:' के सरदार, 'नारंगियाँ' के हरसू-परसू तथा 'शरणदाता' की जैबू ऐसे ही पात्र है। अर्थात् अज्ञेय की दृष्टि में स्थिति इतनी निराशाजनक नही थी, जितनी ऊपर से नजर आती थी।

पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र

उग्र की अनेक कहानियों का वर्ण्य-विषय साम्प्रदायिक वैमनस्य है जिसमे उन्होने वैमनस्य के कारणों, उसके दुष्परिणाम तथा उसके उन्मूलन की सभावनाओ पर विचार किया है। उग्र का दृष्टिकोण मूलतः मानवतावादी है। उन पर गांधीजी के हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द सम्बन्धी विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होने अपनी कहानियों मे गांधीजी जैसे आध्यात्मिक पात्रो का सृजन किया है, जो अपनी सेवावृत्ति, आत्मबल, परदुःखकातरता और आध्यात्मिकता के कारण साम्प्रदायिक विद्वेष की आग बुझाने मे सफल होते हैं। ये व्यक्ति धर्म के वास्तविक रूप का परि-चय देने की चेष्टा करते हैं जिससे धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा समाप्त की जा सके।

चौड़ा छुरा

उग्र के कथा संग्रह 'पोली इमारत' में चौड़ा छुरा' नामक कहानी संग्रहीत है जिसमे आजादी के आठ दिन पहले की वस्तुस्थिति और समाज से अस्तव्यस्त जीवन का संस्मरणात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस संक्षिप्त कहानी मे साम्प्रदायिक वैमनस्य से प्रभावित लोगो की मनोवृत्ति का विश्लेषण है। बनारस के बाहर सड़क के किनारे रहने वाली बुढिया के पास चीनी तलवार-सा चौड़ा-लम्बा छुरा है, जो उसके मृत पति की निशानी होने के कारण उसके लिए प्रेम का प्रतीक है। उसका उपयोग वह साग-भाजी काटने के लिये करती है। यही छुरा जो वृद्धा के लिये प्रेम का प्रतीक है, नगर के धर्मान्ध हिन्दू-मुस्लिम युवकों के लिये नर हत्या का साधन है। नगर के दो नवयुवक मुहम्मद और गोपाल, जो इस छुरे को पाने के लिये प्रयत्नशील है, इसी के द्वारा मारे जाते हैं। गोपाल और मुहम्मद में छुरे के लिये जो संघर्ष होता है, उसमें मुहम्मद गोपाल की हत्या कर देता है। बाद मे मुहम्मद भी एक युवक के हाथों मारा जाता है हत्यारा छुरे को जमालो की झोपड़ी के पास

कूड़े के ढेर पर फेंक देता है। जमालो को छुरा मिल जाता है, वह प्रेमविभोर होकर उसे चूम लेती है।

साम्प्रदायिक वैमनस्य के चित्रण के साथ उग्र ने अपनी कहानियों में ऐसे पात्र भी प्रस्तुत किये हैं, जो अपने सेवा भाव और मानव प्रेम द्वारा सभी सम्प्रदायों के विश्वासपात्र बनकर अपने नैतिक प्रभाव द्वारा हिंसा को रोकने का प्रयास करते हैं। इनके प्रयत्नों की सफलता द्वारा कहानीकार ने साम्प्रदायिक सौहार्द की साम्प्रदायिक विद्वेष पर विजय दिखाई है।

खुदाराम

'खुदाराम' शीर्षक कहानी का खुदाराम धार्मिक एकता का प्रतीक है, जो साम्प्रदायिकता के माहौल में अपना विवेक नहीं खोता और अपने निर्भीक नेतृत्व द्वारा मानवतावादी तत्वों—नगर के बालक एवं स्त्रियों को संगठित कर संघर्षोन्मुख हिन्दू-मुस्लिम दलों को संघर्ष से विरत करने में सफल होता है। कहानी का कथानक नवमुस्लिम इनायत अली के हिन्दू-धर्म में दीक्षा के उपलक्ष में निकाली जाने वाली वेद भगवान की शोभा यात्रा के विरोध पर केन्द्रित है। आर्य समाजी वेद भगवान की शोभा यात्रा निकालने के लिये कृतसंकल्प हैं। खुदाराम साम्प्रदायिक सौहार्द की रक्षा हेतु उन्हें ऐसा करने से रोकना चाहता है। शोभा यात्रा के दिन दोनो सम्प्रदायों के लोग संघर्ष के लिए आमने-सामने डट जाते हैं। उसी समय दोनों सम्प्रदायों के बालकों और स्त्रियों के समूह को लेकर खुदाराम वहाँ पहुँच जाता है। एक वृद्ध मुस्लिम महिला प्रश्न करती है "यह क्या हो रहा है? धर्म के नाम पर खून बहाने की क्या जरूरत है? तुम्हें यह शरारत किस शैतान ने सिखाई है? बच्चो! तुम्हारी माँएँ तुम्हें खोकर अन्धी हो जाएँगी. बहिश्त पाने पर भी तुम्हें चैन न मिलेगा। लड़ो मत! खून से पाजी शैतान भले ही खुश हो जाए, पर खुदा कभी नहीं हो सकता।[1] वृद्धा के शब्दों को सुन दोनों दलों के हाथों के शस्त्र नीचे झुक जाते हैं। इस प्रकार खुदाराम और उनका दल अपने नैतिक बल द्वारा साम्प्रदायिक विद्वेष पर विजय पाता है।

मलंग

उग्र की एक और कहानी 'मलंग' में साम्प्रदायिक रक्तपात की पृष्ठभूमि में साधुमना चाचाजी के सत्प्रयत्नों का वर्णन है। भारत-पाकिस्तान की सीमा पर स्थित मलंगपुर कस्बे मे मलंगों की परम्परा रही है। मलंगों के प्रभाव से इस नगर में कभी साम्प्रदायिक उपद्रव नहीं हुए। चाचाजी के सेवाभाव और परोपकार की वृत्ति के कारण लोग उन्हें मलंग मानने की बात सोचने लगते हैं। चाचाजी के अनुसार "अब स्वराज्य हो गया, हमें फिरकापरस्ताना ढंग से सोचना बन्द करना चाहिए और सबको हिन्दुस्तानी मानना चाहिए, न कि हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, या पारसी। ...जब तक दुनिया भर के इन्सान अपने को एक ही

1 खुदाराम—उग्र : ऐसी होली खेलो लाल (कहानी संग्रह), पृ० 87

परिवार का न समझेंगे तब तक विश्वकल्याण असम्भव है।"[1] उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से चारों तरफ अशान्ति रहने पर भी दो महीने तक मलंगपुर में ऊपरी शान्ति बनी रहती है। एक दिन पाकिस्तान से प्राण बचाकर भागने वाले पचास सिख मलंगपुर आते है। उनकी विपत्ति कथा सुन लोगों का खून खौल उठता है। जब किसी लाचार रोगी की दवा के लिए चाचाजी मलंगपुर से बाहर जाते है, पूरा शहर साम्प्रदायिकता की आग में जल उठता है। लौटने पर चाचाजी शहर को बिलकुल बदला हुआ पाते है। दोनो पक्षो को बुरा-भला कहने के बाद वे मुस्लिम मुहल्लों के चक्कर काटते हैं। शाम के वक्त एक दरगाह में घायल भूखे-प्यासे मुसलमान को देख वे उसकी सेवा में जुट जाते हैं। इस प्रकार चाचाजी के चरित्र के माध्यम से कहानीकार ने 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' का सन्देश देने की चेष्टा की है।

शाप :

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के कथ्य पर आधारित एक अन्य कहानी 'शाप' में कहानीकार धर्म के नाम पर अधार्मिक आचरण करने वाले व्यक्तियों को मानवप्रेमी परमहंस बाबा के शाप से नष्ट होते हुए दिखाता है। परमहंस जी की दृष्टि में सभी धर्मावलम्बी समान है। वन-औषधियों के ज्ञाता परमहंस जी अपनी चिकित्सा से अनेक हिन्दू-मुसलमानों का हित-सम्पादन कर चुके हैं। उनके उपकारों को मानने वाला इसहाक उनकी गाय की रक्षा करते हुए मुसलमानों के हाथ मारा जाता है। दुःखी परमहंस जी संघर्ष के लिए सन्नद्ध हिन्दू-मुस्लिम दलों के बीच पहुँच जाते हैं। अपनी गाय सुधा और इसहाक के शव को देख वे दोनो दलो को शाप देते है "यदि ईश्वर या खुदा सच्चा है तो तुम्हारा नाश हो जायेगा और जल्द ही तुम्हारे इस नकली मजहब का लोप हो जायेगा।......वह देखो! खून का तूफान आ रहा है। उसी में पाप को पुण्य, अधर्म को धर्म समझने वाले राक्षसों हिन्दुओं और मुसलमानो का अस्तित्व डूब जायेगा।"[2]

खुदाराम, मलंग और शाप—तीनों कहानियों का सन्देश यह है कि विभिन्न धर्मावलम्बी धर्म के सच्चे स्वरूप को समझे बिना धर्म के नाम पर अधार्मिक आचरण करते हैं। धर्म का मूलमंत्र मानवमात्र से प्रेम करना है, किन्तु द्वेष, स्वार्थ और अविवेक के कारण साधारण व्यक्ति साम्प्रदायिक वैमनस्य को बढ़ाने में सहायक ही होता है। संकट के ऐसे अवसरों पर खुदाराम, मलंग और परमहंस जैसे मानवप्रेमी सभी सम्प्रदायों के विश्वासपात्र होने के कारण उन्हें सही नेतृत्व दे सकते हैं। उग्र के

1. मलंग—उग्र : कथा संग्रह—यह कंचन सी काया : प्र० आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली—6, पृ० 38.
2. शाप–उग्र : ऐसी होली खेलो लाल, पृ० 77.

मतानुसार धर्म के उदात्त रूप का उद्‌घाटन करना ही साम्प्रदायिक विद्वेष का अन्त कर सकता है।

वस्तुसंयोजना की दृष्टि से भी तीनो कहानियों मे साम्य है। तीनो मे मानव-प्रेमी चरित्रो का सृजन किया गया है। तीनों मे साम्प्रदायिक वैमनस्य के किसी-न-किसी कारण को घटनाक्रम को आगे बढाने मे प्रयुक्त किया गया है। दंगों का बाह्य कारण बनने वाली घटनाओं का आन्तरिक कारण दोनों सम्प्रदायों मे पारस्परिक अविश्वास, भय और दोनो के मध्य सामाजिक सम्पर्क का अभाव है। इन व्यवधानो को हटाकर मानवमैत्री दोनो सम्प्रदायो मे पारस्परिक सौहार्द की स्थापना कर सकता है।

साम्प्रदायिकता के कथ्य को लेकर लिखी गई अन्य कहानियो मे 'खुदा के सामने', 'दोजख! नरक!!' और 'दोजख की आग' मे लेखक ने इहलोक और परलोक के दृश्यों को प्रस्तुत कर यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि धर्मान्ध मनुष्य का इहलोक और परलोक—दोनों ही बिगड़ते हैं। विभिन्न धर्मावलम्बियो की इस धारणा का कि धर्मयुद्ध मे मारे गये लोगो को स्वर्ग सुख की प्राप्ति होती है, इन कहानियो मे खण्डन किया गया है। जो मनुष्य मानवप्रेमी है वही सच्चा धार्मिक है और वही स्वर्ग का अधिकारी है। धर्म के नाम पर नरहत्या करने वालो को रौरव नरक की प्राप्ति होती है।

खुदा के सामने :

खुदा के सामने शीर्षक कहानी मे धर्मान्धता के जोश मे सभी नैतिक और मानवीय मूल्यों को भूल जाने वाले अविवेकी मनुष्यों का चित्रण है। नास्तिक पं० विष्णुप्रसाद और रहमान ही ऐसे व्यक्ति हैं जो साम्प्रदायिक विद्वेष से मुक्त है और दोनों ही अविवेकी धर्मान्धों द्वारा मारे जाते हैं। रहमान जो मांस न खाकर गाय का दूध पीता है, अपनी खोई हुई गाय को लेकर लौटते समय हिन्दू युवको द्वारा मारा जाता है। उसकी हत्या का प्रतिशोध मुसलमान उस गाय की हत्या करके, हिन्दुओं का संहार करके और हिन्दुओं को गोमास से अपवित्र करके लेते हैं। विष्णुप्रसाद रहमान की पत्नी की रक्षा के प्रयास मे मारे जाते हैं। रहमान की पत्नी की भी हत्या कर दी जाती है। इसके साथ ही इहलोक के दृश्यों का पटाक्षेप होता है।

दूसरे दृश्य में उपद्रवो मे मृत हिन्दू-मुस्लिमो की आत्माएँ ईश्वर के न्यायालय मे उपस्थित दिखाई जाती हैं। ईश्वर उन्हें सम्बोधित कर कहता है—"तुम मुझे नही पहचान सके। अगर तुम मे से किसी ने मुझे पहचाना होता तो तुम्हारे बनाये घरो (मस्जिदों, मन्दिरो) और तुम्हारी बनाई हुई मूर्तियों के लिये मेरे घरों और मेरी मूर्तियों (मनुष्यो) का नाश न किया जाता। तुम सब काफिर हो, म्लेच्छ हो, राक्षस हो, शैतान हो……तुम्हरे लिये दोजख की आग धधरा रही है—वही जाकर जलो…

इस बहिश्त मे तीन व्यक्तियों के लिए स्थान है। उनके नाम हैं, विष्णुप्रसाद (नास्तिक), रहमान और जोहरत।[1]

दोजख की आग :

'दोजख की आग' का कथानक भी नरक के दृश्यो से सम्बन्धित है। नरक के दृश्य इहलोक के पापो के दण्ड के रूप में दिखाये गये है। इस कहानी में एक साम्प्रदायिक उपद्रवकारी यारअली को मरणोपरान्त नरक मे दिखाया गया है। नरक की यातनाओं को सहते हुए जो पहला दृश्य वह देखता है, उसमे उसके इहलोक के उस जीवन का चित्रण है, जिसमे साम्प्रदायिक उन्माद से भरकर वह हिंसक उपद्रवों मे भाग लेता है और मारा जाता है। इसके पश्चात् वह साम्प्रदायिक दंगो के बाद अपने नगर का दृश्य देखता है—"······चारो ओर हड़ताल, चारो ओर भयानक स्यापा, चारो ओर शोक, घृणा, क्रोध और अपमान की लपटें, अन्न के अभाव मे भूखों मरते परिवार, बेटे के दुःख मे रोती अनेक माताएँ, पति की अकाल मृत्यु से व्यथित अनेक अबलाएँ, पिता के शोक से सन्तप्त पुत्र और पुत्र के मरण से मृतक पिता।"[2]

इसके पश्चात् उसे अपना जला हुआ मकान और परिजन दीन-हीन अवस्था मे दिखाई पड़ते है। उसकी दुकान का मालिक रहमत उसकी पत्नी का शीलभंग करता हुआ दिखाई पड़ता है और अन्ततः वह वेश्यावृत्ति द्वारा जीवन-यापन करती है। यह सब देखकर वह अत्यन्त क्रुद्ध होता है। कोई स्वर उसे ललकार कर कहता है "खुदा के नाम पर शैतान को पूजने वाले इन्सान! घबड़ाता क्यो है? यही तेरी सजा है।"[3]

इस कहानी मे उग्र ने यह सन्देश देना चाहा है कि धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक घृणा और हिंसा ईश्वर की दृष्टि मे अक्षम्य है क्योंकि सच्चा धर्म घृणा न सिखाकर प्रेम सिखाता है।

"दोजख! नरक" :

यही सन्देश उनकी "दोजख! नरक" शीर्षक कहानी में भी निहित है। इस कहानी का परिवेश परलोक है, जहाँ ईश्वर दो धर्मान्धों को साम्प्रदायिक उपद्रवो मे भाग लेने के लिये दण्डित करता है। मुस्लिम धर्मान्ध के मतानुसार हिन्दू 'नापाक काफिर' होते हैं जिन्हें मारने से जन्नत मिलती है। उसे आश्चर्य है कि जन्नत के स्थान पर दहकती हुई लोहे की बेड़ियाँ उसे मिली है। ईश्वर उससे प्रश्न करता है, "तुमने सुना नही था कि खुदा हरेक दिल मे रहता है? हरेक का दिल खुदा है और हो

1. खुदा के सामने; उग्र : कथा संग्रह—ऐसी होली खेलो लाल, पृ० 65.
2. दोजख की आग—उग्र : कथा संग्रह—मुक्ता, पृ० 29.
3. वही पृ० 34.

सकता है। तुमने अपनी ही तरह की सूरत वाले, दूसरे मजहब वालो पर हाथ उठाने के पहले कभी अपने दिल मे खुदा की खोज की थी ?"[1]

दूसरा अपराधी हिन्दू है जिसने कलकत्ता के साम्प्रदायिक दंगो में मुसलमानो की हत्या की। उसके अनुसार 'मैं तो युद्ध में मारा गया हूँ स्वामिन् ! मुझे मुक्ति मिलनी चाहिए . किस अपराध से मेरे पैरों मे ये लाल-लाल जलती हुई लाह की बेड़ियाँ डाली गयी हैं ?"[2]

अपने निर्णय में ईश्वर उन्हें हत्यारा घोषित करता है, क्योंकि उनका आचरण धर्म और मनुष्यत्व के विपरीत था—"मनुष्य का आत्म संरक्षण के सिवा मनुष्य की हत्या करने का कोई भी हक नही। मनुष्य हत्या से बढ़कर कोई भी भयानक पाप नही।...ये दोनो 'धर्म' और 'ईश्वर' के नाम पर लड़े हैं। जो धर्म दूसरे धर्म वालो की हत्या की आज्ञा दे, वह धर्म हो ही नही सकता . "[3]

ईश्वर के मुख से कहानीकार ने धर्म और मनुष्यत्व के अपने उच्चतम आदर्शों की स्थापना का प्रयास किया है।

ईश्वरद्रोही :

'ऐसी होली खेलो लाल' मे संग्रहीत 'ईश्वरद्रोही' शीर्षक कहानी का विषय भी साम्प्रदायिक दंगे हैं। गोपालजी लखनऊ के नवाबो के वंश की एक मुसलमान भिखारिन को अपने यहाँ आश्रय देते है। उनका पुत्र नवाबजादी से प्रेम करने लगता है, किन्तु कलकत्ता के ऐतिहासिक हिन्दू-मुस्लिम दंगे में उनके सारे अरमानो पर पानी फिर जाता है। धर्म के नाम पर उतावले धर्मान्ध रामजी की हत्या कर देते हैं। दंगे में ही रामजी को ढूंढने गोपालजी और नवाबजादी जाते हैं और उन्हे भी अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है।

इसी संग्रह की एक और कहानी 'दिल्ली की बात' में दिल्ली के हिन्दू-मुस्लिम दंगों का चित्रण है। यह कहानी साधारण वर्णनात्मक शैली में भी रोचकता समेटे हुए है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री :

आचार्य चतुरसेन शास्त्री प्रसाद की रचनात्मक प्रक्रिया से प्रभावित कहानी लेखकों में अग्रगण्य है। इतिहास और कल्पना के इतने रोमाण्टिक धरातल से इन्होने अपनी कहानियों का निर्माण किया है कि इनकी कुछ कहानियाँ सदैव स्मरणीय रहेंगी। साहित्य में शास्त्रीजी का सदैव एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण रहा है। इसी दृष्टिकोण

---

1. दोजख ! नरक !!—उग्र : ऐसी होली खेलो लाल, पृ० 36-37
2. वही, पृ० 38
3. वही, पृ० 31

से प्रेरित होकर उन्होने हिन्दू धर्म की पौराणिक मान्यताओ के अमान्य पक्ष को साहित्य में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत कहानी 'लम्बग्रीव' मे उन्होने एक पौराणिक गाथा का आधार लेकर बड़े मौलिक ढंग से तथा नूतन शैली में विभाजन के घटनाक्रम तथा उसके कारणो पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है।

लम्बग्रीव :

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने विभाजन की त्रासदी को 'लम्बग्रीव' शीर्षक कहानी में बिलकुल भिन्न और नये रूप मे प्रस्तुत किया है। व्यग्य और श्लेष के चमत्कार से युक्त इस कहानी में कथाकार ने विभाजन के महानरमेध को शिव के कोप का परिणाम बताया है। भारतवासियों की स्वार्थपरता, कायरता और विलासिता इस नरमेध के कारण है; जिसमे विलासी, अधम प्राणियों के साथ-साथ निर्दोष लोग भी दण्डित होते हैं। कहानी का केन्द्र वह चन्द्रकला है जो शिव का शिरोभूषण और विभाजन के पुरोहित श्री जिन्ना का राष्ट्र चिह्न है।

उत्तुग हिमकूट पर बैठे धूर्जटि क्रोध से फुफकार उठते हैं। समाधि भंग होते ही उन्हे ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके जटाजूट से कोई चन्द्रकला को चुरा ले गया है। चन्द्रकला की खोज में वे झाँककर मृत्युलोक की ओर देखते है। राजधानी दिल्ली आज दुल्हन बनी नया शृंगार किये हुए है। सात सौ वर्ष बाद मिली आजादी का उत्सव मनाने के लिये असंख्य जन लाल किले के सामने एकत्र है। लाल किले के सिंहद्वार पर ऐतिहासिक समारोह हो रहा है।

सारे विश्व पर अमर्ष-मिश्रित दृष्टि डालने पर भी कैलाशी को चन्द्रकला के दर्शन नही होते। अन्ततः उनकी दृष्टि इधर-उधर घूमकर एक अधेरे मरुस्थल मे कृष्णकाय बिन्दु पर केन्द्रित होती है और तब अत्यन्त क्रुद्ध हो वे अपना त्रिशूल उठा लेते हैं। रुद्रगण उनके असमय क्रोध का कारण समझ नही पाते। झाँककर देखने पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के उत्सव के बाद बिलकुल भिन्न दृश्य उन्हे दिल्ली में दिखाई पडता है। दिल्ली के छैल-छबीले, स्त्रैण नर विलासरत दीखते हैं। किन्तु कैलाशी के क्षोभ का विषय यह नही। उनकी दृष्टि सुदूर सूने मरुस्थल मे एक चलचंचल पिण्ड पर केन्द्रित है। ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है कि शून्य काली रात से आपूर्यमाण रेगिस्तान मे एक लम्बग्रीव-अशुभ दर्शन, विगलित यौवन किन्तु भद्रवसन नर-जन्तु ऊँट पर बैठा, हिचकोले खाता, अपनी कमजोर आँखो से, चश्मे की सहायता से, चेष्टा करके देखता मार्गहीन मार्ग पर दौड़ा जा रहा है और कैलाशी की दृष्टि उसी भाग्यहीन पर केन्द्रित है।[1] भयभीत उमा देखती है—चन्द्रकला उस लम्बग्रीव आरोही की टोपी मे सलग्न है, यही सदाशिव के क्रोध का कारण है।

---

1. लम्बग्रीव—आचार्य चतुरसेन शास्त्री : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एण्ड सन्ज, पृ० 83 84

किन्तु मर्त्यलोक मे किसी को इस देवकोप का आभास नही है। हठात् कैलाशी का तृतीय नेत्र खुल जाता है। शताब्दियों से मृत, चिरदासता मे मग्न विलास-लिप्सा के साधन धांय-धांय कर जलने लगते है। सम्पूर्ण पंचनद पर रुद्र की दाहक दृष्टि घूमती है। पंचनद भूमि भस्म होने लगती है तथा मृत्यु से भी कठिन यातनाओ यन्त्रणाओं के अवर्णनीय नारकीय अभिनय आरम्भ होते हैं।[1] लक्ष-लक्ष नर-समूह सर्वस्व त्याग शताब्दियो से परिचित घर-द्वार छोड़ असहाय भिखारियो, ख्नानाबदोशों की भाँति अज्ञात यात्रा पर चल पड़ते है।[2]

उमा द्रवित हो इस नरसहार को रोकने की प्रार्थना करती है, किन्तु शिव का क्रोध शान्त नही होता। महामाया द्वारा वेगपूर्वक कालचक्र घुमाये जाने से देव-दानव सभी भीत और आतंकित हो जाते है। देवराज महामाया से इस कालचक्र को रोकने की प्रार्थना करते है। वे दिल्ली के उस दृश्य को ओर इंगित करते है जहाँ क्षीणकाय गांधी शय्या पर लेटे है और लाग उनसे उपवास तोड़ने की अनुनय कर रहे हैं। मानवता की रक्षा हेतु प्राणो की आहुति देने वाले इस महामानव को देख-कर महामाया का क्रोध शान्त होता है। उसी दिन अपराह्न मे बिरला भवन मे वह महामानव नश्वर शरीर से छूट जाता है, और महामाया के प्रसाद से देवराज इन्द्र के साथ हिमकूट पर कैलाश के हीरक द्वार पर पहुँचता है। गाँधी को देख कैलाशी का क्रोध शान्त हो जाता है।

अपनी चमत्कारपूर्ण सांकेतिकता मे यह कहानी विभाजन के परिवेश, घटनाक्रम तथा उसके प्रभाव का चित्र अंकित करती है। लेखक विभाजन के लिये जिन्ना को उत्तरदायी मानता है, इसी कारण जिन्ना के प्रति उसका आक्रोश भी सूक्ष्मता से व्यंजित हुआ है। बीमार, दुर्बल, मित्रहीन जिन्ना अपनी जिद पूरी करने के लिये विभाजन के सूत्रधार बनकर उस मार्गहीन मार्ग पर चल पड़े, जिसका लक्ष्य स्वयं उन्हें मालूम नही था। अपनी कमजोर दृष्टि से बड़ी कठिनाई से मार्ग ढूँढते हुए वे नफरत और अविश्वास के अपने ही बनाये रेगिस्तान में भटक गये। विभाजन के साथ-साथ देश को आजादी मिली। सैकड़ों वर्ष बाद मिली इस आजादी का भारत-वासियों ने बड़े उत्साह से स्वागत किया, किन्तु आजादी के बाद भारत का दृश्यपट बड़ी तेजी से परिवर्तित हुआ। विलासिता में डूबे लोग भूल गये कि आजादी उन्हें किस मूल्य पर मिली थी। स्वतन्त्रतापूर्व के मूल्य अर्थहीन हो गये। स्वतन्त्रता-सग्राम में जहाँ स्वदेशी पर बल देकर विदेशी सामग्रियो की होली जलाई गई थी, वहाँ आजादी मिलते ही लोग पश्चिमी सभ्यता और विदेशी वस्तुओ के अधिकाधिक पुजारी होते गये। कर्तव्य एवं त्यागमय भावों की ओर से उदासीन वे आत्मपुजारी, वासना

1. लम्बग्रीव—आचार्य चतुरसेन शास्त्री : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एण्ड सन्ज पृ० 85 86
2 वही पृ० 86

के दास हो गये ।[1] दैवी प्रकोप ऐसी म्रियमाण सभ्यता पर वज्र बनकर टूटा । विभाजन के महानरमेध और मृत्यु से भी भयंकर यातनाओं के रूप मे मानों पंचनद निवासियो को अपने पतन और अपनी विलास लिप्सा का मूल्य चुकाना पड़ा । विभाजन की विभीषिका से भी लोगों की विलास-प्रियता में कोई विशेष अन्तर न आया । इतन खोकर भी उन्होंने सभ्यता, व्यवस्था, शिष्टाचार और संयम नही सीखा ।[2] पतन और अनैतिकता के इस माहौल में लेखक को महात्मा गांधी के रूप मे मानवता की ज्योति जलती दिखाई पडती है । बापू का लक्ष्य रहा—विश्वशान्ति, अटूट प्रेम और दृढ विश्वास । इस महामानव के बलिदान के बाद ही मानो भारतीय उपमहाद्वीप मे विनाश का चक्र रुका ।

विष्णु प्रभाकर :

विभाजन की त्रासदी को आधार बनाकर विष्णु प्रभाकर ने अनेक कहानियों की रचना की । वे विभाजन से पूर्व के पंजाब में पले और बड़े हुए । स्वभावतः उनकी इन कहानियो पर उस परिवेश का प्रभाव है ।[3] विभाजन के संघर्ष और शोषण को उन्होने बहुत पास से देखा और सहा है । धर्म की आड़ मे पशु बनते मनुष्य को देखकर उन्होने अनुभव किया है कि 'राजनीतिक और आर्थिक शोषण से कम भयंकर नही होता धार्मिक शोषण ।'[4] उस स्थिति का जो प्रभाव लेखक पर पड़ा, उसी का परिणाम है ये कहानियाँ । इनका रचनाकाल प्राय सन् 1938 से सन् 1958 तक फैला हुआ है । विष्णु प्रभाकर मूलतः मानवीय संवेदना के कथाकार है । लम्बे समय तक आर्य समाज से जुडे रहने पर भी वे मानव की मूलभूत एकता के स्वप्न देखते रहे हैं । मनुष्य को धर्म के खाने मे बाँटकर देखने वाली मानसिकता से मुक्त हैं ।

विभाजन पर रचित उनकी कहानियाँ मूलतः साम्प्रदायिक सद्भाव की कहानियाँ है । विभाजन के घटनाचक्र तथा पारस्परिक द्वेष एवं अविश्वास का चित्रण करते हुए भी इन कहानियो में मानवता के प्रति उनका विश्वास, अपूर्व जिजीविषा, मानवीय मूल्य एवं मर्यादाओं के प्रति उनकी आस्था झलकती है । तमाम अच्छाइयो बुराइयों के साथ जीवन-संघर्ष का चित्रण करते हुए भी उनका ध्यान सदैव मूल्यो के

1. लम्बग्रीव—आचार्य चतुरसेन शास्त्री : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एण्ड सन्ज, पृ० 87.
2. वही, पृ० 88.
3. "······मैं विभाजन से पूर्व के पंजाब मे पला-पुसा, पढा और बड़ा हुआ ।······ उस पंजाब में हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष जितना सहज था, उतना ही मुखर था एकता का स्वर । वहाँ मुस्लिम लीग के पाँव नही जम सके थे ।"—मेरा वतन : विष्णु प्रभाकर, निधि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, दिसम्बर 1980, दो शब्द : पृ० 5.
4 वही, पृ० 6

उत्कर्ष पर रहा है। विभाजन से सम्बन्धित उनकी कहानियाँ भी इसका अपवाद नहीं है जिनमे विभाजन के विभिन्न पक्षो का उद्घाटन हुआ है। विष्णु प्रभाकर की कुछ कहानियाँ दोनों सम्प्रदायो के आपसी सौहार्द का चित्रण करती हैं। ये प्रत्यक्षतः विभाजन पर आधारित नही हैं, किन्तु इनसे उस माहौल को समझने में मदद मिलती है, जब दोनो सम्प्रदायों के बीच नफरत और अविश्वास का जहर नही फैला था।

मुरब्बी :

'मुरब्बी' ऐसी ही कहानी है जो दोनों सम्प्रदायों के पारस्परिक स्नेह और विश्वास को अभिव्यक्ति देती है। सरलहृदय मुरब्बी एक छोटे से गाँव मे अपनी दुकान चलाया करते है। उनके मुस्लिम मित्र मुनव्वर ने मुरब्बी के पुत्र राधे से तीन सौ रुपये उधार लिये हैं। फसल खराब हो जाने के कारण वह रुपये चुका नही पाया। अब राधे नालिश करने जा रहा है तो मुरब्बी के मन मे जैसे कुछ कचोट रहा है "जब मै फेरी लगाऊँ था तो यही एक आदमी था, जिसने मदद दी थी। महीनों इसकी झोपड़ी मे दुकान लगाई।"[1] मुनव्वर का कर्ज चुकाने को वे अपनी मृत पत्नी का गुलुबन्द बेचना चाहते हैं। लेकिन उनकी बहू प्रभा अपने पास से सौ रुपये देती है। मुरब्बी उसे मुनव्वर का नाम लेकर बेटे के हाथ मे थमा देते हैं "ले सँभाल, बुढ़ापे मे इस मुनव्वर ने जान आफत मे डाल दी है।''''''नालिश करने को आ रहा था न, वही सौ रुपये दे गया है।"[2]

शमशू मिस्त्री :

शमशू मिस्त्री के शमशू मिस्त्री का चरित्र भी कहानीकार की उदार मानवीय दृष्टि का परिचायक है। शमशू मिस्त्री को पूरा दफ्तर ताऊ के नाम से पुकारता है। कहानी के 'मैं' को लगता है कि शमशू मिस्त्री को मिठाई बहुत पसन्द है, बदन भी उनका लम्बा-चौड़ा है। पिछले जन्म मे वे अवश्य मथुरा के पण्डे थे। शमशू मिस्त्री हँस पड़ते हैं "हम मुसलमान है। अगले-पिछले जन्म का हमे कुछ पता नही, पर इतना जरूर है कि मथुरा के पण्डों की बही मे अभी तक हमारे खानदान का नाम लिखा है। अभी दो तीन वर्ष पीछे तक पण्डे मेरे पास आते थे। मैं उन्हे दच्छिना दिया करता था''''''" लेकिन अब माहौल बदलने लगा है "''''''अब तो मुल्क मे हवा ही दूसरी चल पड़ी है। लड़के वाले पढ़-लिखकर कुछ और सोचने लगे हैं। पिछली बार जब वे आये तो मेरे भतीजों को बुरा लगा है। पण्डे समझदार थे, फिर नही आये।"[4]

1. मुरब्बी-विष्णु प्रभाकर : कहानी संग्रह—मेरा वतन, पृ० 35.
2. वही, पृ० 36.
3. शमशू मिस्त्री विष्णु प्रभाकर कहानी संग्रह मेरा वतन पृ० 79
4 वही पृ० 79

शमशू मिस्त्री के भतीजे भले पुरानी परम्परा से कट गये हों, मिस्त्री अभी भी कहीं-न-कहीं उससे जुड़े हैं। इसी कारण मैं के मजाक में यह कहने पर कि वे शेख मुश्ताक से अपनी भतीजी या भानजी का निकाह पढा दें, वे क्रोध से काँपने लगते हैं। उनके अनुसार जिनकी कोई जात नहीं होती, वे शेख होते है। "हम राजपूत है। हमे सब कुँवर कहते है......"[1] वे 'मैं' से नाराज होकर चले जाते है, लेकिन कुछ ही दिनो बाद एक दावत का निमंत्रण देने उसके दफ्तर पहुँचते है। 'मै' द्वारा माफी माँग लेने पर वे गहरे अपनत्व से मुस्करा उठते है। उस मुस्कान मे उनका मुक्त-हृदय झलक रहा है।

सफर का साथी :

साम्प्रदायिक सौहार्द की यही कहानी 'सफर का साथी' मे भी दुहराई गई है। साम्प्रदायिक तनातनी का दौर शुरू हो चुका है। इस माहौल मे जब कहानी का 'मै' स्टेशन पहुँचता है, एक मौलाना ट्रेन पर चढने में उसकी मदद करते है। ट्रेन चलने के बाद एक मौलवी साहब मौलाना को समझाना प्रारम्भ करते है "आप भूलते हैं 'हिन्दुस्तानी' न कोई कौम है, न बन सकती है। इन्सानी बिरादरियाँ कभी कौमियत पर नही बना करती, उनकी बुनियाद मजहब पर है।"[2] किन्तु मौलाना का ध्यान इन दलीलों से ज्यादा परेशान मुसाफिरो की ओर है। बाद मे वे उस मुसलमान युवक की ओर आकृष्ट होते हैं जो एक बस्ती की ओर मुँह करके हाँथ फैलाये दुआ माँग रहा है। पूछे जाने पर वह यात्रियो को एक कहानी सुनाता है, जो उसे उनके अब्बा ने सुनाई है। जिस चबूतरे की ओर मुँह करके वह दुआ माँग रहा था, वह दरअसल एक मामूली चबूतरा है लेकिन किसी वक्त इसी चबूतरे को लेकर कस्बे के हिन्दू-मुसलमानो मे संघर्ष छिड़ गया था। हिन्दुओ के सरगना कस्बे के मशहूर वैद्य लाला सुन्दरदास थे और मुसलमानो के नेता महबूब कसाई। दोनो सम्प्रदायो मे मजहब के लिये मर मिटने की तमन्ना थी, तभी एक रात महबूब कसाई का एकलौता लडका रमजान सख्त बीमार हो गया। यह जानकर कि लाला सुन्दरलाल के पास ही इस मर्ज की दवा है, महबूब पहले तो खामोश हो जाते हैं; बाद मे पुत्र की ममता के वशीभूत हो वे लाला सुन्दरलाल से बेटे की भीख माँगने चल पड़ते है। लोगो के मना करने पर भी लाला सुन्दरलाल महबूब के घर जाकर रमजान का इलाज करते है। दो दिन बाद लाला सुन्दरलाल के मकान पर विवादास्पद चबूतरे को कस्बे के गरीब कूँजड़ो और मालिको को साप देने का फैसला कर लिया जाता है।

अधूरी कहानी :

लेकिन आपसी समझ और सौहार्द की ऐसी कहानियाँ नफरत और अविश्वास के माहौल मे धूमिल हुई जा रही हैं। घृणा और द्वेष का जहर फैल रहा है और इसके फैलने मे रूढ़िवादी हिन्दू-दृष्टिकोण भी कम उत्तरदायी नही

1 शमशू मिस्त्री—विष्णुप्रभाकर, पृ० 84
2 सफर का साथी वही पृ० 22

है। 'सफर के साथी' की तरह 'अधूरी कहानी' की कथा भी ट्रेन में चलती है जहाँ हिन्दू-मुस्लिम यात्री विभाजन के प्रश्न को लेकर आपस मे उलझ रहे हैं। एक मुस्लिम यात्री के अनुसार "हमने नौ सौ बरस हुकूमत की है......और उन नौ सौ बरस मे हिन्दू बराबर हमसे नफरत करते रहे।"[1] "आपने हमसे नफरत की और चाहा कि हम आपसे प्यार करें। यह कैसे हो सकता था?"[2] वे हिन्दू साहब से प्रश्न करते हैं "अछूत हिन्दू हैं, पर आप उन्हें ताकत सौंप दीजिए, तब मैं पूछता हूँ, वह आपसे प्यार करेंगे या नफरत?"[3] भेद की इस लकीर को गहरी करने मे जाने अनजाने जो लोग मदद करते आये हैं, उनके पापों का फल तो हिन्दुओं को भुगतना ही पडेगा।[4] मुस्लिम सज्जन यात्रियों को तीस बरस पहले की एक छोटी सी घटना सुनाते है। एक कस्बे मे हिन्दू-मुसलमान मिल-जुल कर रहते थे। ईद के दिन एक छोटे बालक अहमद को जब उसके सहपाठी दिलीप ने अपने हिस्से का दूध दिया, अहमद का सरल बालमन कृतज्ञता से भर उठा। हिन्दू-मुसलमान के गहरे भेद से अनभिज्ञ अहमद सेवैयाँ लेकर सबसे पहले दिलीप के घर पहुँचा जहाँ उसे पता चला कि उसके हाथ की सेवैयाँ खाकर दिलीप का ईमान बिगड़ जायेगा और तब उसके हाथ का कटोरा आवाज करता हुआ उसी चौकी पर गिर पड़ा, जिस पर सबेरे-सबेरे दिलीप और दिलीप की माँ ने दूध के रूप में अपनी मोहब्बत अहमद के दिल मे उड़ेल दी थी।[5]

लेकिन 'मोहब्बत की वह लकीर क्या आज बिल्कुल ही मिट गई है?' कथा कहने वाले अहमद के शब्दों में "इस दुनिया में मिटने वाला कुछ भी नहीं है। मोहब्बत तो हरगिज नहीं। सिर्फ हमारी गफलत से कभी-कभी उस पर परदा पड़ जाता है।"[6]

ताँगेवाला :

नफरत के इस माहौल में समाज के उस मेहनतकश वर्ग की ओर भी कहानीकार का ध्यान गया है; साम्प्रदायिक दंगों ने जिसकी पूरी जीवन-प्रणाली को अस्त-व्यस्त कर दिया है।

दंगो के बाद थोड़ी शांति हुई है और गरीब तांगेवाले फिर रोजी-रोटी की व्यवस्था मे लग गये हैं। ऊपर से देखने मे सब कुछ पहले जैसा ही है, लेकिन क्या

1. अधूरी कहानी, : विष्णु प्रभाकर, पृ० 44.
2. वही, पृ० 44.
3. वही
4. वही
5. वही, पृ० 51.
6. वही, पृ० 51.

वास्तव मे सब कुछ वही रह गया है ? वही शहर हैं। वे ही दुकानें......वे ही आदमी है।......पर न जाने आज उनकी आँखों मे क्या है। वे एक दूसरे को ऐसे देखते हैं, जैसे सदियों के दुश्मन हैं।' चारों ओर शक और नफरत के साये फैले हुए हैं, जिन्होंने समाज के निम्न वर्ग को सबसे अधिक आक्रान्त किया है। अहमद ताँगे-वाला बीमार बच्चे और परेशान पत्नी को छोड़ तागा लेकर निकलता है; लेकिन इन्सान का ऐतबार इस तरह खत्म हो गया है कि कोई भी हिन्दू उसके तांगे मे बैठना नही चाहता। दिन भर घूमने के बाद वह केवल दस आने ही कमा पाता है। घर लौटने पर वह दवा लाने हकीम के यहाँ दौड़ता है। लेकिन दवा लेकर लौटने तक बहुत देर हो चुकी है। अपनी असमर्थता और विवशता का तीखा बोध अहमद मे वह ऐंठन पैदा करता है, जो खुदा से भी लोहा लेने को तैयार है।

कहानीकार प्रस्तुत कहानी मे निरीह मनुष्य की विवशता को संवेदना के धरा-तल पर अभिव्यक्ति तो देता है, किन्तु इस विवशता के सम्मुख वह उसे पराजित नही देखना चाहता। उसका विश्वास है कि इस शैतानियत में से ही भलाई पैदा होगी और इस निर्मम व्यवस्था का अन्त होगा, जिसमे समाज का निम्नवर्ग शोषण और अन्याय सहन करने को विवश है। उसकी आँखों में भरा हुआ पानी एक दिन वह आग पैदा करेगा जो सारे भूमण्डल को भस्म कर दे।

वह रास्ता :

'वह रास्ता' परिवेश के दबाव के सम्मुख झुक जाने वाले मनुष्य की विवशता की कहानी है। अमजद साम्यवादी दल का सक्रिय कार्यकर्त्ता है जो किसी भी स्तर पर अपने सिद्धान्तों से समझौता करने को तैयार नही। उसने देश की आजादी के लिये सर्वस्व त्याग देने का संकल्प किया था। आजादी की पहली शर्त यह थी कि देश के हिन्दू-मुसलमान एक हों। इसके लिये वह आवश्यक समझता था कि मजहब और खुदा के महन्तों से अपने आप को बरी किया जाये। क्योंकि वही भाई-भाई को लड़ाते हैं।[2] यह समझकर कि जब तक खुदा और मजहब हैं तब तक इन्सान की अक्ल आजाद नही हो सकती, उसने ईश्वर और धर्म के विरुद्ध सीधे जेहाद बोल दिया था। उसका परिणाम हुआ कि मुसलमान उससे नफरत करने लगे। हिन्दू उसका यकीन नही करते थे। दुःख दर्द में वह अकेला तड़पता रहा। निशिकान्त के परामर्श से वह अपनी पार्टी के नेता ज्योतिप्रसाद के पास जाता है, लेकिन वे उसकी किसी प्रकार की सहायता नही करते। उनका व्यवहार अमजद को यह सोचने को विवश

1. ताँगेवाला—विष्णु प्रभाकर, पृ० 55.
2. वह रास्ता : विष्णु प्रभाकर पृ० 103.

करता है कि हिन्दू-मुसलमान एक नहीं हो सकते। हिन्दू अमीर हैं, तंगदिल हैं, वे गरीब मुसलमानों को अपना नहीं समझ सकते।[1] पत्नी की बीमारी अमजद को समझौते के लिये विवश करती है। संकट के समय एक पुराने मुसलमान दोस्त की सहायता और हमदर्दी पाकर उसे अनुभव होता है कि वास्तव में उसके अपने कौन है और तब वह मुस्लिम लीग मे शामिल होकर पाकिस्तान का समर्थक बन जाता है। आज भी खुदा और मजहब का ख्याल उसे कँपा देता है। अब भी वह ऐसी कौम का ख्वाब देखता है जिसके बाहर भीतर कहीं कोई भेद न हो।[2] लेकिन अभी तो परिस्थितियाँ बिल्कुल विपरीत हैं। धर्म के विरुद्ध बोलने वाले अमजद को खुदा की कुदरत, मुस्लिम धर्म की वैज्ञानिकता और कुरान के फलसफे पर बोलने को मजबूर होना पड़ा है। हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रबल समर्थक पाकिस्तान पर कुर्बान हो रहा है। इसका फल भी उसे मिला है। जब तक वह साम्यवादी कार्यकर्त्ता था, एक सील और जालों से भरी कच्ची दहलीज मे दरिद्रता और बीमारी के बीच उसके दिन गुजर रहे थे। अब वह स्कूल का हेडमास्टर और स्थानीय लीग का सेक्रेटरी है। उसकी इज्जत है, पूछ है। एक पक्के मकान में आराम से उसके दिन गुजर रहे हैं। लेकिन निशिकान्त को भरोसा है कि अमजद के पुराने ख्वाब एक-न-एक दिन अवश्य पूरे होंगे "दुनिया का हर बड़ा काम शुरू में सपना ही मालूम होता है······पाकिस्तान होने पर भी हिन्दू-मुसलमानो को यही और इसी तरह रहना होगा। उनके आपसी सम्बन्ध किस प्रकार सुधर सकते हैं, यह समस्या बनी ही रहेगी।······उसका रास्ता वही है जो एक दिन आपने सुझाया था।"[3]

यह कहानी हिन्दू-मुस्लिम कटुता के कारणों के सम्बन्ध मे लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट करती है। धर्म इन्सान की अपनी कमाई नही, लेकिन पारस्परिक सम्बन्धो में वह दूरी और अविश्वास हिन्दू समाज की अपनी कमाई अवश्य है, जिसे उसने इतने दिन तक मुसलमानों से नफरत करके अर्जित किया है। मुसलमानों के छू जाने से हिन्दुत्व के नष्ट होने का भय स्वयं मुसलमानों के मन में इतना गहरा बैठा हुआ है कि निशिकान्त जैसे लोग चाहकर भी उसे दूर नही कर पाते। अमजद की पत्नी उसे किसी हालत मे पानी पिलाने को तैयार नहीं होती। हिन्दू समाज की मनोवृत्ति पर यह गहरा तमाचा है, लेकिन निशिकान्त का भरोसा नहो टूटता कि "आज न सही फिर किसी दिन उन्हें मुझे अपने हाथ से अपने घड़े का पानी पिलाना ही होगा······इसके बिना न उनका भला होगा, न मेरा।"[4] निशिकान्त प्यासा चला जाता है

1. वह रास्ता : विष्णु प्रभाकर पृ० 112.
2. वही, पृ० 113.
3. वही, पृ० 114.
4. वही, पृ० 115.

लेकिन सकीना को इसका अफसोस नहीं "......वह प्यास मोहब्बत के रंग को गहरा ही करेगी, इतना गहरा कि तब उसे कोई धो न सकेगा।"[1]

विष्णु प्रभाकर की कई कहानियों मे ऐसे पात्रों का चित्रण है; नफरत और घृणा के उन काले दिनों मे भी जिन्होने मानवता की ज्योति को जलाये रखा। विष्णु प्रभाकर मानव की जिस मूलभूत एकता का स्वप्न देखते रहे हैं, ये कहानियां उसी की परिचायक है।

देशद्रोही :

देशद्रोही शीर्षक कहानी में कहानीकार विभाजन से जुडी क्रूर मानसिकता के उद्‌घाटन के साथ विभाजन के हिंसक परिवेश में जीवित मानवीय चेतना की ओर भी संकेत करता है।

साम्प्रदायिकता के माहौल मे अवसरवादी राजनीतिज्ञ दंगो की मार्मिक तस्वीर खीचकर सहज में उत्तेजित हो उठने वाली जनता की भावनाओं को और भड़काने का कर्त्तव्य बडी तत्परता से निभा रहे हैं। उनके ओजस्वी भाषणों से उन्मत्त जनता देश के दुश्मन म्लेच्छो के नाश हेतु चल पड़ती है। उन्हें खबर मिली है कि डाक्टर खान सपरिवार डाक्टर अस्थाना के मेहमान हैं। डाक्टर अस्थाना उन्हे जीते जी अपने घर के अन्दर नही जाने देते। डाक्टर की हत्या कर अन्दर जाने वाले उसे घृणापूर्वक विश्वासघाती और देशद्रोही की संज्ञा देते है। अन्दर जाकर वे उन पैंतीस मुसलमानो की निर्ममतापूर्वक हत्या करते है, जिन्हे डाक्टर ने शरण दी थी। 'डाक्टर उसी तरह रक्त से लथपथ अपने दरवाजे पर पड़ा है शान्त, निर्द्वन्द्व और मुक्त।'[2] डाक्टर अस्थाना अपने प्राण देकर मित्रता का धर्म निभाने के साथ-साथ साम्प्रदायिकता की धुन्ध मे खोती मानवता की भी रक्षा करते हैं।

पड़ोसी :

'पड़ोसी' शीर्षक कहानी में इस धर्म को निभाता है वह मुसलमान कुजडा, जो मोहन का पड़ोसी है। पचास मुसलमान मोहन की हत्या के उद्देश्य से आते हैं, इसलिये कि हिन्दुओ ने एक मुसलमान को मार डाला है। मोहन से उनका कोई व्यक्तिगत वैमनस्य नहीं, किन्तु वे प्रतिशोध के लिए एक हिन्दू चाहते है और यह हिन्दू है। वे उसे मार डालते है, सिर्फ इसलिए कि वह उनके धर्म का नही है; लेकिन उन्ही की जाति और मजहब का है वह मुसलमान कुजड़ा, जो मोहन को बचाने के लिये अपनी जान खतरे मे डाल देता है। वह मोहन के ऊपर जा गिरता है और तब तक नही हटता जब तक उसे खीचकर एक कोठरी में नही बन्द कर दिया जाता। जब वे दीवाने मोहन को मारकर चले जाते हैं। वह शोर मचाकर अपने को बाहर निकालता है और तब तक लाश की रखवाली करता है, जब तक लोग वहाँ नही

1. वह रास्ता : विष्णु प्रभाकर पृ० 115.
2. देशद्रोही : वही : पृ० 139.

पहुँच जाते । रोते हुए वह उनके पैरों पर गिर पड़ता है, यह कहते हुए कि 'मैं इन्हें न बचा सका । मैं पड़ोसी का हक अदा न कर सका ।'[1]

मोहन की हत्या की सूचना पा उसके परिचित निशिकान्त और गोपाल उसके घर की ओर चल पड़ते हैं । उस समय दोनों के मन में प्रतिशोध के ठीक वैसे ही भाव है, जैसे मोहन की हत्या करने वालों के मन मे थे । "ऐसे लग रहा था कि सारी हिन्दू जाति की ताकत उन्हीं के शरीर मे भर चली थी । उनके दिल मे दर्द, पीड़ा, टीस जो कुछ भी था, उन सबको लीलकर नफरत ऊपर आ गई थी और उस वक्त उनके लिए हर मुसलमान जुल्मे-सितम की तस्वीर बन गया था ।"[2] मोहन की माँ और पत्नी की करुण दशा देखकर उनकी नफरत और बढ़ जाती है पर उस गरीब कुँजड़े की दास्तान सुन वे पहले तो अचकचाते है, फिर उनका मन उसके प्रति गहरी श्रद्धा से भर उठता है । कहानी मे कथाकार ने साम्प्रदायिकता के प्रभाव से उत्पन्न करुण परिस्थितियों के चित्रण के साथ परिवेश के दबाव से परिवर्तित होती मनुष्य की मानसिकता का भी चित्रण किया है ।

हिन्दू :

परिवेश के दबाव ने 'हिन्दू' शीर्षक कहानी के हिन्दू की मानसिकता को भी परिवर्तित किया है जो पूर्वी बंगाल में मुसलमानो द्वारा हिन्दुओ के नाश के सगठित प्रयास से उत्तेजित हो उठा है । हिन्दुओं को मुसलमानो के विरुद्ध सगठित करने के उद्देश्य से वह गाँव-गाँव मे घूम रहा है । तभी एक खंडहर में असहाय पड़ी घायल मुस्लिम स्त्री की ओर उसका ध्यान जाता है । सोई हुई मानवीयता जाग उठती है और चाहकर भी वह अपनी आत्मा की आवाज को दबा नही पाता । उसे लगता है कि "नारी के अपमान के लिये ही राम ने रावण का नाश किया था । नारी के अपमान के लिये ही महाभारत का काण्ड हुआ था । वे हिन्दू नारियाँ थीं, इसी कारण हिन्दुओं ने उनका बदला लिया । यह मुस्लिम नारी है, इसका बदला मुसलमान लेंगे तो क्या उन्हे गलत कहा जा सकेगा ?"[3] यह ऐसा सत्यानाशी चक्कर है, जिसका कोई अन्त नही । वह बैलगाड़ी का प्रबन्ध कर उस स्त्री को अस्पताल ले जाता है । अभी भी वह समझ नही पा रहा है कि वास्तव मे वह क्या कर रहा है । "दूसरे गाँवो में उसके साथी संगठन कर रहे थे, उसके कानों को उनका उद्बोधन जैसे साफ सुनाई पड़ रहा था, पर उसका मन अस्पताल में डाक्टरों और नर्सों की चिंता में भटक रहा था वह समझ नही पा रहा था कि सही रास्ता कौन है ?"[4]

---

1. पड़ोसी : विष्णु प्रभाकर : पृ० 149.
2. वही, पृ० 144-145.
3 हिन्दू वही पृ० 156
4 वही पृ० 157

आजादी :

'आजादी' शीर्षक कहानी भी स्वतन्त्रता दिवस की पृष्ठभूमि मे इसी मानवीय चेतना की अभिव्यक्ति देती है। देश स्वतन्त्र हुआ है और हिन्दुस्तानी मानव का मन उत्साह और उमंग से उमड़ रहा है। लेकिन उल्लास के इस वातावरण मे भी मनुष्य की क्रूर मानसिकता एक छोटे से बालक का पीछा कर रही है क्योंकि वह मुसलमान है और मुसलमान देश के दुश्मन हैं।

किशुन और उसकी भाभी अपने प्राणो के मूल्य पर भी उस बालक को बचाना चाहते हैं। शान्त भाभी दृढ़ स्वर में कहती हैं "मेरे पति ने देश की आजादी के लिए छाती पर गोली खाई थी। देश की आजादी के लिये मेरे स्वामी को जन्मदात्री ने अपने खून से धरती माता की मांग भरी थी। उसी आजादी के लिए मै इस बालक की रक्षा अपने प्राण देकर ही नही बल्कि अपने स्वामी के बच्चे के प्राण देकर करूँगी।"[1] हत्यारों को वापस लौटना पड़ता है, किन्तु भाभी पर यह स्पष्ट हो जाता है कि "गांधीजी सच कहते हैं, हम अभी आजाद नही हुए है। हम तो अभी आजादी को पहिचानते भी नही हैं।"[2]

विष्णु प्रभाकर की कुछ कहानियों मे इस त्रासदी से उत्पन्न करुण परिस्थितियों का मार्मिक चित्रांकन हुआ है। 'मेरा बेटा' और 'अगम अथाह' ऐसी ही कहानियाँ हैं।

मेरा बेटा :

'मेरा बेटा' में एक करुण परिस्थिति का चित्र अंकित करते हुए लेखक ने धर्म-भेद की निस्सारता को ही रेखांकित किया है। खून जमा देने वाली सर्दी मे दोनों सम्प्रदाय वहशियो की तरह आपस में लड़े जा रहे है। डॉ० हसन और डॉ० शर्मा जब अस्पताल मे कानपुर के रामप्रसाद को जीवनदान देकर लौटते हैं, उन्हें पता चलता है कि यह रामप्रसाद हसन के पिता का बड़ा भाई है। यह जानकर कि रामप्रसाद को मुसलमानो ने मारा, हसन के दादा अत्यन्त व्याकुल हो उठते है। "मैं उसके पास जाऊँगा, आखिर वह मेरा बेटा है, कोई गैर नहीं, मैं मुसलमान हूँ और वह हिन्दू, वह मुझसे, मेरे बच्चो से नफरत करता है,......पर वह भी मेरा बच्चा है।......मैं उससे पूछूँगा, मै मुसलमान हो गया तो क्या हुआ, हमारा बाप बेटे का नाता तो नही टूट सकता, आखिर उसकी रगों में अब भी मेरा खून बहता है......"[3]

---

1. 'आजादी' : विष्णु प्रभाकर, पृ० 122.
2. वही
3. 'मेरा बेटा' : विष्णु प्रभाकर, पृ० 73.

अगम अथाह

'अगम अथाह' परिवेश से आक्रान्त एक वृद्ध दम्पत्ति की कहानी है। उनका एकमात्र सोलह वर्षीय पुत्र स्कूल गया और फिर घर वापस नहीं लौटा। दंगाइयों ने स्कूल पर आक्रमण करके सभी छात्रों को मार डाला। लेकिन वृद्ध दम्पत्ति के मन में अब भी पुत्र के जीवित होने का विश्वास है। इसी विश्वास के सहारे वे जगह-जगह पुत्र को ढूँढ़ते फिर रहे हैं। इस छलना का अन्त होना ही चाहिये, ऐसा सोचकर उन्हें समझाने के लिए रमेश जब उनके घर पहुँचता है, द्वार पर ही उसे वृद्ध सज्जन की आवाज सुनाई पड़ती है "कुछ नहीं किशोर की माँ! अब कब तक हम इस भुलावे में पड़े रहेंगे। किशोर अब नहीं लौटेगा।"[1] किन्तु किशोर की माँ का सहज विश्वास इस सत्य को स्वीकार करने को तैयार नहीं। "भगवान की माया कौन जानता है। हमारे गाँव के गोविंद पंडित का बेटा सात साल में लौटा था। और सुनो तो मैंने आज सबेरे एक सपना देखा है कि किशोर तुम्हारे पीछे-पीछे दरवाजा खोलकर अन्दर आया है।......और तुम जानते हो सबेरे का सपना हमेशा सच्चा होता है।"[2] रमेश चुपचाप वहाँ से लौट आता है। उसे लगता है कि वृद्ध दम्पत्ति का स्वप्न भंग करने के लिए जिस हिम्मत की जरूरत थी, उसे प्राप्त करने के लिए अभी उसे बहुत परिश्रम करना होगा।

एक पिता की सन्तान :

'मेरा बेटा' की तरह विष्णु प्रभाकर की कहानी 'एक पिता की सन्तान' भी इसी मान्यता को लेकर चलती है कि हिन्दू, मुस्लिम तथा सिक्ख—तीनों के पूर्वज एक ही थे। प्रश्न यह है कि तब वे अलग क्यों हुए? उनके अलगाव के कारणों की तलाश उसे आवश्यक लगती है।

तीन मित्र—हिन्दू-मुस्लिम और सिक्ख अपने पूर्वजों की सूची बनाते हैं। तब यह तथ्य सामने आता है कि तीनों के पूर्वज एक ही हैं। क्षण भर को तीनों के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है। किन्तु दूसरे ही क्षण खान-पान सम्बन्धी अपनी अलग-अलग मान्यताओं के कारण वे आपस में झगड़ने लगते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "हमारी खोज अभी अधूरी है। एक पिता की सन्तान तो हम हैं ही। पता अब दरअसल यह लगाना है कि आखिर हम अलग क्यों हुए।"[3]

---

1. 'अगम अथाह' : विष्णु प्रभाकर, पृ० 175.
2. वही, पृ० 176.
3. एक पिता की सन्तान—विष्णु : क० सं० खण्डित पूजा, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1960, पृ० 145

मैं जिन्दा रहूँगा :

विभाजन ने मनुष्य के जीवन और उसके अन्तर्हृदय में कैसी-कैसी समस्याएँ उत्पन्न कीं, भावनाओं के क्षेत्र में कैसे-कैसे तूफान खड़े किये और किस तरह उनको तोड़ा, इसका उदाहरण है विष्णु प्रभाकर की कहानी "मैं जिन्दा रहूँगा।" विभाजन के बाद पंजाब से भागते समय प्राण की पत्नी और माँ-बाप रास्ते में मर गए। एक-एक कर बच्चों की मृत्यु हो गई। लाहौर से भागते समय राज उसे अर्धमृत अवस्था में एक शिशु के साथ खेत में मिली। राज का सब कुछ लुट चुका था। प्राण बचाकर भागते समय वह एक बर्थ के नीचे से अपने सामान के धोखे में उस शिशु दिलीप को ले आई थी। अपने पति को मृत समझकर वह प्राण के साथ रहने लगी। राज का मन बहलाने के लिये प्राण उसे मंसूरी ले आता है। मंसूरी मे दिलीप के वास्तविक माता-पिता उसे पहचान लेते हैं। दिलीप के चले जाने पर राज की अवस्था मुरदे जैसी हो जाती है। तभी प्राण का ध्यान [illegible] अपना पीछा करने वाले व्यक्ति की ओर जाता है। पूछने पर ज्ञात होता है कि वह व्यक्ति राज का पति है। संकट के क्षणों मे वह पत्नी की रक्षा न कर सका था, यह वेदना उसे साल रही है। प्राण के अन्तर्मन को जैसे कोई धीरे-धीरे छुरी से काटने लगता है, लेकिन ऊपर से अपने को संयमित कर वह राज के पति से राज को ले जाने का आग्रह करता है। राज के चले जाने पर सूने घर का [illegible] उसका हृदय वेदना से भर उठता है "सुख भी कैसा छल करता है। आ कर लौट जाता है। राज को पति मिला, पुत्र मिला। दिलीप को माँ-बाप मिले। और मुझे... मुझे क्या मिला?" दूसरे ही क्षण वह गरदन को जोर का झटका देकर बुदबुदाता है "ओह मैं कायर हो चला। मुझे मिला, जो किसी को नहीं मिला।"[1]

प्राण के चरित्र के माध्यम से कहानीकार ने मानवीय धर्म के निर्वाह से प्राप्त उस सुख को संकेतित किया है जो मनुष्य को उदात्त धरातल पर पहुँचाकर उसकी आत्मा को सही अर्थों में सन्तुष्टि प्रदान करता है।

मेरा वतन :

'मेरा वतन' शीर्षक कहानी में विष्णु प्रभाकर ने एक महत्त्वपूर्ण सत्य — अपनी भूमि से उखड़े हुए मनुष्य की अन्तर्वेदना का चित्रण अंकित किया है।

'मेरा वतन' का मिस्टर पुरी विभाजन के परिणामस्वरूप अपना वतन छोड़ने को विवश हुआ है, किन्तु अपनी जन्मभूमि लाहौर को भूलना उसके लिए असंभव है। विभाजन के बाद वह अमृतसर में सपरिवार सुखी जीवन व्यतीत कर रहा है, किन्तु लाहौर उसके अवचेतन को इस तरह प्रभावित किये हुए है कि उसके स्वभाव में वह

1. 'मैं जिन्दा रहूँगा'—विष्णु प्रभाकर : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, सं० नरेन्द्र मोहन, निधि प्रकाशन, दिल्ली, पृ० [illegible]
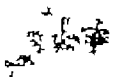
विभाजन के बाद भी लाहौर जाता रहता है। लाहौर में लोग उसे अमृतसर से आया हुआ मुस्लिम शरणार्थी समझते हैं, जिसका सब कुछ दंगों में लुट चुका है। जन्मभूमि के आकर्षण मे बंधा हुआ वह बार-बार लाहौर जाता है। पत्नी के पूछने पर वह उत्तर देता है "क्यों जाता हूँ, क्योंकि वह मेरा वतन है। मैं वहीं पैदा हुआ हूं। वहाँ की मिट्टी मे मेरी जिन्दगी का राज छिपा है। वहाँ की हवा मे मेरे जीवन की कहानी लिखी हुई है।"[1] वह जानता है कि "...अब कुछ नहीं हो सकता, पर न जाने क्या होता है, उसकी याद आते ही मैं अपने आपको भूल जाता हूँ और मेरा वतन मिकनातीस की तरह मुझे अपनी ओर खींच लेता है।"[2] इसी खिचाव मे बंधा वह एक बार फिर लाहौर जाता है, जहाँ एक व्यक्ति उसे पहचान जाता है। उसे मुखबिर समझकर गोली मार दी जाती है। जो अनेक व्यक्ति कुतूहलवश उस पर झुक आये है, उनमें एक उसका साथी हसन है।" जिसके साथ वह पढा था, जिसके साथ उसने साथी और प्रतिद्वंद्वी बनकर अनेक मुकदमे लड़े थे, वह अब भीगी-भीगी आँखों से देख रहा था। एक बार झुककर उसने फिर कहा, 'तुम यहाँ इस तरह क्यो आये मिस्टर पुरी ?"[3] पुरी सप्रयास आँखें खोलकर कहता है "मै यहाँ क्यो आया ? मैं यहाँ से जा ही कहाँ सकता हूँ ? यह मेरा वतन है हसन ! मेरा वतन...।"

फिर उसकी यातना का अन्त हो गया।[4]

अपनी जन्मभूमि से प्राकृतिक लगाव की उत्कटता का यह चित्र गहरी करुणा जगाता है।

विभाजन की विषयवस्तु पर रचित विष्णु प्रभाकर की कहानियों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि मूलतः इन कहानियों का स्वर करुणा तथा मानवीय संवेदना का है और इनके माध्यम से कहानीकार ने विभाजनकाल के विभिन्न आयामों के उद्घाटन का प्रयास किया है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार :

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार सामाजिक संचेतना के कहानीकार हैं। अपनी कहानियों मे उन्होंने जीवन के यथार्थ को सूक्ष्म अभिव्यक्ति दी है। वे शिल्पवादी न होकर जीवनपरक दृष्टिकोण रखने वाले कहानीकार हैं, इसीलिये उनकी कहानियों में एक

---

1. 'मेरा वतन'—विष्णु प्रभाकर : सिक्का बदल गया, पृ० 223.
2. वही
3. वही, पृ० 226.
4. वही, पृ० 227.

ओर जहाँ स्वस्थ जीवन-दृष्टि, आस्था एवं संकल्प हैं, वहीं दूसरी ओर कथ्य एवं कथन की ताजगी भी है। भारत-विभाजन पर लिखी गयी उनकी कहानियाँ इसका उदाहरण है।

मास्टर साहब :

उनकी 'मास्टर साहब' शीर्षक कहानी विभाजनकालीन हिंसा और क्रूरता के पीछे छिपी मानवीय करुणा का निदर्शन है। मास्टर साहब ने जीवन के 65 वर्ष अपने छोटे से कस्बे में बिताए हैं। उनके शागिर्दों की संख्या हजारों में है। उनका विश्वास है कि पाकिस्तान बनने पर भी कुछ नहीं बदलेगा, फिर उनके जैसा फारसीदाँ पाकिस्तान वालों को क्योंकर नागवार गुजरेगा ?"[1] किन्तु उनका यह सरल विश्वास प्रातःकाल होते ही टूट जाता है, जब अपने घर के अन्दर उन्हें पत्नी, पुत्री और बच्चों की लाशें मिलती हैं। उनकी पन्द्रह वर्षीय पोती निम्मो को गुण्डे अपने साथ ले गये हैं। जेब मे एक तेज चाकू छिपाकर वे निम्मो को ले जाने वाले जमींदार गुलामरसूल के घर पहुँचते हैं, जहाँ गुलामरसूल के चार वर्षीय पुत्र का हाथ पकड़े निम्मो उन्हे बैठक में दिखाई पड़ती है। हमीद का निम्मो के प्रति लगाव देखकर मास्टर साहब के आश्चर्य की सीमा नही रहती। तभी गुलामरसूल का वहाँ प्रवेश होता है। मास्टर साहब को पहचान कर वह अचम्भे से भर जाता है। क्रूर और हिंसक गुलामरसूल मास्टर साहब को सान्त्वना देते हुए सुरक्षित हिन्दुस्तान पहुँचाने का आश्वासन देता है।

इस कहानी में कहानीकार का यही दृष्टिकोण काम कर रहा है कि क्रूर-से-क्रूर मनुष्य के हृदय में कोमल मानवीय भावो का निवास है। परिवेश के दबाव ने गुलामरसूल को हिंसक बना दिया है, किन्तु अपने पुराने मास्टर साहब को देख क्रूरता के आवरण में छिपी उसकी मानवीयता उभर आती है। सैकड़ों हिन्दुओ के घर उजाड़ने वाला हत्यारा गुलामरसूल मास्टर साहब को देखकर भूल जाता है कि वे भी हिन्दू हैं। मास्टर साहब की आँखों मे आँसू देखकर वह द्रवित हो उठता है, उन्हें सान्त्वना देना चाहता है "बचपन में जब हम रोया करते थे, तो आप हमे चुप कराया करते थे। और आज......"[2] वह अपनी बात पूरी नही कर पाता क्योंकि उसकी अन्तःचेतना उसे कचोट रही है। उसे अनुभव हो रहा है कि जो व्यवहार उसने किया है, उसके कारण उसे यह सब कहने का अधिकार अब नही रहा।[3]

1. 'मास्टर साहब'—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार : मेरी प्रिय कहानियाँ : राजपाल एण्ड सन्ज, प्रथम संस्करण 1976, पृ० 16.
2. वही, पृ० 25.
3. वही, पृ० 25.

पतझड़ :

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी 'पतझड़' विभाजन के परवर्ती प्रभाव का चित्रण करती है।

अपनी जन्मभूमि छोड़ने को विवश कुछ वृद्ध पतझड़ में उड़ते हुए सूखे पत्तों की भाँति इधर-उधर भटकने को विवश हो गये हैं। दिल्ली के एक बेनाम प्लेस के लॉन मे इकट्ठा होने वाले पाँच-छः वृद्ध जीवन के अन्तिम चरण में होने वाले परिवर्तनों से अत्यन्त क्षुब्ध और चिन्तित हैं। अपनी जन्मभूमि की स्मृतियाँ उन्हें कचोटती तो है ही, दिल्लीवासियों की हृदयहीनता भी कम चोट नहीं पहुँचाती। निराश और टूटे हुए ये वृद्ध एक-एक कर मृत्यु का ग्रास बनते जाते हैं। ये वृद्ध कहानीकार को एक पूरे युग का प्रतीक जान पड़ते हैं, जिनके साथ भारत जैसे पुराने महादेश की एक संघर्षमय पीढ़ी का पूरा युग समाप्त हो गया है।

'पतझड़' के वृद्ध उस पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि है, विभाजन ने जिनके जीवन-मूल्य खण्डित कर डाले है और परिणामस्वरूप जिनके जीवन पतझड़ की भाँति शुष्क और अर्थहीन हो गये हैं। अपनी जड़ से उखड़े हुए ये लोग सूखे पत्तों की भाँति भटक रहे है।[1] नई और प्रतिकूल परिस्थितियाँ उन्हे मानसिक रूप से झकझोरती चली जा रही हैं। नई दुनिया, नये लोग, नया वातावरण और सबसे बढ़कर सभी पुरातन प्रथाओं की नितान्त अवज्ञा करता हुआ चारों ओर का धुमड़ता हुआ नया जीवन। एक गहरी उदासी और अटूट निराशा उनके चारों ओर स्पष्टतः मंडराती रहती है।[1] परिवेश के बदलाव ने इन वृद्धो को बिलकुल असहाय बना दिया है। इस अपरिचित माहौल के निवासियों से भी वे किसी प्रकार की निकटता का अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। दिल्ली की युवतियो का फैशन भी इन बुजुर्गों के लिये असहनीय है। परिवेश का दबाव इन्हे पूरी तरह तोड़ डालता है। विभाजन के बाद किसी-किसी दिन बेनाम प्लेस में पन्द्रह-पन्द्रह शरणार्थी वृद्धो की टोलियाँ देखी गयी। अब कौन जाने कि वह लोग इतना शीघ्र कहाँ चले गये? अपने बेटों के साथ दिल्ली छोड़कर बाहर चले गए या अपने को नई परिस्थितियों के अनुकूल नही बना पा सकने के कारण जीवन का इतना बड़ा आघात मानसिक रूप से अग्राह्य कर वे सब कुछ सप्ताहों में वहाँ चले गये, जहाँ देर सबेर उन्हें जाना ही था।[2]

इस कहानी में कहानीकार प्रकारान्तर से नये के आगमन का स्वागत करता है। विभाजन के प्रभावस्वरूप पुराने जीवन-मूल्य तेजी से बदले हैं। उनका स्थान नये मूल्य ले रहे हैं। वे अच्छे हैं या बुरे, इस पर विवाद करना व्यर्थ है, क्योंकि परिवर्तन की इस प्रक्रिया को रोकना सम्भव नहीं है। हर पुरानी पीढ़ी नये का स्वागत

1. पतझड़—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पृ० 137-138.
2. वही, पृ० 137.

करने में झिझकती है। ये वृद्ध उसी पुरानी परम्परा के प्रतिनिधि हैं, जिसको नष्ट होना अवश्यम्भावी है। एक-एक कर मरते हुए वृद्ध, मरती हुई पुरानी परम्पराओं के प्रतीक हैं। बसन्त का आगमन होने पर पतझड़ को समाप्त होना ही है।

होमवती देवी :

स्वप्न भंग :

होमवती देवी की कहानी 'स्वप्न भंग' पाकिस्तान के विषय में ऊँची-ऊँची कल्पनाएँ करनेवालों के स्वप्न-भंग की कहानी है।

गफूर की कबाड़खाने की दूकान है। इधर उसके दूकान का काम कुछ अधिक बढ गया है। क्योंकि पाकिस्तान जाने वाले लोग अपने-अपने सामान बेचकर पैसे बनाने की फिक्र मे है। पाकिस्तान मे इन सबकी क्या जरूरत क्योंकि वहाँ तो बहिश्त है बस, एक से एक बढिया सामान बिलकुल नया मिलेगा।[1] यह सब देखकर गफूर के मन मे तूफान उठने लगता है। वह सोचने लगता है, कैसा होगा वह शहर जहाँ इतने लोग अपने घर-द्वार और कारबार छोड़कर जा रहे हैं। गफूर को सुनने मे आया है कि वहाँ बडे-बड़े बंगले और ऊँचे ओहदे मिलेंगे। जब वह मुहल्ले की बड़ी मस्जिद के मुल्लाजी को भी बेचने के लिये सामान लाते देखता है, तब जैसे आकाश से गिरता है। घर आकर वह स्वयं भी पाकिस्तान जाने का निश्चय करता है। उसकी पत्नी विरोध करती है। झगड़े और चीख-पुकार की आवाजें सुनकर पड़ोसी जमा हो जाते हैं। तब पता चलता है कि मुल्लाजी ने पाकिस्तान जाने का इरादा छोड़ दिया है। गफूर आँखें फाड़कर देखने लगता है "अच्छा तमाशा है, मुल्लाजी भी नहीं जा रहे – और जो गये हैं—वे पछता रहे हैं।" पाकिस्तान और बहिश्त, बड़ी-बड़ी आलीशान कोठियाँ और मोटरें—सब उसकी आँखों से स्वप्नवत् भंग होने लगती हैं।[2]

उपेन्द्रनाथ अश्क :

'अश्क' वैयक्तिक यथार्थ के उद्घोषक हैं। यद्यपि वे सामाजिक सचेतना की उपेक्षा नहीं करते। व्यक्ति तथा समाज को समानान्तर बिन्दुओं के बीच अर्थ की गरिमा प्रदान कर उन्होंने उसके बहुविध पक्षों को यथार्थ के धरातल पर रूपायित किया है। विभाजन को विषय बनाकर लिखी गयी उनकी तीन कहानियाँ—चारा काटने की मशीन, ज्ञानी और टेबल लैण्ड, में से पहली दो विभाजन कालीन परिस्थितियों के लाभ उठाने की प्रवृत्ति का हास्य-व्यंग्यपूर्ण चित्रांकन है। तीसरी विभाजन की त्रासदी के सन्दर्भ मे लेखक का मानवीय दृष्टिकोण स्पष्ट करती है।

1. स्वप्न भंग—होमवती देवी, कहानी संग्रह—स्वप्न भंग, प्रकाशन वर्ष 1948 प्रकाशक—मदनमोहन निष्काम प्रेस, मेरठ, पृ० 17.
2. वही पृ० 19

चारा कटाने की मशीन :

'चारा काटने की मशीन' विभाजन के परिवेश में मची आपा-धापी का लाभ उठाने वाली मानसिकता पर तीखा व्यंग्य है।

अमृतसर में पुतली घर के समीप एक खुले अहाते में सरदार लहनासिंह चारा काटने की मशीनें बेचते हैं। विभाजन के समय जब मुसलमान जान का मोह लेकर भागने लगते हैं, सरदार लहनासिंह की पत्नी को चेतना आती है, 'तुम हाथ पर हाथ धरे बैठे रहोगे' वे पति से कहती हैं 'और लोग एक-से-एक बढ़िया मकान पर कब्जा कर लेंगे।'[1] सरदारजी जोश में आकर एक हाथ मे कृपाण और दूसरे मे ताला लेकर इस्लामाबाद के किसी बढ़िया नये मकान पर अधिकार जमाने चल पड़ते हैं। मनफ्रैंता से आगे बढ़ते सरदारजी को अपने मित्र गुरदयाल सिंह एक मकान का ताला तोड़ते दिखाई पड़ते हैं। एक बड़े और सुन्दर मकान पर कब्जा जमा तथा मित्र को मकान का ख्याल रखने की ताकीद कर वे अपना सामान लाने चल पड़ते हैं, ताकि मकान पूर्ण रूप से उनका हो जाए। सरदारनी सामान के साथ चारा काटने की एक मशीन भी ले जाकर नये घर में रख देने का सुझाव देती है, जिससे उनकी मिल्कियत में किसी प्रकार का सन्देह न रह जाए। सरदारनी का यह प्रस्ताव सरदारजी को बहुत पसन्द आता है। सामान और चारा काटने की मशीन सहित नये घर में पहुँचने पर यह देख उन्हें अपनी भूल का एहसास होता है कि गुरदयाल की पत्नी और बच्चे तो नये मकान में पहुँच भी गये हैं। सारा सामान ड्योढी मे रखकर, बड़ा सा ताला लगा वे तत्काल पत्नी-बच्चों को लाने चल पड़ते हैं। लौटने पर उन्हें ताला टूटा हुआ मिलता है। ड्योढी से सारा सामान गायब है, केवल चारा काटने की मशीन मुस्तैदी से अपने पहरे पर जमी हुई है। ड्योढी में प्रवेश करते ही दो लम्बे-तड़ंगे सिख उनका रास्ता रोकते हुए कहते हैं कि यह मकान शरणार्थियों के लिये नहीं है, इसमें थानेदार बलवन्तसिंह रहते हैं। थानेदार का नाम सुनकर लहनासिंह की कृपाण म्यान में चली जाती है। उन्हे बाहर ढकेलते हुए वे सिख कहते हैं 'अदालत मे जाकर दावा करो। दूसरे के सामान को अपना बनाते हो।''[2] सरदारजी चारा काटने की मशीन को सबूत के तौर पर पेश करना चाहते हैं। "यों क्यों नहीं कहते कि चारा काटने को मशीन चाहिए।" कहकर उन्हें धकेलने वाला सिख अपने साथी को सम्बोधित करता है "सुट्ट ओ करतारासिंहा, मशीन नूं बाहर। गरीब शरणार्थी हुण। असां इह मशीन साली की करनी ए।" [3] मशीन बाहर फेंक दी जाती है। दो-ढाई घण्टे के

1. चारा काटने की मशीन : उपेन्द्रनाथ अश्क : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 27.
2. वही, पृ० 32.
3. वही, पृ० 32.

असफल बावेले के पश्चात् जब सरदारजी वापस लौटते हैं, तब उनके बीबी-बच्चे पैदल जा रहे है और बैलगाड़ी पर केवल चारा काटने की मशीन लदी हुई है ।

यह चारा काटने की मशीन मनुष्य की विभाजनकालीन क्रूर मानसिकता का प्रतीक है । 'चारा कटाने की मशीन जिस प्रकार भावना-रहित हो चरी के निरीह पूले काटती है, एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के अनुयायियों को काट रहे हैं ।'[1] विभाजन की त्रासदी के शिकार असहाय मनुष्यो को अनदेखा कर अवसरवादी तत्व अपनी स्वार्थसिद्धि मे जुटे हैं । विभाजन के बाद का माहौल, जिसमें लूट-खसोट का बाजार गर्म हैं; लहनासिंह जैसे अनेक लोगों को अवसर का लाभ उठाने को प्रेरित कर रहा है । कानून और व्यवस्था खत्म से हो गये नजर आते हैं । शक्तिशाली अपने से दुर्बल को दबा रहे हैं । सरदार लहनासिंह एक मकान पर कब्जा जमाते हैं, लेकिन उनसे कहीं अधिक शक्तिशाली होने के कारण थानेदार बलवन्तसिंह उस मकान पर ही नही, सरदारजी के सामान पर भी कब्जा जमा लेते हैं । अपनी मिल्कियत की गवाही देने वाली जिस मशीन को वे पहरे पर तैनात कर गये थे, केवल वही उन्हें वापस मिलती है ।

ज्ञानी :

उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानी 'ज्ञानी' में भी साम्प्रदायिक दंगों का फायदा उठाने वालों का व्यंग्यपूर्ण चित्रण है । लेखक के पड़ोसी सरदार करनार सिंह ज्ञानी पुरुष थे । जो कुछ उनके पास था, उसी में वे सन्तुष्ट थे । उनके अपने कथनानुसार ज्ञान की दौलत से वाहेगुरु ने उन्हे मालामाल कर रखा था । ज्ञानी जी को कहानी के 'मैं' से शिकायत थी कि वह सांसारिक माया-मोह में फँसा हुआ है । तभी पंजाब के विभाजन के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दंगों की प्रतिक्षण फैलती हुई आग उनके गाँव तक आ पहुँची । लूट-मार मची हुई थी और मुसलमानों के टोले की ओर से जो जिससे हाथ आता था, लूटे लिये आ रहा था । 'मैं' अपने घर की छत पर बैठा ज्ञानीजी की बातो पर विचार कर रहा था "जब सब को एक दिन मरना है,…… जब मनुष्य सब कुछ यही छोड़कर खाली हाथ यहाँ से जायेगा, तो यह लूट-मार, कत्ल, गारतगरी क्यों ? "[2] इस हत्याकाण्ड से पहले ज्ञानीजी के शब्दों की सच्चाई उस पर कभी यों प्रकट न हुई थी ।

तभी उसने देखा कि ज्ञानी जी कन्धे पर एक हल रखे और हाथ में नूरदीन की दोधार गाय की रस्सी थामे चले आ रहे हैं । उसकी गाय गाँव भर में प्रसिद्ध थी । ज्ञानी जी के निकट आने पर 'मैं' ने उनसे प्रश्न किया "ज्ञानी जी आप भी ?"

---

1. चारा काटने की मशीन, उपेन्द्रनाथ अश्क, पृ० 29.
2. ज्ञानी—वही, : सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ ; नीलाभ प्रकाशन, पृ० 609.

दार्शनिकों के अन्दाज में ज्ञानी जी ने उत्तर दिया 'अजी लाला हम न लाते तो कोई और ले जाता। यहाँ हमारा क्या है, सब 'वाहे गुरु' का है। इसका दूध भक्तों के काम आयेगा।'[1] इसके बाद घर के द्वार पर एक जंग लगा ताला लगा वे दिनभर वाहे गुरु का भण्डार भरते रहे। फिर उन्होने कभी 'मैं' को उपदेश नहीं दिया, बल्कि उसे भी वाहे गुरु के भक्तों मे शामिल कर लिया। दूसरे ही दिन छाछ का लोटा और दही का बड़ा कटोरा भर कर वे उसके घर पर दे गये।

यह कहानी भी परिवेश का लाभ उठाने वालों की मानसिकता पर व्यंग्य है। ज्ञानी जी ज्ञान और धर्म का उपदेश दिया करते हैं किन्तु एक बार दंगा आरम्भ होते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अनासक्ति के उनके उपदेश कितने खोखले थे और स्वयं को ज्ञान की दौलत से मालामाल सिद्ध करने की उनकी घोषणा केवल इसलिये थी क्योंकि सांसारिक दौलत से मालामाल होने का उन्हें अवसर न मिला था। एक बार ऐसा अवसर हाथ आते ही उनके व्यक्तित्व पर चढ़ाया गया अनासक्ति का मुलम्मा उतर गया और विभाजनकालीन परिवेश का पूरा-पूरा फायदा उठाते हुए वे लूटखसोट में जुट गये।

टेबल लैंड :

अश्क की 'टेबल लेण्ड' शीर्षक कहानी विभाजनकालीन परिवेश से आक्रान्त निरीह मनुष्य की यातना कथा है।

पंचगनी के सेनीटोरियम मे भर्ती दीनानाथ नाम का रोगी रोगमुक्त होने के बाद पंजाब के हिन्दू शरणार्थियो के लिये चन्दा एकत्र करना प्रारम्भ करता है। वह स्वयं लाहौर का रहने वाला है। भाई के पत्र से जलते हुए लाहौर का दृश्य सामने आते ही उसे ऐसा लगता है मानो लाहौर को नहीं, उसके हृदय को ही आग लग रही है। भाई के पत्र से शरणार्थियो की दयनीय दशा का अनुमान कर वह चन्दे द्वारा कम्बलों की व्यवस्था का निश्चय करता है। मुसलमानो से चन्दा मागने का ध्यान उसे नही आता, किन्तु जब उसका मित्र कासिम इस नेक काम के लिय पाँच रुपये चन्दे के तौर पर देना चाहता है, दीनानाथ से इन्कार करते नही बनता। कासिम समझता है कि "पंजाब से आने वाले हिन्दू-सिख बड़े कटु होंगे। जब तक वे दुःखी रहेंगे, उनका साम्प्रदायिक क्रोध शान्त न होगा, वे अपने ही ऐसे निर्दोष मुसलमानो की हत्या करने से बाज न आयेंगे। उनकी मदद करना तो मेरे लिये अपने भाइयों की मदद करने के बराबर है।"[2] चन्दा एकत्र करने के सिलसिले में दीनानाथ की भेंट डॉ० मरचेन्ट के नर्सिंग होम मे पचास-पचपन वर्षीय एक बुजुर्ग से होती है जो दीनानाथ को मुसलमान समझकर अपनी विपदा कथा सुनाते हैं। तब दीनानाथ

1. ज्ञानी : उपेन्द्रनाथ अश्क, पृ० 609.
2. टेबल लैंड, वही : सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 273.

को जिसने अब तक पाकिस्तान में हिन्दू-सिखों पर होने वाले पाशविक अत्याचार की कथा सुनी है, जालन्धर मे मुसलमानो की तबाही का पता चलता है। बुजुर्ग से यह सुनकर कि "इन्तकाम की आग मे तन-मन जलता है ··· लेकिन जब पाकिस्तान मे हिन्दुओं पर होने वाले जुल्मों की बात सुनते है, तो इसे अपने ही गुनाहों का फल समझकर चुप हो रहते है।"[1] दीनानाथ इतना उद्वेलित होता है कि हिन्दू शरणार्थियो की सहायता का संकल्प भूलकर चन्दे में एकत्र सारे रुपये उन्ही बुजुर्ग के हवाले कर देता है।

परिवेश का दबाव किस प्रकार मनुष्य की मानसिकता को परिवर्तित करता है, दीनानाथ इसका उदाहरण है। हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रबल समर्थक दीनानाथ हिन्दुओं पर अत्याचार की सूचनाओ से धीरे-धीरे साम्प्रदायिक बनने लगा है, इसी कारण वह केवल हिन्दू शरणार्थियो के लिए ही चन्दा एकत्र करने की सोचता है। परिवेश के दबाव ने दीनानाथ की नैतिकता को, उसके जीवन मूल्यों को प्रभावित और परिवर्तित अवश्य किया है, किन्तु यह परिवर्तन स्थायी नही है। इसी कारण एक मुस्लिम वृद्ध की करुण कथा उसकी संवेदनाओ को झकझोर देती है। साम्प्रदायिक धरातल से ऊपर उठकर वह एक बार फिर मनुष्यता के उस धरातल पर पहुँच जाता है, जहाँ विभाजन की त्रासदी को भोगता हुआ मनुष्य केवल 'मनुष्य' है, हिन्दू या मुसलमान नही। दीनानाथ द्वारा चन्दे में एकत्र राशि मुस्लिम वृद्ध का सौप देना और कासिम की निष्कपटता तथा आस्था साम्प्रदायिकता के घने अधेरे मे किसी-न-किसी रूप में जीवित मानवीय चेतना के प्रतीक है। इस कहानी मे कहानीकार ने परिवेश के दबाव से आक्रान्त निरीह शरणार्थियो की दयनीय दशा को भी उजागर किया है। इस अर्थ मे यह विभाजन की त्रासदी को भोग रहे असहाय मनुष्यों की यातना कथा भी बन गई है।

इस कहानी के माध्यम से भयावह दुर्घटनाओ के तहत तटस्थ रहने वाली मनुष्य की मानसिकता भी उभरकर सामने आती है। विभाजन ने भारत के एक बड़े भू-भाग के निवासियो को उस हद तक प्रभावित नही किया, ऐसी क्रूर घटना का जिस हद तक प्रभावित करना सम्भव था। इसका कारण यही था कि उन्होने या उनके स्वजनो ने प्रत्यक्षतः इस त्रासदी को नही भोगा। दीनानाथ भी तब तक तटस्थ रहता है, जब तक उसकी जन्म-भूमि या उसके सगे-सम्बन्धी प्रत्यक्षतः विभाजन की लपेट मे नहीं आते। यही मानसिकता बहुत निर्मम रूप मे उस बड़ी सी दूकान के मालिक के व्यवहार में झलकती है, जो शरणार्थियों की सहायता के लिए चार आने चन्दे के तौर पर देता है। किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है, जा असमर्थ बीमार नासिर एम० आबू वाला के दो रुपये के दान में प्रकट हुआ है।

---

1 टेबल लैण्ड · अश्क · सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ पृ० 281

अमृतलाल नागर :

प्रेमचन्द के बाद उनकी परम्परा मे ही कुछ अधिक मनोवैज्ञानिक सचेष्टता लेकर सामाजिक अध्ययन की जागरूकता नागरजी मे दिखाई पड़ती है। अपनी विशिष्ट शैली मे उन्होने सामाजिक विसंगतियों एवं विकृतियो पर मर्मान्तक व्यंग्य किये हैं।

आदमी-जाना : अनजाना :

अमृतलाल नागर की कहानी 'आदमी-जाना : अनजाना' मानवमन की उलझनों और उसके चरित्र के जाने-अनजाने पक्षों का उद्घाटन करती है। कहानी मियाँ एहसान अली खाँ नामक ऐसे रईस को आधार बनाकर चलती है जिनका जन्म रघुवंशी ठाकुरो के एक सम्पन्न नौमुस्लिम जमींदार परिवार से हुआ है। मियाँजी के पिता बेटे को बचपन से ही कट्टर मुसलमान बनने की नसीहत दिया करते थे। उनका कहना था "हिन्दू मजहब कुफ्र की बातों से भरा है, उन्हें सुनने से पहले ही कानों में उंगली दे लो, उनके देवी-देवताओं के नाम पर थूकों, मगर शिरी रामचन्दर जी का नाम सुनते ही अदब से सिर झुका लो। वह हमारे खानदान के पुरखे थे।"[1] हिन्दू काफिर है। रामचन्द्र पुरखे थे, इस्लाम सच्चा है—मियाँजी बचपन से ही अपने मन मे इन बातो को लेकर बेहद उलझ हुए थे। जब सुलझाव पाया तो कहने लगे कि हिन्दू और मुसलमान—दोनों धर्म झूठे हैं। सच्चा सोशलिज्म है। उनके ससुर कट्टर सुन्नी थे। मियाँजी के पिता की मृत्यु के बाद वे दामाद की रियासत में आकर रहने लगे। उन्होंने मियाँजो के अधिकांश शिया और ठाकुर कारिन्दों को निकलवा दिया। रियासत की गरीब हिन्दू प्रजा पर भी तरह-तरह के अत्याचार करने के बहाने वे निकालने लगे। मियाँजी के दोनों पुत्र शुरू से ही अपने नाना की मजहबी नसीहतों पर चले। पिता उन्हे समझाते थे "तुम उस आला खानदान के हो जिसमे कि शिरी रामचन्द्रजी और लक्ष्मनजी पैदा हुए थे।"[2] लेकिन नाना शुरू से ही लड़कों को राम-लक्ष्मण के खिलाफ भरते रहे। बाप-दादा के कुल को तुच्छ बताते हुए वे बच्चों से कहते थे, "आखिर हैं तो ये लोग काफिर ही। इस्लाम की बारीकियो को क्या जाने।"[3] परिणाम यह हुआ कि बच्चों को अपने पिता और पुरखों के खून से घृणा हो गई। विद्यार्थी जीवन में ही वे कट्टर मुस्लिम-लीगी बने।

देश का बंटवारा होते ही इन लोगों के यहाँ से जाने का मसला सामने आया। उस समय मियाँजो के मन में इस सुप्त सत्य ने जम्हाई ली कि चार पीढ़ियों से मुसलमान होने के बावजूद वे मर्यादा पुरुषोत्तम रघुवंशी राम के वंशज हैं और

1. आदमी—जाना : अनजाना—अमृतलाल नागर : मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ० 120.
2. वही पृ० 124.
3. वही पृ० 124.

अवध को छोड़कर कहीं और जा बसना कुफ्र है। दोनों पुत्र अपने नाना के साथ पाकिस्तान चले गये। कुछ समय बाद मियाँजी की पत्नी बच्चों से मिलने पाकिस्तान गई। दोनों लड़कों ने वहाँ से मियाँजी को बड़े विनम्र पत्र भेजे और उसके बाद से देवाशरीफ की जियारत के लिये हर साल आने लगे। मियाँजी को मालूम है कि देवाशरीफ की जियारत सरासर धोखा है। लड़के दौलत के लालच में अपने काफिर खून वाले बाप की खुशामद कर रहे है। रुपये मिलने के बाद वे फिर कभी हिन्दोस्तान नहीं आएँगे। होता भी यही है। बेगम अवश्य फिर लड़कों के साथ नहीं जातीं। पिता के देहान्त के समय वे पाकिस्तान जाती हैं और फिर लौट नहीं पातीं। दो महीने के बाद वहीं उनकी भी मृत्यु हो जाती है। उसके बाद मियाँजी विक्षिप्त से हो जाते हैं। मृत्यु के पहले वे अपनी वसीयत मे लिखते है कि उनके मरने के बाद अन्तेपुर वाले महल में एक इण्टरमीडिएट कालेज खोला जाए जिसका नाम हो श्री रामचन्द्र मुस्लिम इन्टरमीडिएट कालेज। उनका स्वप्न है कि "मेरे अवध के हजारों बच्चे वहाँ पढ़ेंगे। अवध का नाम होगा। खुदा खुश होगा।"[1] दिल और दिमाग की उलझनें अन्त में उन्हें आत्महत्या के लिये विवश कर देती हैं।

मियाँजी का चरित्र द्वन्द्व में फँसे उन असंख्य मुसलमानों का प्रतीक है जो अपनी परम्पराओं से पूरी तरह कट नहीं पाते, अपनी सांस्कृतिक धरोहर पर जिन्हें गर्व है; किन्तु उनकी त्रासदी यह है कि वर्तमान माहौल मे वे अपने ही परिवार मे अजनबी होते जा रहे हैं। पुरानी परम्पराओं के प्रति उनका मोह कुफ्र का परिचायक बन गया है। उनके लिये सबसे त्रासद यह है कि अपनी जिस विरासत पर उन्हे गर्व है, वही उनके बेटों के लिये हीनता का परिचायक बन गया है। भावुक मियाँजी जीवनभर जलते रहते हैं। पाकिस्तान बन जाने के बाद वे किसी भी मूल्यपर अपने पुरखों की जमीन छोड़कर जाने को तैयार नहीं होते जिसके लिये उन्हे अपनी सन्तान से ही अपमानित होना पड़ता है। जब बेटे सपरिवार भारत आते हैं, पोते को देखने की उमंग मियाँजी को ललचाती है, लेकिन फिर उन्हें लगता है अब वह खून का असर उसमें कहाँ रहा ? न वह अवध को प्यार करेगा, न अपने आला खानदान को।'[2] बीबी-बच्चों को बहकाकर पाकिस्तान ले जाने वाले ससुर उन्हें सीता को हरने वाले रावण का प्रतिरूप नजर आते है। पत्नी की मृत्यु के बाद अकेलेपन मे घुटते हुए मियाँजी विक्षिप्त हो जाते है। अन्तर्द्वन्द्व मे फँसे हुए वे अन्त मे इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि "......न तो खुदा ही है और न शैतान। इन्सान ने अपने अन्दरवाले डर के ही दो नाम रख लिए हैं। दिल मे खुदा रहता है और दिमाग मे शैतान।"[3] दोनों से आजिज आकर अन्त में वे आत्महत्या कर लेते है।

1. टेबल लैण्ड : अश्क : सत्तर श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 128.
2. वही, पृ० 126.
3. वही पृ० 116.

आदमी नहीं ! नहीं !! :

इस कहानी में लेखक ने महर्षि सुकरात के माध्यम से समाज की विकृतियों का यथार्थ चित्रण किया है। सुकरात धरतीमय होने के पश्चात् विश्व-स्थिति का अध्ययन करते निकले। उन्होंने देखा कि एक स्थान पर साम्प्रदायिक संघर्ष हो रहा था, खेत जलाये जा रहे थे। सुकरात ने समझाया 'खेत न तो हिन्दू है, न सिक्ख, न मुसलमान। पेट न हिन्दू है, न सिक्ख, न मुसलमान। पेट सबका है, अन्न सब का है, आदमी का है।

'नहीं नहीं। हमें आदमियत की तरफ मत ले जाओ। इंसानियत के सिद्धान्त हमें कायर बनाते हैं, गुलाम बनाते हैं। हम आजाद हैं।.........आदमियत मुर्दाबाद......'

'मगर खेत क्यों जलाते हो ? खेत तुम्हारे हैं—राम-राज के हैं, इस्लाम राज के हैं।'[1]

सुकरात ने यहाँ साम्प्रदायिकता के विष को अपने यौवन पर देखा। भारत के सभ्य कहे जाने वाले शिक्षित वर्ग में भी उन्हें मानवता के दर्शन नहीं हुए। एक बाबू साहब से परिचय पूछने पर उन्होंने धर्म, जाति और शिक्षा का ही परिचय दिया। सुकरात ने पुनः पूछा—

'...जनाबेवर...नाम आपका है, डिगरियाँ आपकी हैं, पैसा है, जाति है, धर्म-मजहब है—सब कुछ आपका है। मगर खुद आप कौन हैं ?'

'अजी मैं आदमी हूँ, और कौन ?'

'गनीमत है कि अपने तमाम उर्फों के बावजूद तुम अभी यह नहीं भूले कि तुम आदमी हो। भटके हो मगर भूले नहीं। मगर भाई मेरे तुम आदमी हो। हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान या कोई भी धर्म देश और नाम से तुम बदल नहीं पाते। औरतें और बच्चे भी तुम्हारे ही हैं। फिर किसे मारोगे ? किससे बदला लोगे ? खुद अपने से ही ?'

'अपने से क्यों ? हम हिन्दू से बदला लेंगे, सिख से बदला लेंगे......'[2]

अमृत राय :

अमृत राय समाजवादी चेतना के कहानीकार हैं। सामाजिक असमानता, शोषण, वर्ग वैषम्य से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं का अंकन उन्होंने यथार्थ के धरातल पर किया है। वे नैतिक स्खलन का आधार भूख, गरीबी, सामाजिक विषमता तथा नारी की दयनीय स्थिति को मानते हैं। इन्हें समाप्त करने पर ही देश का नैतिक

1. 'आदमी, नहीं ! नहीं !!'—अमृतलाल नागर : 'एटम बम', पृ० 42.
2. वही, पृ० 46.

विकास सम्भव है, ऐसी उनकी मान्यता है। आजादी के बाद की मूल्यहीनता, शोषण तथा अनाचार का यथार्थ चित्र इनकी कहानियों में अंकित हुआ है।

व्यथा का सरगम :

यह कहानी विभाजन के परिवेश से आक्रान्त निरुपाय मनुष्य की करुण गाथा है। विभाजन के दौरान मनुष्य की क्रूर मानसिकता का सबसे अधिक शिकार स्त्री ही हुई। इस कथा की नायिका बन्नो ऐसी ही स्त्री है, दंगों में जिसका सर्वस्व लुट चुका है। अब वह शरणार्थी कैम्प में है और भयानक अनुभवों, पीड़ाओं तथा साहस को नाजुक शरीर में समेटे खामोशी से अपनी व्यथा को सहन कर रही है। वहीं एक शाम वह कुछ शरणार्थी नौजवानों के चंगुल में फँसी असहाय मुस्लिम स्त्री को देखती है और तब अपना खंजर उस लड़की के पेट में भोंकने के बाद वह उसे अपने सीने में उतार लेती है।

इस कहानी में विभाजन ने सैकड़ों स्त्रियों को जो कुछ अत्यन्त क्रूर और भयावह सहन करने को बाध्य किया—बन्नो के चरित्र के माध्यम से लेखक ने उन सब पर संवेदनापूर्ण दृष्टि डाली है। विभाजन ने बन्नो जैसी असंख्य स्त्रियों का सब कुछ लूटकर उनके जीवन में भयानक शून्य भर दिया है। इन्हें देखकर किसी क्रूर दैत्य द्वारा शापित उस राजकुमारी की याद आती है, जिसका सखा खो गया है, परिजनों ने उन्हें छोड़ दिया है और अब अकेले ही उन्हें अपनी व्यथा का पर्वत ढोना है। विभाजन के परिवेश में मनुष्य की हैवानियत खुलकर सामने आ गई है, जिसका शिकार सबसे अधिक मनुष्य को ही होना पड़ा है। एक मुस्लिम लड़की पर अनाचार होते देख पहले तो बन्नो के भीतर का पशु भी तृप्ति का सुख पाता है, क्योंकि वह स्वयं भी ऐसे नाटक की नायिका रह चुकी थी, फर्क इतना ही था कि वहाँ ये दरिन्दे हिन्दू के स्थान पर मुसलमान थे। किन्तु वहशीपने का कोई धर्म नहीं होता और जल्दी ही बन्नो को अनुभव होता है कि उस लड़की और उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं। वह जैसे एक बड़े आईने के सामने है।[1] अपने आप को उस लड़की से एकात्म करके देखने के बाद वह उसकी हत्या करके उसको मुक्ति देती है और स्वयं भी आत्महत्या कर लेती है। उसके चरित्र द्वारा लेखक यही व्यंजना करना चाहता है कि एक मनुष्य की व्यथा का अनुभव कर दूसरे के हृदय में व्यथा का जो अदृश्य सरगम गूँज उठता है वह जाति, धर्म की संकुचित सीमाओं से कहीं ऊपर है।

विभाजन पर रचना करने वाली अपेक्षाकृत नई पीढ़ी के कहानीकार—जिनमें मोहन राकेश, कमलेश्वर, महीप सिंह, बदीउज्जमाँ आदि मुख्य हैं, उस समय उभरे

---

1. व्यथा का सरगम : अमृत राय : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 26.

जब देश मोह-भंग के काल से गुजर रहा था, और जब आजादी के पश्चात् देश काफी हद तक स्थिरता पा चुका था। अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और विष्णु प्रभाकर जैसे कथाकारों के विपरीत इन नये रचनाकारों ने जिस समय कहानी लिखना प्रारम्भ किया, उस समय देश विभाजन की समस्या का सामना नहीं कर रहा था। इस कारण इनमें विभाजन को लेकर जो यादें और जो भी भावात्मक हलचलें घर किये हुए थीं—धीरे-धीरे देश की उभरती यथार्थता की गर्द के नीचे दबती गयी।[1] विभाजन एक परिस्थिति मात्र थी, जब कि विभाजन के बाद जो कुछ हुआ वह एक साक्षात्कार था, यह किसी परिस्थिति का नहीं, बल्कि एक प्रक्रिया का साक्षात्कार था, और यह प्रक्रिया थी—जीवन के सभी पहलुओं में बढ़ता पतन; जिससे स्थापित मूल्यों को ठेस पहुँची थी, और कई विपरीत या गलत मूल्य उभरने लगे थे; मूल्यहीन धारणाएँ मूल्य बनने लगी थीं। इस सन्दर्भ में विभाजन की हिंसक घटनाएँ गौण और तुच्छ लगने लगी थीं, और मनुष्य जिन नयी परिस्थितियों से घिरा था, वे अधिक विनाशकारी-प्रतीत होने लगी थीं। नये कथाकारों में इनके प्रति प्रतिक्रिया हुई, किन्तु उन्होंने इन प्रतिक्रियाओं के साथ भावनाओं को नहीं जुड़ने दिया। परिणामस्वरूप वे ऐसे मार्ग पर बढ़े जिस पर जीवन को भावनात्मक या व्यक्तिपरक दृष्टि से न देखकर उसे यथार्थता की दृष्टि दे सकें। इस प्रतिक्रिया ने यथार्थवादिता को जन्म दिया। विभाजन को आधार बनाकर लिखी गयीं नये कथाकारों की कहानियाँ अतिरिक्त भावुकता से मुक्त रहकर सूक्ष्म संवेदना के स्तर पर विभाजनकालीन परिस्थितियों एवं प्रभावों को यथार्थपरक दृष्टि से देखने का प्रयास है।

मोहन राकेश :

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी को कथ्य एवं शिल्प दोनों धरातलों पर जिन कहानीकारों ने सबसे अधिक प्रभावित एवं समृद्ध किया है, उनमें मोहन राकेश अग्रगण्य हैं। सन् 1947 के बाद विकसित होने वाले जीवन के नये सन्दर्भ इनकी कहानियों का कथ्य हैं। मोहन राकेश में मानवीय मूल्यों के प्रति गहरी आस्था है। इसीलिए वे

1. "हमारा सम्बन्ध उस समय सबसे अधिक उस सबसे था जो कि हमारे इर्द-गिर्द हो रहा था, न कि उससे जो विभाजन के इर्द-गिर्द का हो रहा था, क्योंकि जो हम लोगों के इर्द-गिर्द हो रहा था वह विभाजन से कहीं अधिक विनाशकारी था। मेरा अपना विचार है कि विभाजन के सम्भवतः कुछ लाख लोग ही शिकार हुए, जबकि इस देश के विभाजन के बाद की परिस्थितियों के तो करोड़ों लोग शिकार हुए और जिसने हममें से अधिकांश को तो कहीं अन्दर भीतर से खत्म करके भी रख दिया था।"
—मोहन राकेश : साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि. राधाकृष्ण प्रकाशन, 1975, पृ० 148-149

यथार्थ की कड़ुवाहट के बीच भी इन मूल्यों को एक धरोहर के रूप में सहेजते रहे है। उनकी कहानियाँ जहाँ सम्बन्धों में आये विघटन को प्रस्तुत करती है, वहीं उनके अन्दर से नये मूल्यो की खोज तथा उनके निर्माण की ओर भी सकेत करती है।

विभाजन के सन्दर्भ में लिखी गयी मोहन राकेश की कहानियाँ विभाजन की तात्कालिक घटनाओ के स्थान पर विभाजन के प्रभाव, इससे उत्पन्न समस्याओ तथा मानव-मन की उलझनों को आधार बनाकर चलती हैं। ये कहानियाँ विभाजन के सन्दर्भ में निरर्थक हो गये मानवीय मूल्यो, टूटते विश्वासों से उत्पन्न करुणा एवं मोह-भंग की कहानियाँ हैं, तथापि इनका स्वर निराशावादी नहीं है।

मलबे का मालिक :

मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक' शीर्षक कहानी विभाजन के साढ़े सात वर्षों के अन्तराल के बाद वहाँ से शुरू होती है; जब मुसलमानों की एक टोली हॉकी मैच देखने के बहाने लाहौर से अमृतसर आती है।

इस टोली में वृद्ध गनी मियाँ भी है, जिसके हृदय में विभाजन पूर्व के अपने उस मकान को देखने की लालसा है, जिसे उसने बड़े अरमानों से बनवाया था। विभाजन से पहले ही वह पाकिस्तानी इलाके में चला गया था और वहीं उसे अपने मकान के जलने और अपने बेटे चिराग तथा उसके बीबी-बच्चों के मारे जाने की खबर मिल गयी थी। पर वह यह नही जानता था कि जिस रक्खे पहलवान पर उसे और उसके बेटे चिराग को अटूट विश्वास था, उसी ने चिराग और उसके बीबी-बच्चों की हत्या की थी। उनकी हत्या के बाद न जाने किसने उस घर को आग लगा दी थी। रक्खे पहलवान ने कसम खायी थी कि वह आग लगाने वाले को जिन्दा जमीन में गाड़ देगा, क्योंकि उसने उस मकान पर नजर रखकर ही चिराग को मारने का निश्चय किया था। मगर आग लगाने वाले का पता ही नहीं चल सका, उसे जिन्दा गाड़ने की नौबत तो बाद मे आती। अब साढ़े सात साल से रक्खा पहलवान उस मलबे को अपनी जागीर समझता आ रहा था। अपने मकान के मलबे को देखकर गनी मियाँ फूट-फूटकर रो पड़ता है। पीपल के नीचे बैठे हुए रक्खे पहलवान पर दृष्टि पड़ते ही गनी की दोनों बाँहें फैल जाती है। किन्तु रक्खे पर कोई प्रतिक्रिया न देखकर वह पीपल के तने का सहारा लेकर वहीं बैठ जाता है "देख रक्खे पहलवान, क्या से क्या रह गया है? भरा-पूरा घर छोड़कर गया था और आज यहाँ मिट्टी देखने आया हूँ···मेरा यह मिट्टी भी छोड़कर जाने को जी नहीं करता।"[1] आँसू रोकता हुआ आग्रह-पूर्वक वह कहता है "तू बता, रक्खे, यह सब हुआ किस तरह?··· तुम लोग उसके पास थे, सबमे भाई-भाई की सी मुहब्बत थी, अगर वह चाहता तो

1. मलबे का मालिक—मोहन राकेश : सिक्का बदल गया, पृ० 196-197

वह तुममें से किसी के घर में नहीं छिप सकता था ?"[1] "रक्खे मैंने उसे समझाया था कि मेरे साथ चला चल। मगर वह अड़ा रहा कि नया मकान छोड़कर कैसे जाऊँ, यहाँ अपनी गली है, कोई खतरा नहीं है। भोले कबूतर ने यह नहीं सोचा कि गली में खतरा न सही, बाहर से तो खतरा आ सकता है''' उसे तेरा बहुत भरोसा था। कहता था कि रक्खे के रहते कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"[2] गनी देखता है कि पहलवान के होंठ सूख रहे हैं तो वह उसके कंधे पर हाथ रखकर सान्त्वना देता है, "जी हलका न कर रक्खिया! जो होनी थी, सो हो गयी।'''मेरे लिए चिराग नहीं, तो तुम लोग तो हो।"[3] गनी मियाँ के चले जाने के बाद रक्खे गहरी शाम तक कुएँ पर बैठा रहता है। रात के वक्त आदत के मुताबिक मलबे के पास खड़ी भैंस को धक्के देकर हटाने के बाद वह मलबे की चौखट पर बैठ जाता है। मलबे के एक कोने में लेटा हुआ कुत्ता गुर्राकर उठता है और पहलवान की ओर मुँह करके भौंकने लगता है। कुत्ते को हटाने में नाकामयाब हो पहलवान वहाँ से उठ जाता है। कुत्ता कान झटककर मलबे पर लौट आता है और वहाँ कोने में बैठकर गुर्राने लगता है।

'मलबे का मालिक' वस्तुतः मोह भंग की कहानी है। एक ओर तो गनी मियाँ का मोह भंग होता है, दूसरी ओर रक्खे पहलवान का। गनी मियाँ को अपने मकान के जलने के विषय में कुछ मालूम नहीं है, साढ़े सात वर्षों तक वह इस भ्रम में रहा कि उसका नया बना मकान अमृतसर के उस मुहल्ले में सुरक्षित है। चिराग और उसके बीबी-बच्चे तो नहीं मिल सकते, एक बार अपने मकान की सूरत देख ले, इसी तमन्ना से वह इतनी दूरी तय करके वापस आया है। मकान के मलबे को वह फटी-फटी आँखों से देखता रह जाता है।" चिराग और उसके बीबी-बच्चों की मौत को वह काफी अर्सा पहले स्वीकार कर चुका था, मगर अपने नये मकान को इस रूप में देखकर उसे जो झुरझुरी हुई, उसके लिए वह तैयार नहीं था।"[4] अविश्वास के स्वर में वह पूछता है—'वह मलबा ?' इस मोहभंग के साथ पुत्र और उसके परिवार की मौत का दर्द नये सिरे से उभर उठता है। 'मलबे को पास से देखकर गनी ने कहा—यह रह गया है, यह ?— और जैसे उसके घुटने जवाब दे गये और वह जले हुए चौखट को पकड़कर बैठ गया।[5] चौखट को बाँह में लिए हुए वह अपने परिवार को याद कर रोने लगता है। अपने बसे हुए घर की निशानी उस मिट्टी को छोड़कर जाने का भी उसका मन नहीं होता। किन्तु रक्खे पहलवान को देखकर

1. मलबे का मालिक : मोहन राकेश : सिक्का बदल गया, पृ० 197.
2. वही, पृ० 197.
3. वही, पृ० 197-198.
4. वही, पृ० 193.
5. वही, पृ० 193-194.

उसे लगता है कि उस जमाने की कोई तो यादगार शेष है। रक्खे को सेहत औ खुशियो की दुआ देता हुआ सरल गनी मियाँ वहाँ से जब विदा होता है तब गनी क सहज विश्वास और रक्खे पहलवान का विश्वासघात, परिस्थितियो की विडम्बना के और उभार देते हैं।

रक्खे पहलवान के लिए यह विचित्र बात होती है कि गनी मियाँ मलबे के प्रति कोई मोह नही दिखलाता। अब तक वह अपने आपको मलबे का मालिक समझता रहा है, इसी कारण साढे सात वर्षों से बलपूर्वक उसने लोगो को मलबे पर अधिकार जमाने से रोका है। पहली बार उसके मन मे यह बात उपजती है कि वह मलबे का मालिक नही हो सकता। उसकी चेतना अचेतन रूप से उसे झकझोरती है। उसे गनी की यह बात कि चिराग का उस पर अटूट विश्वास था, कचोटती है। उसने चिराग और उसके बीबी-बच्चों के साथ जो व्यवहार किया था, उसमे परिवेश के दबाव के साथ उसका स्वार्थ भी शामिल था। मकान पर नजर रखकर ही उसने चिराग को मारने का निश्चय किया था, लेकिन मकान भी उसे नही मिल पाया। इतने वर्षों तक वह मलबे को अपनी जागीर समझता रहा, किन्तु गनी के सहज विश्वास का अनुभव कर क्रूर रक्खा भीतर-ही-भीतर हिल उठता है। गनी के इस कथन से कि "खुदा नेक की नेकी रखे और बद की बदी माफ करे।" कुछ ऐसा संकेत उभरता है कि मनुष्य यहाँ कुछ भी करे, दुनियाँ मे उसे अपने कर्मों का फल भुगतना ही पडता है। रक्खे की चेतना उसे झकझोरती है और वह चेतना ही मानो कुत्ते के रूप मे भौंक कर उसे वहाँ से हटा देती है। मलबे को अपनी जागीर समझने वाला रक्खा पहली बार कुत्ते के लगातार भौंकने से परास्त होकर वहाँ से हटता है।

मोहन राकेश की अन्य तीनों कहानियाँ 'परमात्मा का कुत्ता', 'क्लेम' और 'कम्बल' शरणार्थियों की विभिन्न समस्याओं का चित्रण करती हैं।

परमात्मा का कुत्ता

'परमात्मा का कुत्ता' शीर्षक कहानी में लेखक ने शरणार्थियों की दयनीय अवस्था के परिप्रेक्ष्य में सरकारी अफसरशाही पर व्यंग्य किया है।

पाकिस्तान में अपनी जायदाद खोकर आये लोगों को जमीन एलॉट की जा रही है। कार्यालय के बाहर प्रतीक्षारत शरणार्थी बैठे हैं और कार्यालय के अन्दर कर्मचारी अपने मनोरंजन मे व्यस्त है। माहौल की जड़ता तब टूटती है जब कार्यालय के बाहर एक अधेड़ आदमी ऊँची आवाज मे बोलने लगता "दो साल से अर्जी दे रखी है कि सालो, जमीन के नाम पर तुमने मुझे जो गड्ढा एलॉट कर दिया है, उसकी जगह कोई दूसरी जमीन दो। मगर, दो साल से अर्जी यहाँ के दो कमरे ही पार नही कर पाई।" ...."इस कमरे से उस कमरे में अर्जी के जाने में वक्त लगता

है। ··· लो मैं आ गया हूँ आज यहो पर अपना घर-बार लेकर। ले लो जितना वक्त तुम्हे लेना है ··· मै भूखा मर रहा हूँ और अर्जी वक्त ले रही है।"[1]

कर्मचारियों को सम्बोधित करते हुए वह कहता है "···तुम सबके सब कुत्ते हो··· मैं भी कुत्ता हूँ। फर्क सिर्फ इतना है कि तुम लोग सरकार के कुत्ते हो—हम लोगों की हड्डियाँ चूसते हो और सरकार की तरफ से भौंकते हो। मैं परमात्मा का कुत्ता हूँ···मैं अकेला हूँ, इसलिए तुम सब मिलकर मुझे मारो। मुझे यहा से निकाल दो। लेकिन मै फिर भी भौंकता रहूँगा।"[2] अपने नाम तथा केस के विषय में पूछे जाने पर उसका उत्तर है "मेरा नाम है बारह सौ छब्बीस बटा सात। मेरे माँ-बाप का दिया हुआ नाम खा लिया कुत्तो ने। अब यही नाम है जो तुम्हारे दफ्तर का दिया हुआ है···मेरा यह नाम याद कर लो···वाहगुरु का कुत्ता—बारह सौ छब्बीस बटा सात।[3]

एक बाबू के इस आश्वासन के जवाब मे कि "बाबाजी, आज जाओ, कल या परसों आ जाना। तुम्हारी अर्जी की कार्रवाई तकरीबन-तकरीबन पूरी हो चुकी है।"[4] वह व्यक्ति उबल पड़ता है "सालों ने सारी पढ़ाई खर्च करके दो लफ्ज ईजाद किए है—शायद और तकरीबन।···मैं आज शायद और तकरीबन दोनो घर पर छोड़ आया हूँ। मै यहाँ बैठा हूँ— और बैठा रहूँगा। मेरा काम होना है, तो आज ही होगा और अभी होगा।[5] जब वह व्यक्ति अपने कपड़े उतारकर कमिश्नर साहब के कार्यालय में जाने की धमकी देता है, कमिश्नर साहब अपने कमरे से बाहर निकलते हैं। पूछने पर वह व्यक्ति उन्हें उत्तर देता है " सौ मरले का एक गड्ढा मेरे नाम एलाट हुआ है। वह गड्ढा आपको वापस करना चाहता हूँ ताकि सरकार उसमे एक तालाब बनवा दे, और अफसर लोग शाम को वहाँ जाकर मछलियाँ मारा करें। या उस गड्ढे मे सरकार एक तहखाना बनवा दे और मेरे जैसे कुत्तों को उसमें बन्द कर दे···।[6]

कमिश्नर उसे अपने कमरे में ले जाते हैं और उसके बाद "घन्टी बजी, फाइलें हिली, बाबुओं की बुलाहट हुई और आधे घण्टे के बाद बेलाज बादशाह मुस्कराता हुआ बाहर निकल आया। उत्सुक आँखों की भीड़ ने उसे देखा तो वह फिर बोलने लगा "चूहो की तरह बिटर-बिटर देखने से कुछ नही होता। भौंको, भौंको,

1. परमात्मा का कुत्ता : मोहन राकेश : वारिस, पृ० 85.
2. वही, पृ० 89.
3. वही, पृ० 89.
4. वही, पृ० 89.
5. वही, पृ० 90.
6. वही, पृ० 91.

सब के सब भौंको। "हयादार हो, तो सालहा साल मुँह लटकाये खड़े रहो। आखिर टाइप कराओ और नल का पानी पियो। सरकार वक्त ले रही है। नहीं तो बेहय बनो। बेहयाई हजार बरकत है।[1]

इस कहानी मे लेखक ने विभाजन के बाद बदलते जीवन-मूल्यों, अफसरशाही, जनजीवन मे पनपते शोषण और भ्रष्टाचार तथा स्वार्थपरता को अभिव्यक्ति दी है। विभाजन के बाद के माहौल मे नम्रता और शिष्टाचार मूल्यहीन हो गये हैं। अशिष्टता और उद्दंडता के सहारे ही यहाँ अपना काम करवाया जा सकता है। सरकारी कार्यालयों में सैकड़ो शरणार्थी अपनी अर्जी पर विचार किये जाने की प्रतीक्षा में हैं। जिनका सब कुछ लुट चुका है, जीने के लिये मामूली से सहारे की जिन्हें तलाश है, उनकी अर्जियों पर इन सरकारी कार्यालयों में किस ढंग से विचार हो रहा है? "अन्दर हाल कमरे में फाइलें धीरे-धीरे चल रही थी। दो-चार बाबू बीच की मेज के पास जमा होकर चाय पी रहे थे। उनमें से एक दफ्तरी कागज पर लिखी अपनी ताजा गजल दोस्तों को सुना रहा था......"[2] कमिश्नर साहब के तशरीफ लाने पर गजल सुनते हुए लोगो का फरमायशी कहकहा रुक जाता है। चपरासी से खिड़की का पर्दा ठीक कराकर कमिश्नर साहब भी पाइप सुलगा रीडर्ज डाइजेस्ट का ताजा अंक पढने लगते है। असहाय शरणार्थी कार्यालय के बाहर सिर लटकाए बैठे है। इस जड़ता को तोड़ता है वह व्यक्ति, सरकारी कार्यालयो की गतिविधि से जिसका धैर्य टूट चुका है। उसके साथ भाई की विधवा पत्नी, तपेदिक का मरीज भतीजा और ब्याहने लायक भतीजी है। वह भूखा मर रहा है और उसकी अर्जी दो वर्षों से विचाराधीन है। स्थितियों का यह विरोधाभास विभाजन के बाद पनपती उस अमानवीयता को उजागर करता है, जिसमे हर मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि मे लगा है। इसी कारण जीवन-मृत्यु के संघर्ष मे लगे शरणार्थियों की दयनीय दशा को बड़ी निर्ममता से उपेक्षित कर ये बाबू अपने मनोरंजन मे व्यस्त हैं। बिना रिश्वत के किसी फाइल का आगे बढ़ना सम्भव नही है। इस अमानवीय माहौल में मानवता बिल्कुल अकेली पड़ गयी है। स्वार्थी मनुष्य हड्डियां चूसने वाले कुत्तों की भाँति निरीह शोषित मानवता को नोच रहे है। किन्तु अकेले होने पर भी अन्याय के विरुद्ध लड़ने वाली प्राणशक्ति हार नहीं मानती, कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में वह अन्याय और शोषण का विरोध अवश्य करती है। न्याय का पक्षधर होने के कारण ईश्वर उसके साथ है। इसी प्रेरणा से वह ईश्वर की इन्साफ की दौलत के लुटेरों के विरोध की शक्ति पाता है। बेहयाई का रास्ता चुनकर अपना काम करवा लेनेवाला वह व्यक्ति विभाजन के बाद की उन मूल्यहीन स्थितियों को उजागर करता है। जिनमें कई गलत मूल्य पनपने

1. परमात्मा का कुत्ता : मोहन राकेश : वारिस, पृ० 92
2. वही, पृ० 86

लगे है। कहानी का अन्त इस जड़ व्यवस्था के प्रति लेखक के दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। इस आपाधापी और अन्याय के माहौल से वह निराश नहीं है। उसे विश्वास है कि सब मिलकर इस व्यवस्था के खिलाफ आवाज बुलन्द करें तो यह व्यवस्था बदलेगी अवश्य।

क्लेम :

मोहन राकेश की 'क्लेम !' शीर्षक कहानी विभाजन के कारण उजड़ कर आये लोगों के सम्पत्ति सम्बन्धी क्लेम की समस्या को दर्शाती है। साधुसिंह दिल्ली में तांगा चलाता है। उसके तांगे पर तीन सवारियां बैठी हैं। उनमें एक महिला है, जिसकी समस्या यह है कि उसे उसकी वास्तविक सम्पत्ति से कहीं कम रकम क्लेम के रूप में प्राप्त हुई है। उसे इस बात का रोष है कि बेईमानी से गलत क्लेम फार्म भरने वाले मजे में हैं और वह परेशानी उठा रही है। दूसरी सवारी को अब तक कोई क्लेम नहीं मिला है। उनकी परेशानी की वजह उसका जीवित रहना है। अगर वह मर चुका होता तो उसके बच्चों को आसानी से क्लेम मिल जाता। साधुसिंह उनकी बातें सुनकर अपने क्लेम के विषय में सोचने लगता है। उसकी समस्या रुपये-पैसे के क्लेम की नहीं। उसकी पत्नी बलवाइयों के हाथ पड़ गयी। वह स्वयं किसी तरह बचता-बचाता दिल्ली आया। उसने कोई क्लेम-फार्म नहीं भरा, क्योंकि उसकी कोई सम्पत्ति नहीं थी, और जो थी उसके लिये क्लेम-फार्म नहीं था। विगत जीवन की स्मृतियाँ उसकी दृष्टि के सम्मुख सजीव हो उठती है। अपनी पत्नी, पत्नी के साथ बिताये क्षणों, घर में लगाये आम के पेड़ की यादों में वह खो जाता है। "आम का पेड़ अब बड़ा हो गया होगा। घर की दीवारों की गन्ध पहले से बदल गयी होगी। और हीरा......? आज उसकी गोद में न जाने किसके बच्चे होंगे।"[1] यह पीड़ा अब साधुसिंह को आजीवन झेलनी है। सब खो चुके साधुसिंह ने जीने के लिए अपने घोड़े से ही भावनात्मक रिश्ता जोड़ लिया है। उसे चारा खिलाते हुए वह कहता है "तेरी बरकत रही अफसरा, तो अपने पुराने दिन फिर आएँगे। खाले, अच्छी तरह पेट भर ले। अपने सब क्लेम तुझी को पूरे करने हैं .....''[2]

यह लघु कथा उजड़े हुए शरणार्थियों की भौतिक समस्याओं के साथ उनकी भावनात्मक उलझनों का मार्मिक चित्रांकन करती है। सरकार लुट कर आये लोगों के क्लेम पूरे कर रही है, लेकिन क्या वह उनका वह सब कुछ लौटा सकेगी, जो वहाँ खो गया ? साधुसिंह की कोई स्थूल सम्पत्ति नहीं थी, जिसके लिए वह क्लेमफार्म भरे, किन्तु भावनात्मक स्तर पर उसका बहुत कुछ महत्वपूर्ण वहाँ छूट गया, जिसकी क्षतिपूर्ति कभी न होगी। विभाजन की मार ने साधुसिंह जैसे अनेक लोगों को मन के किसी

1. क्लेम : मोहन राकेश : कहानी संग्रह—क्वार्टर, पृ० 179,

2 वही, पृ० 180

भीतरी कोने में बिल्कुल अकेला कर दिया है। असहाय साधुसिंह ने अपने घोड़े से भावात्मक रिश्ता जोड़कर सहारा ढूंढ़ने की चेष्टा की है। किन्तु इस अकेलेपन के बीच भी वह निराश नहीं। कहीं-न-कहीं अपने पुराने दिनों के लौट आने की आशा अभी भी उसके मन में है।

विभाजन के परिवेश में सत्यनिष्ठा और ईमानदारी जैसे स्थापित मूल्य अर्थ-हीन होते जा रहे हैं। बेईमानी से गलत क्लेमफार्म भरकर लोग लाभ उठा रहे हैं, और ईमानदारी से सही क्लेमफार्म भरनेवाले परेशान हैं।

कम्बल :

शरणार्थियों से सम्बन्धित इस कहानी में कहानीकार ने परिवेश के दबाव में बदलते जीवन-मूल्यों और झूठी पड़ती जा रही मानवीय संवेदनाओं का चित्रण किया है।

कहानी के केन्द्र में वृद्ध रामसरन का परिवार है। उसकी पत्नी गंगादेई, युवा पुत्री बनारसी और छोटा पुत्र राजू कैम्प में है। बड़ा पुत्र रामू दंगों में मारा जा चुका है।

गंगादेई जब-तब युवा पुत्री को टोका करती है। किन्तु बदले हुए माहौल में बनारसी माँ की अवज्ञा करने लगी है। क्षुब्ध गंगादेई पति से उसकी शिकायत करती है, किन्तु आज बनारसी को डाँटकर पिता का कर्तव्य निबाहने की सामर्थ्य रामसरन में नहीं रह गयी है। बीमार और अशक्त रामसरन ने वर्तमान के आगे घुटने टेक दिये हैं। रात्रि घिरने पर दो व्यक्ति कम्बल बाँटने कैम्प में आते हैं। वे केवल बनारसी के शरीर पर कम्बल डालते हैं। कम्बल की गर्मी में सुखद स्वप्न देखती बनारसी आधा कम्बल शरीर पर से खिंच जाने के कारण जाग जाती है। गंगादेई तीखे स्वर में फटकारते हुए कम्बल उससे ले लेती है। प्रातःकाल कैम्प के कोने में ओले चुनती बनारसी पर दृष्टि पड़ने पर वह रामसरन को जगाना चाहती है, किन्तु रामसरन का शरीर अकड़ गया है। उसकी मृत्यु हो चुकी है। जब दूसरी रात आई तो राजू कम्बल में सो रहा था और माँ-बेटी एक दूसरी से लिपटी हुई रो रही थीं।

यह कहानी विभाजन के सन्दर्भ में खोखली होती मर्यादाओं और मानवीय मूल्यों की कहानी है। परिवेश का दबाव इन्सानी रिश्तों [illegible] नकार मनुष्य को स्वार्थपरता के अत्यन्त निम्न स्तर पर पहुँचा देता है। शरीर पर कम्बल से ढँक जाने पर बनारसी कल्पना करती है कि बापू पर भी एक कम्बल अवश्य डाला गया होगा। किन्तु सत्य को आँखों से देखने की अपेक्षा कम्बल की ओट में छिपा रहना अधिक उचित जान पड़ता है। "यदि बापू पर कम्बल नहीं हुआ तो?...खैर, अभी तो पूरी रात शेष है। आधी रात को अधिक ठण्ड पड़ेगी—तब देखेगी। नहीं हुआ तो अपना

कम्बल बापू पर डाल देगी।"[1] गंगादेई की भी यही स्थिति है। वह तीखे स्वर मे उसे फटकारते हुए कम्बल खीचती है "डायन को अपने ही शरीर से मोह है। बच्चा पास पड़ा ठिठुर रहा है, उसे ढकने की चिन्ता नही।"[2] कम्बल फैल जाता है। नन्हे राजू के साथ-साथ गंगादेई का शरीर भी उसमें ढक जाता है। वह स्वस्थ होना चाहती है कि उसने मातृत्व निभाया है। लेकिन कहीं-न-कहीं अपराध-बोध भी कचोटता है। वह यह कि माँ होने से पहले वह पत्नी है। 'शान स्वस्थ नहीं। सर्दी से ठिठुर रहा है। दूसरी छिलन और भी है"'बनारसी की हर करवट बोलती है, ताना देती है।[3] वह तर्क देकर अपने-आप को समझाती है "नन्हे बेटे को कैसे हवा लगने दे ?...पति अब नही खाँसता। शायद उसे नींद आ गई। उसके लिये कहीं से एक कम्बल और मिल जाता। अभी आधा कम्बल डाल दे। पर नींद उचट गई तो ?...लड़के-लड़के तम्बाकू माँगा करता है। तभी उस पर कम्बल डाल देगी।"[4] सुबह बनारसी को डाँटकर पिता का कर्तव्य निभाने के लिये वह रामसरन को जगाना चाहती है, लेकिन तब तक रामसरन की मृत्यु हो चुकी है।

विभाजन के कारण निर्मित अभावग्रस्त परिवेश ने त्याग, स्वार्थहीनता और सहानुभूति जैसी मानवीय संवेदनाओ को अर्थहीन बना दिया है। पारस्परिक रिश्तों की मजबूत कड़ी धीरे-धीरे टूटती जा रही है। रामसरन जैसे अनेक पिता अपने पद का दायित्व और बड़प्पन निभाने में अपने आप को असमर्थ पा रहे हैं और परिवार के सदस्यों पर नियन्त्रण की उनकी बागडोर जाने-अनजाने छूटती जा रही है। वर्तमान के आगे आत्मसमर्पण कर वे निष्क्रिय हो गये हैं। उनके चारों ओर अनिश्चित भविष्य और निराशा का काला शून्य है जिसमें किसी प्रकार जी लेना ही जीवन का लक्ष्य रह गया है।

कमलेश्वर :

कमलेश्वर ने मुख्यतया मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ को अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति करने की चेष्टा की है। उनकी कहानियों में रूढ़ियों के प्रति तिरस्कार एवं विद्रोह, प्रगतिशीलता एवं नवीन मूल्यों के आग्रह का सशक्त स्वर है। विभाजन को विषय बनाकर लिखी गयी उनकी कहानियों में मानवीय सम्बन्धों में पनपते शक, नफरत, अलगाव तथा टूटते मानवीय मूल्यो, आस्थाओं की छटपटाहट और आकुलता तो है ही, विभाजन के कारण मानव जीवन में उत्पन्न विडम्बनापूर्ण स्थितियों का मर्मस्पर्शी चित्रण भी है।

---

1. कम्बल : मोहन राकेश : कहानी संग्रह—वारिस, पृ० 105.
2. वही, पृ० 106.
3. वही, पृ० 106.
4. वही, पृ० 107.

कितने पाकिस्तान :

विभाजन के दौरान एहसास में निरन्तर आनेवाली उस कमी को, जिसने मानवीय सम्बन्धों में दरार और उलझनें पैदा कीं, चित्रण इस कहानी में हुआ है।

मंगल और बन्नो बचपन के साथी हैं। बन्नो के पिता ड्रिल मास्टर हैं और पाकिस्तान बन जाने के बाद भी वे भरथरीनामा लिख रहे है। मंगल और बन्नो को पता भी नही चलता कि कब उन्हे बड़ा मान लिया गया और कब उनका सहज मिलना बड़ी-बड़ी बातों का बायस बन गया। यह तो तब समझ में आता है, जब मंगल के दादा से मंगल को कही बाहर भेज देने का आग्रह किया जाता है, क्योकि चुनार मे उसके बने रहने से बन्नो के विवाह में व्यवधान की और दंगे की आशंका है। बहुत बेइज्जत होकर मंगल वहाँ से निकलता है। फिर कभी घर लौटने का मोह उसे नही होता। वर्षों बाद मगल के दादा और ड्रिल मास्टर भी चुनार से निकल आते है। भिवण्डी स्कूल मे उन्हें जगह मिल जाती है और वे बन्नो का विवाह कर देते हैं। फिर एक दिन भिवण्डी मे दंगे की खबर पाकर मंगल भिवण्डी पहुँचता है। वहाँ उसे पता चलता है कि उसके दादाजी दंगे के बाद चुनार वापस चले गये और यह कि अपनी जान पर खेलकर उन्होने दंगों में ड्रिल मास्टर और उनके परिवार की रक्षा की। बन्नो का नवजात शिशु दंगों की भेंट चढ गया है। वहा से लौटने के कुछ दिनो बाद दादाजी के पत्र से मंगल को पता चलता है कि वे फिर भिवण्डी लौट आये हैं और बन्नो अपने पति के साथ बम्बई चली गई है। ड्रिल मास्टर नीम पागल हो गये हैं।

फिर बम्बई में उम्र के एक और पड़ाव पर मंगल की मुलाकात उस बन्नो से होती है, जिसने जीवनयापन हेतु वेश्यावृत्ति को अपना लिया है। उसका यह रूप मंगल को अन्दर तक जख्मी कर देता है। उसे लगता है "अब कौन सा शहर है जिसे छोड़कर मैं भाग जाऊँ ? कहाँ-कहाँ भागता रहूँ जहाँ पाकिस्तान न हो।[1]......क्योकि "हर जगह पाकिस्तान है जो मुझे-तुम्हें आहत करता है, पीटता है। लगातार पीटता और जलील करता चला जा रहा है।[2]

कमलेश्वर की दृष्टि में वे तमाम चीजें पाकिस्तान हैं, जो एहसास को उथला करती हैं, कम करती हैं या खत्म कर देती है और जो हमारे बीच सन्नाटा पैदा करती हैं। लेखक के लिये पाकिस्तान कोई मुल्क नहीं, एक दुखद सच्चाई का नाम है।" वह चीज या वजह जो हमें ज्यादा दूर करती है, जो हमारी बातों के बीच एक

1. कितने पाकिस्तान : कमलेश्वर, पृ० 54
2 वही, पृ० 54

सन्नाटे की तरह आ जाती है। जो तुम्हारे घरवालों, रिश्तेदारों या धर्मवालों के प्रति दूसरों के एहसास की गहराई को उथला कर देती है।...... एहसास की कुछ ऐसी ही आ गई कमी का नाम शायद पाकिस्तान है।"[1]

किन्तु टूटते हुए विश्वासों तथा आस्थाओं के बीच भी मंगल के दादा और ड्रिल मास्टर जैसे लोग मानवीयता के एहसास को धुंधला नहीं होने देते। मुसलमान होने पर भी भरथरीनामा लिखने के कारण ड्रिल मास्टर को कटु आलोचना का पात्र बनना पड़ता है। "लोग कहते थे ड्रिल मास्टर का दिमाग बिगड़ गया है जो भरथरीनामा लिख रहे है। यह तुरक नहीं है। यहीं का कोई काछी-कहार है। तभी हमें पता चला था कि मुसलमान वही है जो ईरानी-तूरानी है, यहाँ का मुसलमान भी मुसलमान नहीं है।"[2] भरथरीनामा का यह संवेदनशील शायर अपने माहौल से समझौता नहीं कर पाता, इसी कारण वह अन्त में नीम-पागल सा हो जाता है।

एहसास की निरन्तर कमी ने ही साम्प्रदायिक दंगों के बीज बोये हैं। ये दंगे इन्सानी रिश्तों में अजीब सा खालीपन और सन्नाटा भर देते हैं। दंगाग्रस्त इलाकों से गुजरना कैसा लगता है? "एक खास किस्म का सन्नाटा......वीरान रास्ते और साफ-साफ दिखाई देनेवाला खालीपन। कोई देखकर भी नहीं देखता! देखता है तो गौर से देखता है पर बिना किसी इन्सानी रिश्ते के। यह क्यों हो जाता है? एहसास इतना क्यों मर जाता है? या कि भरोसा इतना ज्यादा टूट जाता है।"[3]

जिन्दगी के लम्बे सफर में यह पाकिस्तान बार-बार मनुष्य की भावनाओं-संवेदनाओं के आड़े आता रहा है। इस पाकिस्तान के बनने से न जाने कितने लोगों का जीवन उलझ कर रह गया है "मालूम नहीं कितने पाकिस्तान बन गये—एक पाकिस्तान बनने के साथ-साथ। कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे सब बातें उलझकर रह गयीं। सुलझा तो कुछ भी नहीं।"[4]

धूल उड़ जाती है :

कमलेश्वर की कहानी 'धूल उड़ जाती है' पाकिस्तान बनने के बाद उजड़ गयी एक बस्ती की कथा है। 'तब यहाँ छोटी सी बस्ती थी। मन्दिर और मस्जिद थे। डाक बंगला और स्टेशन पास हैं पर शहर से स्टेशन आनेवाली सड़क ने रास्ता बदल लिया, इसलिये उसका कोई सम्बन्ध इस उजड़ी बस्ती से नहीं रह गया।"[5] इस

1. कितने पाकिस्तान : कमलेश्वर, पृ० 34.
2. वहीं, पृ० 37.
3. वहीं, पृ० 43.
4. वहीं, पृ० 34.
5. धूल उड़ जाती है : कमलेश्वर : कथा-संग्रह—राजा निरबंसिया, पृ० 34.

आबाद बस्ती के बहुत से लोग पाकिस्तान चले गये लेकिन जुम्मन साईं की कोठरी और नसीबन की झोंपड़ी तब भी यही थी, अब भी यही है। सड़क की ओर से सात-आठ छायाएं आती हुई दीखती है और नसीबन के मानस मे पुरानी स्मृतियाँ कौंध जाती हैं "नौ बरस पहले पाकिस्तान बना और यह चिकवो की बस्ती अपने आप उजड़ गयी। तात के सितार पर उभरने वाले शाम के तरन्नुम डूब गये......"[1] उस समय जुम्मन साईं की कोठरी बस्ती का केन्द्र थी। मस्जिद के कुएँ पर रौनक रहती। मस्जिद के दालान मे मकतब लगता। मन्दिर के अहाते मे पाठशाला जमती। जुम्मन की कोठरी के पास आध्यात्मिक शान्ति के लिये स्टेशन के कुली और इक्केवाले भी जुटते। इसी महफिल मे बच्चन के प्रति नसीबन की सहानुभूति को लेकर व्यंग्य भी कसे जाते। जब साईं भी बच्चन के भीतर छुपे आदमी को नही पहचान पाता तब बच्चन का दिल होता है कि उसका गला घोट दे।[2] लोगों को इत्मिनान दिलाने के लिए बच्चन ने नसीबन पर गहने चुराने का झूठा इल्जाम लगाया, लेकिन बच्चन तथा उसके मातृहीन लड़कों के प्रति नसीबन की ममता कम न हुई। बच्चन के घर छोड़कर चले जाने पर उसने बच्चन की सहायता की; उसके लड़कों की देखभाल भी की। तब से आठ साल गुजर गये, बच्चन नहीं लौटा।

एकाएक यह प्रश्न सुनकर नसीबन का ध्यान भंग होता है "साईं बाबा की कोठरी यही है ?"[3] नसीबन बच्चन के पुत्र रघुआ को पहचान जाती है। उसके साथ महमूदा और नाजिर भी है। नसीबन उन्हें उनके खण्डहर हो गये घरो तक ले जाती है। पेड़ के नीचे रात काटने की बात कह वह उनके लिए बोरे लाने चली जाती है और नसीबन के जवान बेटे अपने घरों के आस-पास खड़े रहे बोरो के इन्तजार मे। बड़ी आँधी आयी रात, धूल उड़ती रही और सुबह तक के लिए रात वही पेड़ के नीचे कट गयी।"[4]

इस कहानी में लेखक का आशावादी दृष्टिकोण उभरा है। नसीबन सांकेतिक रूप मे मातृभूमि से मनुष्य के लगाव और उसके न टूटने वाले सम्बन्धों को अभि-व्यक्ति देती है "धूल उड़ जाती है......मिट्टी उठ सकती है, धरती नही जाती कहीं......"[5] धरती माँ है, मातृभूमि है। विभाजन होने पर भी मातृभूमि से लोगों का मोह नही छूटा, भले उन्हें अन्यत्र जाने को विवश होना पड़ा। लौटे हुए मुसाफिर

1. धूल उड़ जाती है : कमलेश्वर : कथा-संग्रह—राजा निर्बंसिया, पृ० 35.
2. वही, पृ० 39
3. वही, पृ० 48
4. वही, पृ० 48
5 वही, पृ० 34

विभाजन की कृत्रिमता और मातृभूमि के प्रति मनुष्य के उत्कट लगाव को अभिव्यक्ति देते हैं। रघुआ के साथ महमूदा और नाजिर का लौटना इस तथ्य का व्यंजक है कि अधिकांश लोगों के दिलो मे पाकिस्तान नही बना। उनके बीच जो मानवीय सम्बन्ध थे, वे लगभग अन्त तक बने रहे। इस कहानी का यह ऐसा पक्ष है जिस पर कम कहानीकारो ने लिखा है।

भटके हुए लोग :

शरणार्थी समस्या का एक भिन्न पक्ष प्रस्तुत है कमलेश्वर की कहानी 'भटके हुए लोग' मे जो विभाजन के बाद की परिस्थितियों में घिरे शरणार्थियों की विवशता का चित्रांकन करता है।

पंजाबी शरणार्थियों ने पटरियो और पार्कों में अपनी पेटीनुमा दुकानें लगाकर आजीविका का साधन ढूंढने की चेष्टा की है। लेकिन इन दुकानो के कारण पुराने दुकानदारों को अपना व्यापार चौपट होता हुआ दिखाई दे रहा है "अजी साहब, सब बाजार चौपट कर दिया! इनका तो चमक-दमक का व्यापार है, केलासन और साटन का। इसलिये शोलापुरी धोती उड़ गयी।"[1] शरणार्थी दूकानदारों मे एक है, नवयुवक हंसराज। बूढा दूकानदार परसोतराम उसके पास बैठकर सुख-दुख की बातें किया करता है। परसोतराम को अपनी बेटी सतवन्ती के विवाह की चिन्ता है। हंसराज उसकी दृष्टि में योग्य वर है और हंसराज को भी सतवन्ती पसन्द है, किन्तु दोनों में से कोई भी एक दूसरे पर अपनी इच्छा प्रकट नही कर पाता। खबर फैलती है कि चुंगी शरणार्थियो की दुकानें हटाने वाली है। पेटीनुमा दुकानों की जगह पक्की दूकानें बनेंगी। चुंगी का नोटिस मिलने पर दूकानदार दूकानें खाली कर देते हैं। दूकानो की नीव पड़ती है और महीने भर में दस दूकानें पूरी होकर तामीर का काम ग्यारहवी पर अटक जाता है।

पता चलता है कि चुंगी के मेम्बरों के जातिवादी झगड़ों के कारण दूकान का काम रुक गया है। दूकानदार अर्जियाँ देते हैं। तब बनी हुई दूकानों को चालू कर देने का फैसला किया जाता है। बूढे परसोतराम की पन्द्रहवी दूकान है। हंसराज उदारतापूर्वक उसे अपनी दूकान देने को राजी हो जाता है। उसे फिरोजपुर में सरकार की ओर से कुछ जमीन मिल गयी है। वह कहता है "......तुम सब भी साथ चले चलना। यहाँ से तो बेहतर ही होगा। खेती-बारी अपना काम रहा है......"[2]

परसोतराम को आसरा बँधता है। छूटी हुई धरती का मोह भी मन में आ जाता है "आखिर पंजाब पंजाब है। यहाँ वह जिन्दगी कहाँ ?"[3] यह तय होता है

1. भटके हुए लोग : कमलेश्वर : कथा संग्रह—राजा निरबंसिया, पृ० 145
2. वही, पृ० 150
3. वही, पृ० 151

कि हंसराज जमीन देख आये, परसोतराम दूकान देखता रहेगा। किन्तु धाँधली के कारण दूकान दूसरे को मिल जाती है। निरुपाय हंसराज फीरोजपुर चला जाता है। जाते समय वह विश्वासपूर्वक कहता है "पहुँचते ही जमीन ठीक करूंगा। जगह देख लूं, वही रहने का इन्तजाम कर लूंगा। अब दूकान के चक्कर में पड़ने से भी कोई फायदा नही ....."[1] फीरोजपुर से हंसराज का पत्र आता है कि वहाँ भी उसको मिलने वाली जमीन किसी दूसरे को मिल गयी है। फिर भी हंसराज को जल्दी ही दूसरी जमीन मिल जाने का विश्वास है। उसे यह दस-पन्द्रह रोज की ही बात लगती है। तब से एक साल गुजर गया है। न ग्यारहवी दूकान बनती है, न हंसराज की चिट्ठी आती है।

विभाजन के बाद बेईमानी और धोखा-धड़ी पर आधारित जिस व्यवस्था की नीव पड़ रही थी, उसी का उद्घाटन इस कहानी मे हुआ है। विभाजन से पूरे देश पर पड़ने वाले दूरगामी प्रभाव की शुरुआत इस कहानी में देखी जा सकती है। विभाजन के कुछ प्रभाव तत्काल नही दिखाई पड़े; किन्तु जिनके कारण परिस्थितियाँ, व्यवहार, मान्यताएँ बदली, उन्ही का चित्रांकन इस कहानी मे हुआ है। विभाजन-कालीन परिस्थितियों ने अस्तित्व रक्षा का, जीवन-संघर्ष मे पिछड़ जाने का जो भय उत्पन्न किया है, उसके कारण स्वार्थ का खुलेआम प्रदर्शन हो रहा है। जो जितना चालाक या व्यवहार-कुशल है, वह उतना ही सुरक्षित और सफल है। नौकरशाही को मानवीय अनुभूतियो और संवेदनाओं से कोई मतलब नही। हंसराज और परसोतराम जैसे लोग परिस्थितियो के सामने हर तरह से निरुपाय हैं; भविष्य की एक झूठी आशा के सहारे उनका जीवन गुजर रहा है।

भीष्म साहनी :

भीष्म साहनी सामाजिक चेतना सम्पन्न प्रगतिशील कहानीकारो मे सर्वप्रमुख हैं। उनकी कहानियो मे वर्ग वैषम्य, आर्थिक विपन्नता तथा इससे उत्पन्न चारित्रिक अन्तरविरोध और कटुता का स्वर मुखरित हुआ है। उन्होंने समाज की कुंठाओं, घुटन एवं बिखराव को यथार्थ के विभिन्न स्तरों पर अभिव्यक्त किया है। उनकी कहानियों मे खोखली मर्यादाओं, झूठी नैतिकता एवं बाह्याडम्बरो पर तीखा व्यंग्य है। उनकी कहानियाँ वस्तुतः बिखरते जीवन-मूल्यो की कहानियाँ है, जिन्हें नवीन सामाजिक सचेतना के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है।

अमृतसर आ गया है :

भीष्म साहनी की 'अमृतसर आ गया है' ऐसी कहानी है जो स्थितिसापेक्ष क्रूर मानसिकता का बोध जगाती है। विभाजन के समय का माहौल कैसे मानवीय

---

1 भटके हुए लोग कमलेश्वर कथा-संग्रह राजा निरबंसिया पृ० 135

सम्बन्धो की सहजतता को समाप्त कर उसमें हत्यारी मनोवृत्तियाँ पैदा करता है, इसका सटीक चित्रण कहानीकार ने इस कहानी में किया है।

धीमी रफ्तार से चली जा रही गाड़ी में बैठे मुसाफिर बतिया रहे हैं और कथा का 'मैं' मन-ही-मन बड़ा खुश है, क्योंकि वह दिल्ली में होने वाला स्वतन्त्रता-दिवस समारोह देखने जा रहा है। उन्ही दिनों पाकिस्तान के बनाए जाने का ऐलान किया गया है और लोग तरह-तरह के अनुमान लगा रहे हैं कि भविष्य में जीवन की रूपरेखा कैसी होगी। 'मेरे सामने बैठे सरदारजी बार-बार मुझसे पूछ रहे थे कि पाकिस्तान बन जाने पर जिन्ना साहिब बम्बई मे ही रहेंगे या पाकिस्तान में जाकर बस जाएँगे, और मेरा हर बार यही जवाब होता—बम्बई क्यों छोड़ेंगे, पाकिस्तान मे आते-जाते रहेंगे, बम्बई छोड़ देने में क्या तुक है।···मिल बैठने के ढंग में, गप-शप मे, हंसी-मजाक में कोई विशेष अन्तर नही आया था। कुछ लोग अपने घर छोड़कर जा रहे थे, जबकि अन्य लोग उनका मजाक उड़ा रहे थे। कोई नहीं जानता था कि कौन-सा कदम ठीक होगा और कौन-सा गलत। एक ओर पाकिस्तान बन जाने का जोश था तो दूसरी ओर हिन्दुस्तान के आजाद हो जाने का जोश। जगह-जगह दंगे भी हो रहे थे, और याम-ए-आजादी की तैयारियाँ भी चल रही थीं। इस पृष्ठभूमि मे लगता, देश आजाद हो जाने पर दंगे अपने-आप बन्द हो जायेंगे। वातावरण के इस झुटपुटे में आजादी की सुनहरी धूल-सी उड़ रही थी और साथ-ही-साथ अनिश्चय भी डोल रहा था, और इसी अनिश्चय की स्थिति में किसी-किसी वक्त भावी रिश्तो की रूपरेखा झलक दे जाती थी।'[1] डिब्बे मे बैठे पठान एक दुबले-पतले बाबू के साथ हँसी-मजाक कर रहे हैं। बाबू भी पेशावर का रहने वाला है इसलिये किसी-किसी वक्त वे आपस मे पश्तो में बातें करने लगते हैं। किन्तु वजीराबाद स्टेशन आते ही माहौल बदल जाता है। प्लेटफार्म के नल से पानी भरते लोग घबड़ाकर अपने-अपने डिब्बे में चढ़ जाते है। 'कही कुछ था, लेकिन क्या था, कोई भी स्पष्ट नही जानता था। मैं अनेक दंगे देख चुका था इसलिए वातावरण मे होने वाली छोटी-सी तब्दीली को भी भाँप गया था। भागते व्यक्ति, खटाक से बन्द होते दरवाजे, घरो की छतो पर खड़े लोग, चुप्पी और सन्नाटा, सभी दंगों के चिन्ह थे।'[2] गाड़ी जब सूने पलेटफॉर्म को पार करती आगे बढती है, डिब्बे में व्याकुल-सी चुप्पी छा जाती है। पीछे छुटते शहर की ओर से उठते धुएं के बादल और उनमे लपलपाती आग के शोले नजर आते हैं। गाड़ी शहर छोडकर आगे बढ़ती है तो ऐसा लगता 'जैसे अपनी-अपनी जगह बैठे सभी मुसाफिरों ने अपने आसपास बैठे लोगो का जायजा

1. 'अमृतसर आ गया है···' : भीष्म साहनी : सिक्का बदल गया : पृ० 146-147.
2. वही, पृ० 148.

ले लिया है। सरदारजी उठकर मेरी सीट पर आ बैठे। नीचे वाली सीट पर बैठा पठान उठा और अपने दो साथी पठानों के साथ ऊपर वाली बर्थ पर चढ गया। यही क्रिया शायद रेलगाड़ी के अन्य डिब्बो में चल रही थी। डिब्बे में तनाव आ गया। लोगो ने बतियाना बन्द कर दिया। तीनो के तीनो पठान ऊपर वाली बर्थ पर एक साथ बैठे चुपचाप नीचे की ओर देखे जा रहे थे। सभी मुसाफिरो की आँखें पहले से ज्यादा खुली-खुली, ज्यादा शंकित-सी लगी।'[1] बर्थ पर बैठा पठान फिर बाबू से हँसी मजाक करने की चेष्टा करता है, किन्तु बाबू बिल्कुल चुप है। उसकी हाजिर-जवाबी समाप्त हो गयी है। डिब्बे के अन्य मुसाफिर भी चुप है। बोझिल अनिश्चित वातावरण मे सफर कटने लगता है पठानों ने भी बतियाना छोड़ दिया है, क्योंकि उनकी बातचीत में शामिल होनेवाला अब कोई भी नही है। किन्तु जैसे-जैसे अमृतसर पास आने लगता है, सहमे-सिकुड़े बाबू की प्रतिक्रियाओ मे अन्तर आता जाता है। वह उत्तेजित होकर चिल्लाने और पठान यात्रियो को गालियाँ देने लगता है। तभी गाडी अमृतसर के प्लेटफार्म पर रुकती है। गुस्से मे पागल बाबू पठान यात्रियो को मारने के लिये लोहे की छड़ ले आता है, लेकिन तब तक वे अपने अन्य साथियो के साथ दूसरे डिब्बे मे जा चुके हैं। 'जो विभाजन पहले प्रत्येक डिब्बे के भीतर होता रहा था, अब सारी गाड़ी के स्तर पर होने लगा था।'[2] बाबू डिब्बे मे पठान यात्रियों को न पा अत्यन्त क्रोधित होता है। वह बार-बार पूछता है कि पठान डिब्बे में से निकलकर किस ओर को गए है। उसके सिर पर जनून सवार है। और इसी जनून में वह डिब्बे में चढने की चेष्टा कर रहे एक बूढे मुसलमान पर छड़ का वार कर उसे नीचे गिरा देता है। बूढ़े मुसलमान की अधमुँदी आँखें मानो पहचानने की चेष्टा करती हैं कि 'वह कौन है और उससे किस अदावत का बदला ले रहा है।'[3] धीरे-धीरे रात का धुँधलका छँटता है और दिन निकलता है। सरदार जी बाबू की प्रशसा करने लगते हैं "बड़े जीवट वाले हो बाबू, दुबले-पतले हो, पर बड़े गुर्दे वाले हो। बड़ी हिम्मत दिखाई है। तुमसे डर कर ही वे पठान डिब्बे मे से निकल गए। यहाँ बने रहते तो एक न एक की खोपड़ी तुम जरूर दुरुस्त कर देते......"[4] जवाब मे बाबू मुस्कराता है—एक वीभत्स-सी मुस्कान, और देर तक सरदार जी के चेहरे की ओर देखता है। इस तरह यह कहानी विभाजन के दौरान पैदा हुई क्रूर मानसिकता को बड़ी कलात्मकता से रेखांकित करती है।

महीपसिंह :

महीपसिंह की कहानियाँ सक्रिय भाव-बोध की कहानियाँ हैं। वे जीवन को

1. 'अमृतसर आ गया...' : भीष्म साहनी : सिक्का बदल गया, पृ० 150.
2. वही, पृ० 153.
3. वही, पृ० 156.
4. वही, पृ० 157.

नकारती नहीं, स्वीकारती है। उनकी कहानियों की स्थिति इतनी आस्थाओं से पीड़ित होने, चौंकने या निर्लिप्त होकर उन्हें देखने की नहीं, वरन् साहसपूर्वक उन्हें स्वीकारने और उनमें सहज होने की है। महीपसिंह में मानव-मूल्यों की सही पहचान है और उन्हे उजागर करने की सामर्थ्य भी।

पानी और पुल :

विभाजन की पृष्ठभूमि मे लिखी गयी उनकी कहानी 'पानी और पुल' विभाजन के घटनाचक्र या तात्कालिक परिणामों को लेकर नहीं चलती। इसका कथानक विभाजन के चौदह वर्षों के अन्तराल के बाद वहां से शुरू होता है, जब लगभग तीन सौ भारतीय यात्री लाहौर मे गुरुद्वारों के दर्शन के बाद पंजासाहिब की यात्रा पर निकलते हैं। उन्ही मे कहानी का 'मैं' भी है, जो अपनी माँ के साथ उस ओर जा रहा है, जहां कभी उसका गाँव था और जहाँ आज से चौदह वर्ष पूर्व आग लग गयी थी। उस आग में लाखों जल गये थे, लाखों पर जलने के निशान आजतक बने हुए है। डिब्बे के सभी यात्रियों पर गहरी उदासी छाई हुई है। वर्षों पूर्व की स्मृतियाँ 'मैं' की माँ की आँखें गीली कर देती हैं। आज चौदह वर्ष बाद वे इधर से जा रही हैं। पहले भी ऐसे ही जाती थी। लाहौर पार करते ही अजीब-सी उमंग नस-नस में दौड़ जाती थी। सराई—उनका गाँव, जैसे-जैसे निकट आता, वहाँ की एक-एक शक्ल उनके सामने दौड़ जाती, लेकिन आज यह इलाका बिल्कुल बेगाना लग रहा है। 'मैं' को याद आता है कि उसके पिताजी ने अपना रोजगार उत्तर प्रदेश मे जमा लिया था, इस कारण वे साल मे एकाध बार ही पंजाब जाते थे, किन्तु माँ वहाँ के दो-तीन चक्कर अवश्य लगा लेती थी। फिर सारे पंजाब मे आग लग गई थी। 'आग रुकी तो लगा इधर तक सपाट फैली हुई जमीन अमृतसर और लाहौर के बीच से फट गई है। और उस पार का फटा हुआ हिस्सा बीच में गहरी खाई छोड़कर न जाने कितना उधर खिसक गया है। हम सब भूल-से गये कि उस गहरी खाई के उस पार हमारा अपना गाँव था, पक्की सड़क के किनारे पीछे की ओर एक नहर थी, और पास की जेहलम नदी, अल्हण लड़की की तरह उछलती-कूदती बहती थी।'[1] आज वह माँ के साथ राजकीय औपचारिकता के बांधे हुए पुल से गुजरकर उसी ओर जा रहा था जो कल कितना अपना था, आज कितना पराया है।[2]

आधी रात को माँ के जगाने पर जब वह उठता है, गाड़ी एक छोटे से स्टेशन पर खड़ी है और एक अजीब सा कोलाहल वहाँ छाया हुआ है। चौदह वर्ष पूर्व की अनेक सुनी-सुनाई घटनायें 'मैं' के मानस में बिजली बनकर कौंध जाती है, जब दंगाइयों ने कितनी गाड़ियों को रोक कर लोगों को काट डाला था। तभी भीड़ में से

1. पानी और पुल : महीपसिंह, सिक्का बदल गया, पृ० 173.
2. वही, पृ० 173.

किसी के चिल्लाने की आवाज उसके कानों में पड़ती है। 'अरे इस गाड़ी में कोई सराई का है ?' वह माँ के चेहरे की ओर देखता है। उनके चेहरे पर पूर्ण आश्वस्तता है। जैसे ही वे कहती हैं 'हाँ, हम हैं इस गाँव के......' स्टेशन पर शोर मच जाता है। लोग उनके डिब्बे के सामने एकत्र हो जाते है। जैसे ही 'मैं' अपने पिता का नाम बताता है, कई लोग एक साथ चिल्लाते है 'तुम मूलासिह के बेटे हो ?' 'तुम मूलासिह की बीबी हो......कैसे हैं सब लोग......?' कहते-कहते कई हाथ उनकी तरफ बढने लगते हैं। उनसे सम्बन्धियों की कुशल-क्षेम पूछते हुए वे अपने हाथ की पोटलियाँ उन्हे थमाते जा रहे हैं, जिनमें बादाम, अखरोट, किशमिश आदि सूखे मेवे बंधे हुए लग रहे हैं। 'मैं' हक्का-बक्का सा यह सब देख रहा है। खुशी के मारे माँ के होठों से आवाज नही निकल रही है।

जैसे ही गार्ड हरी लालटेन उठाकर जेब से सीटी निकालता है, तीन-चार आदमी उसे पकड़ लेते है 'अरे बाबू, दो-चार मिनट और खड़ी रहने दे न गाड़ी को। देखता नही, ये बीबी इसी गाँव की हैं .....।[1] सबकी कुशल पूछने के बाद वे आवाजें उनसे वापस लौट आने का आग्रह करती है 'भरजाई, तुम अपने बच्चों को लेकर यहाँ आ जाओ। 'मैं' के पीछे खड़े उसके मामाजी कूदते हुए कह रहे हैं 'हूँ......बदमाश कहीं के। पहले तो मार-मार कर यहाँ से निकाल दिया, अब कहते हैं वापस आ जाओ।'[2]

पर प्लेटफार्म पर खड़े लोग उनकी बात नहीं सुनते। वे कहे जा रहे है 'भरजाई तुम अपने बच्चो को लेकर वापस आ जाओ। बोलो भरजाई, कब आओगी। अपना गाँव तो तुम्हे याद आता है ? भरजाई वापस आ जाओ......'[3]

गाड़ी चलते ही भीड़ की भीड़ डिब्बे के साथ चल देती है 'अच्छा भरजाई सलाम......अच्छा बेटे सलाम......सबको हमारा सलाम देना......' गाड़ी के गति पकड़ लेने पर 'मैं' माँ की ओर देखता है। उनकी आँखो से आँसुओ की अविरल धारा बह रही है। वे बार-बार दुपट्टे से आँखें पोंछ रही हैं, पर टूटे हुए बाँध का पानी बहता ही जा रहा है। गाड़ी जेहलम के पुल पर आ गयी है। 'मैं' झाँककर जेहलम का पुल देखता है। मैंने सुना था जेहलम का पुल बहुत मजबूत है। पत्थर और लोहे के बने उस मजबूत पुल को अंधेरे में देख रहा था। मेरी दृष्टि और नीचे की ओर जा रही थी, वहाँ घुप अंधेरा था, पर मैं जानता था वहाँ पानी है, जेहलम नदी का कल-कल करता हुआ स्वच्छ और निर्मल पानी, जो उस पत्थर और लोहे के बने हुए पुल के नीचे से बह रहा था।'[4]

1. पानी और पुल : महीपसिंह, सिक्का बदल गया, पृ० 175
2. वही, पृ० 176.
3. वही, पृ० 176.
4. वही, पृ० 176

यह पुल सम्बन्धो की ऊपरी कठोरता और अनाकुलता का, विशेष रूप से क्रूर और कठोर राजनीतिक अड़चनो और प्रतिबन्धों का प्रतीक है और पुल के नीचे बह रहा पानी जातीय संस्कारो को जोड़ने वाली अन्तःसलिला मानवीयता का प्रतीक है। इस कहानी के द्वारा कहानीकार विभाजन की कृत्रिमता को भी स्पष्ट करता है। सराई के लोगों का व्यवहार स्पष्ट कर देता है कि विभाजन ने लोगों के मन में दरार पैदा नही की, केवल जमीन के टुकडे को विभाजित किया। विभाजन के समय परिवेश के दबाव ने अवश्य अपनी दुनिया को पराया और स्वदेश को परदेश बना दिया था। एक देश दो हिस्सो में बंट गया था और बीच म खाई पैदा हो गई थी—एक जातीय संस्कार की दो फाँके हो गयी थी। किन्तु गुजरते हुए वक्त ने प्रमाणित किया कि यह विभाजन निहित स्वार्थों के षड्यन्त्र तथा राजनीतिक दबाव का परिणाम था। इसी कारण इस कहानी के 'मैं' की विभाजन के चौदह वर्ष बाद की गयी पाकिस्तान की यात्रा—अपनी जन्मभूमि की यात्रा, जातीय संस्कारो की इस एकता तथा विभाजन की अवास्तविकता को उजागर कर देती है।

फणीश्वरनाथ रेणु :

प्रेमचन्द के बाद ग्रामीण अंचल के उपेक्षित जन-जीवन को कहानियों में उतारने वाले प्रमुख कथाकारो मे रेणु का महत्वपूर्ण योगदान है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय जीवन मे होने वाले आन्तरिक एवं बाह्य परिवर्तनो को उनकी कहानियों में बड़ी सूक्ष्मता से रेखांकित किया गया है। उनकी रचनाओ मे सामाजिक जवाबदेही के साथ-साथ जनसाधारण की आकांक्षाओ एवं उसके मृदु-कटु अनुभवों को पूरी ईमानदारी से कथात्मक रचाव देने की प्रवृत्ति मुखरित हुई है। रेणु की कई कहानियाँ आजादी के बाद पनपती हिंसा, बेईमानी, भ्रष्टाचार एवं राजनीतिक छल को निर्ममता के साथ अनावृत करती है।

जलवा :

'जलवा' शीर्षक कहानी में रेणु ने इन सारी परिस्थितियों को मुस्लिम साम्प्रदायिकता से जोड़कर प्रस्तुत किया है। सन् 1930 से लेकर आजादी मिलने के बाद तक बिहार की राजनीति जनसेवा से खिसकती हुई कैसे स्वार्थसेवा तक आ पहुँची है, यही इस कहानी का मूल कथ्य है। सन् 1930 में सफेद पाजामा, कुर्ता पहने कन्धे पर तिरंगा झण्डा लेकर खड़ी लड़की—फातिमादि 1934 के प्रलयंकारी भूकम्प के बाद, महात्मा गांधी के भूकम्प—पीड़ित क्षेत्र में आने पर पुनः कुरान शरीफ की आयतों का सस्वर पाठ करती हुई दिखाई पड़ी थीं। दो साल की जेल की सजा भी उन्होंने काटी। 1937 में कांग्रेस की मिनिस्टरी के समय सेवादल की जी० ओ० सी० भी फातिमादि थी। 1943 में पाँच महीने तक बनारस, लखनऊ, इलाहाबाद और गोरखपुर की गलियों में 'आजाद दस्ता' के क्रान्तिकारी कार्यक्रमों को लेकर अलख जगाने वाली फातिमादि की अनेक तस्वीरें हैं। और अब आजादी के बाद नेशनलिस्ट मुस्लिम

कांफ्रेंस में जिसमें कुलीन मुस्लिम नेताओं के साहबजादे और बड़े अफसरों के लड़के रहनुमाई कर रहे हैं, फातिमादि अन्तिम बार दिखाई देती है। महात्मा गांधी की जय बोलती हुई फातिमादि के चेहरे पर भीड़ ने ऐसिड की शीशी उड़ेल दी। चेहरा काला पड़ गया है, एक हाथ खराब हो गया है। "आपने पालिटिक्स क्यों छोड़ दी?" यह पूछने पर फातिमादि ने ठीक ही कहा था, "यह मुझसे क्यों पूछते हो, अपने उन नवाबजादों से क्यों नहीं पूछा जो रातों-रात 'देश भगत' बनकर कांग्रेस के खेमे में दाखिल हो गये—बगल में छुरी दबाकर।" फातिमादि ने यह भी बताया था कि "इन जालिमों ने मुझपर क्या-क्या कहर ढाये यह तुम्हें क्या मालूम। और हमने किस दरवाजे की कुण्डी नहीं खड़खड़ायी। मगर दिल्ली से पटना तक के खुदावन्दों ने अक्ल की दवा करने की सलाह दी। शादी करके बच्चे पैदा करने की नसीहत दी और आखिर में धमकियाँ और ऐसिड की शीशी।" फातिमादि के शब्दों में आजादी के बाद की स्थिति यह है कि "अवाम की कसमें खाने वाले टुकुर-टुकुर देखते रहे और फिरकापरस्त आजदहों ने पूरी कौम को लील लिया।"

कहानी की फातिमादि बिहार की उस शान्ति जीवी जनता की प्रतिनिधि है जो स्वतन्त्रता के लिये अपने प्राण न्योछावर करके भी परतन्त्र है। अन्तर यही है कि 1947 के पहले की परतन्त्रता विदेशी स्वार्थों की परतन्त्रता थी और बाद की देशी स्वार्थों की। दिन-दिन स्वार्थ-केन्द्रित होती जा रही राजनीति जनता के मुँह पर निरन्तर ऐसिड की शीशियाँ उड़ेलती आ रही है, जिससे उसका चेहरा झुलसकर काला हो गया है।

कृष्णा सोबती :

कृष्णा सोबती ने बहुत कम कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन जितनी लिखी हैं, उनका अपना महत्व है। यथार्थ का बेबाक चित्रण, परिवेश का सजीव चित्र, गहरी संवेदनशीलता और तटस्थता उनकी कहानियों की प्रमुख विशेषता है।

सिक्का बदल गया :

'सिक्का बदल गया' शीर्षक कहानी में लेखिका ने विभाजन से उत्पन्न करुणा को मानवीय सम्बन्धों और मूल्यों के विघटन में प्रतिफलित दिखाया है। विभाजन सदियों से साथ रहते आये हिन्दू-मुसलमानों की मनःस्थितियों को बड़ी सूक्ष्मता से परिवर्तित करता है। शाहनी के पास मीलों फैले खेत हैं; गाँव की मुस्लिम आबादी और खेतों में काम करने वाले मजदूर—सबसे उसका अपनापन है। किन्तु विभाजन सारी चीजों और सारी स्थितियों के सन्दर्भ बदल देता है—शाहनी के लिये भी, उसके मातहतों के लिये भी। चनाब का पानी—पहले सा ही सर्द है, सामने कश्मीर की पहाड़ियों से बर्फ पिघल रही है, किन्तु दूर तक बिछी ... आज न जाने क्यों ...

लग रही है······आज प्रभात की मीठी नीरवता में न जाने क्यों कुछ भयावना सा लग रहा है। एक दिन इसी दरिया के किनारे शाहनी दुल्हन बनकर उतरी थी। तब से न जाने कितने वर्ष बीत गये हैं। आज शाहजी नहीं, शाहनी का पुत्र भी नहीं, आज अपनी हवेली में शाहनी अकेली है। पिछले पचास वर्षों से वह चनाब के तट पर नहाती आ रही है, किन्तु आज दूर-दूर तक सन्नाटा है, कहीं किसी की परछाईं तक नहीं। पर नीचे रेत में अगणित पाँवों के निशान हैं। देखकर वह सहम उठती है।[1] खेतों में फैली जिस नयी फसल को देखकर वह अपनत्व के मोह में भीग उठती है, परायी होने लगती है; अपने बेगाने हो जाते हैं। माँ की मृत्यु के बाद जिस शेरा को शाहनी ने पाल-पोस कर बड़ा किया है, वही शेरा शाहनी की सम्पत्ति लूटने और उसकी हत्या की योजना बना रहा है। किन्तु शाहनी की ओर देखने पर उसका निश्चय डोलने लगता है" नहीं-नहीं······वह ऐसा नीच नहीं······सामने बैठी शाहनी नहीं, शाहनी के हाथ उसकी आँखों में तैर गये वह सर्दियों की रातें—कभी-कभी शाहजी की डाँट खाके वह हवेली में पड़ा रहता था। और फिर लालटेन की रोशनी में वह देखता है, शाहनी के ममता भरे हाथ दूध का कटोरा थामे हुए—शेरे-शेरे, उठ, पी ले।"[2] ऐसा नहीं कि शाहनी कुछ जानती नहीं। वह जानकर भी अनजान बनी हुई है। सन्ध्या समय हिन्दू-परिवारों को कैम्प ले जाने को ट्रकें आती हैं। बात-की-बात में सारे गाँव में खबर फैल जाती है। आज शाहनी की ड्योढ़ी पर कौन नहीं है? "सारा गाँव है, जो उसके इशारे पर नाचता था कभी। उसकी असामियाँ हैं जिसे उसने अपने नाते-रिश्तों से कभी कम नहीं समझा। लेकिन नहीं, 'आज उसका कोई नहीं, आज वह अकेली है'[3] बेजान-सी शाहनी को देख लज्जित थानेदार दाऊद खाँ कहता है "शाहनी तुम अकेली हो, अपने पास कुछ होना जरूरी है। कुछ नकदी ही रख लो। वक्त का कुछ पता नहीं—"[4] गहरी वेदना और तिरस्कार से शाहनी उत्तर देती है "दाऊद खाँ, इससे अच्छा वक्त देखने के लिए क्या मैं जिन्दा रहूँगी!' गाँव वालों के गलों में जैसे धुआँ उठ रहा है। शेरे, खूनी शेर का दिल टूट रहा है। ट्रक चल पड़ता है। 'अन्न-जल उठ गया। वह हवेली, नई बैठक, ऊँचा चौबारा, बड़ा 'पसार' एक-एक करके घूम रहे हैं शाहनी की आँखों में। कुछ पता नहीं—ट्रक चल रहा है या वह स्वयं चल रही है। आँखें बरस रही हैं। दाऊद खाँ विचलित होकर देख रहा है। वह कहता है "शाहनी मन में मैल न लाना। कुछ कर सकते तो उठा न

---

1. सिक्का बदल गया : कृष्णा सोबती : कथा संग्रह—सिक्का बदल गया, पृ० 86.
2. वही, पृ० 87-88.
3. वही, पृ० 89.
4. वही, पृ० 90.
5. वही, पृ० 90.

रखते। वक्त ही ऐसा है। राज पलट गया है, सिक्का बदल गया है......[1] रात को शाहनी जब कैम्प में पहुँच कर जमीन पर पड़ी तो लेटे-लेटे आहत मन से सोचा 'राज पलट गया है......सिक्का क्या बदलेगा ? वह तो मैं वहीं छोड़ आयी।......[2] शाहनी के लिये बँटवारे के कारण हुकूमत के बदल जाने, सिक्का बदल जाने का अर्थ नहीं। उसे तो मानवीय मूल्यों के सिक्के के बदल जाने, सम्बन्धों के निरर्थक बना दिये जाने का दुःख है। राज पलट जाने से, राजनीतिक दृष्टि से सिक्का बदल जाने से मानवीय मूल्य भी निरर्थक हो गये---यही उसकी अन्तर्वेदना है।

'मेरी माँ कहाँ' :

कृष्णा सोबती की कहानी 'मेरी माँ कहाँ' में विभाजनकालीन हिंसा और क्रूरता के माहौल में दबी हुई मानवीयता उजागर हुई है।

बलोच रेजीमेण्ट का बहादुर सिपाही यूनस खाँ अपने नये वतन की आजादी के लिये लड़ता रहा है। उसके हाथों ने असंख्य गोलियों की बौछार की है, उसकी आँखों ने जलते हुए गाँव देखें है, असहाय स्त्री-पुरुष, बच्चों के चीखों की आवाज सुनी है। यह सब देखकर उसे घबड़ाहट नहीं होती। उसे मालूम है कि 'आजादी बिना खून के नही मिलती, क्रान्ति बिना खून के नही आती और इसी क्रान्ति से तो उसका नन्हा-सा मुल्क पैदा हुआ।[3]' वह जल्दी-से-जल्दी लाहौर पहुँचना चाहता है, बिल्कुल ठीक मौके पर, ताकि एक भी काफिर जिन्दा न रहने पाए। उसकी ट्रक तेज रफ्तार से चल पड़ती है। सड़क के किनारे मौत की गोदी में सिमटे हुए गाँव और लहलहाते खेतों के आस-पास लाशों के ढेर है। यूनस खाँ को इन सबसे सरोकार नहीं। 'वह तो देख रहा है अपनी आँखों से एक नई मुगलिया सल्तनत---शानदार, पहले से कहीं ज्यादा बुलन्द...।[4]' मगर तभी मूर्च्छित पड़ी एक बच्ची को देख वह अनायास रुक जाता है। स्वयं समझ नहीं पाता कि वह रुका क्यों और क्यों काँपते हाथों से बच्ची को ट्रक में डाल वह मेयो अस्पताल की ओर चल पड़ा है। अब बच्ची अस्पताल में है और यूनस खाँ ड्यूटी पर है, किन्तु हैरान और फिक्रमन्द। शाम को लौटते हुए वह जल्दी-जल्दी कदम भरता है, जैसे अस्पताल नहीं घर जा रहा हो। वह समझ नहीं पाता कि एक अपरिचित बच्ची के लिये घबराहट क्यों है उसे ? वह लड़की मुसलमान नहीं हिन्दू है। बच्ची को अपने सामने देखकर उसे अपनी मृत छोटी

1. सिक्का बदल गया : कृष्णा सोबती : कथा-संग्रह---सिक्का बदल गया, पृ० 91.
2. वही, पृ० 91.
3. मेरी माँ कहाँ : कृष्णा सोबती : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 55.
4. वही, पृ० 56.

बहन मूरन का स्मरण होता है। वह बच्ची को अपने साथ रखने का निश्चय करता है। किन्तु बच्ची उसे देखकर डर जाती है। उसे लगता है कि बलौच उसे मार डालेगा। यूनस खाँ उसमें अपनी बहिन की प्रतिच्छवि देखना चाहता था, लेकिन यह तो कोई अनजान है जो उसे देखते ही भय से सिकुड़ जाती है "घर नहीं, मुझे कैम्प में भेज दो। यहाँ मुझे मार देंगे"'मुझे मार देंगे'''" यूनस खाँ की पलकें झुक जाती है। उनके नीचे सैनिक की क्रूरता नहीं, बल नहीं, अधिकार नहीं। उनके नीचे है एक असह्य भाव, एक विवशता'''बेबसी।"[1] वह करुणा से बच्ची की ओर देखता है। किसी अनजान स्नेह में भीगते हुए वह उसे अपने साथ रखने का निश्चय करता है। लेकिन यूनस खाँ के साथ बैठी बच्ची सोचती है—बलौच कहीं अकेले में जाकर उसे जरूर मार देने वाला है। वह यूनस खाँ का हाथ पकड़ लेती है— "खान, मुझे मत मारना'''मारना मत'''"[2] खान लड़की को आश्वस्त करने की चेष्टा करता है "सब्र करो, रोओ नहीं" तुम हमारा बच्चा बनके रहेगा। हमारे पास।" "नहीं"— लड़की खान की छाती पर मुट्ठियाँ मारने लगती है—"तुम मुसलमान हो''।" एकाएक वह नफरत से चीखने लगती है—"मेरी माँ कहाँ है! मेरे भाई कहाँ हैं! मेरी बहिन कहाँ।"[3]

यह कहानी विभाजन से उत्पन्न एक मार्मिक परिस्थिति के चित्रांकन के साथ साथ मनुष्य चरित्र के परस्पर विरोधी पक्षों का उद्घाटन भी करती है। असंख्य काफिरों को मौत के घाट उतारनेवाला क्रूर हत्यारा यूनस खाँ एक छोटी-सी बच्ची में अपनी बहन की प्रतिच्छवि देख स्नेह द्रवित हो उठता है। किन्तु बच्ची को अपने परिवार के साथ घटी दुर्घटनाएँ किसी दुःस्वप्न की भाँति याद है। यूनस खाँ उसके लिये आत्मीय जनों की हत्या करने वाले वर्ग का ही प्रतिनिधि है। इसी कारण खान की हमदर्दी और करुणा उसे प्रभावित नहीं कर पाते और दृढ़, क्रूर यूनस खाँ परिस्थिति की इस विडम्बना के सामने अपने आपको बिल्कुल विवश पाता है।

बदीउज्जमां :

बदीउज्जमां की कहानियाँ सामान्य विषयवस्तु के बावजूद प्रस्तुतीकरण और नई संवेदनात्मक खोज के कारण अन्य समकालीन कहानियों से अलग अपना व्यक्तित्व बनाने में समर्थ हैं। जीवन्त परिवेश की सहज संवेदनात्मक अभिव्यक्ति इनकी कहानियों की प्रमुख विशेषता है। बदीउज्जमा की कहानियां व्यक्ति विश्लेषण तो करती हैं, लेकिन उसकी पृष्ठभूमि में घटनात्मक यथार्थ निरन्तर बना रहता है। इनमें व्यक्ति

1. मेरी माँ कहाँ : कृष्णा सोबती : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 59.
2. वही, पृ० 60.
3. वही, पृ० 60

और समाज की वे भीतरी दरारें भी स्पष्ट हुई हैं, जो एक दूसरे से जुड़ते हुए भी काफी फासले का एहसास कराती हैं।

विभाजन पर रचित बदीउज्जमा की दोनो कहानियाँ वतन से उखड़े हुए आदमी की यातना और करुणा का दस्तावेज हैं। अपनी धरती से टूटे हुए लोगो के सांस्कृतिक उखड़ेपन और आत्मपरायेपन को इन कहानियो मे सशक्त अभिव्यक्ति दी गयी है।

परदेसी :

'परदेसी' शीर्षक कहानी का छाको एक भुलावे मे आकर पाकिस्तान चला तो जाता है। किन्तु अपनी जन्मभूमि से उसका लगाव छूट नही पाता। गया की हर चीज से उसे गहरी आत्मीयता है और ढाका मे रहते हुए भी उसका मन गया मे रहता है। कानून की भाषा में पाकिस्तान छाको का देश है, वह वहाँ का नागरिक है किन्तु भावना की दृष्टि से वह पाकिस्तान मे परदेसी है। वहाँ का नागरिक बन जाने के बावजूद वह अपने वतन की जमीन से, उसकी गंध और त्योहारो से गाँव के मुहर्रम और अखाड़े से आन्तरिक स्तर पर अपने को जुड़ा हुआ पाता है। छाको की बुआ जैनब छाको के खत पढवाने कहानी के 'मैं' के पास आया करती है। उसके नये खत से पता चलता है कि वह अब ढाका चला गया है "ढाका अच्छा शहर है। . . . यहाँ बंगाली लोग बहुत हैं। बंगाली लोग अपने मुलक के आदमी सबसे बहुत चिढता है। कहता है कि यह सब कहाँ से आ गया हमारे देश में।"[1] उसके पत्र मे एक जरूरी बात यह है कि "मुहर्रम आ रहा है। अखाडा निकलेगा। उसमे हमारी तरफ से पाँच रुपया दे दिया जाय, जैसे हर साल दिया जाता है।"[2]

छाको का खत सुनकर उसकी बुआ रो पड़ती है। 'मैं' को भी अजीब-सा लगता है। एक लम्बे अरसे से वह बाहर-बाहर रहा था। कभी हजारीबाग, कभी झुमरी तिलैया, कभी कोडरमा, कभी कलकत्ता; पर ये सब जगहे हिन्दुस्तान मे थी।. . . ढाका तो मुल्क ही दूसरा हो गया। ऐसी बात भी नही है कि मेरे मोहल्ले से कोई पाकिस्तान गया ही न हो, पर जिसको जाना था, वे बंटवारे के तुरन्त बाद ही चले गए थे। ... इसलिए छाको का पाकिस्तान चला जाना मुझे अजीब-सा लग रहा था, जैसे कोई ऐसी घटना घटी हो, जिसकी उम्मीद न हो।"[3]

छाको 'मैं' के बचपन का साथी रहा है। उम्र बढ़ने के साथ-साथ दोनों की घनिष्ठता समाप्त होती गयी। किन्तु आज जबकि छाको अपना मुल्क छोड़कर किसी

1. परदेसी : बदीउज्जमां : सिक्का बदल गया, पृ० 132.
2. वही, पृ० 133.
3 वही, पृ० 133.

और मुल्क में चला गया है। न जाने क्यों 'मैं' उस अपने से बहुत करीब महसूस करने लगा है।

पन्द्रहवें रोज छाको का एक और खत आता है, जिसमें वतन छोड़कर जाने की उसकी मजबूरी और गया के प्रति उसका उत्कट लगाव झलकता है। "घर बहुत याद आता है। यहाँ का लोग हम लोग के माफिक नहीं है। बंगला बोलता है। हम लोग को देख के बहुत कुड़कुड़ाता है। आज मुहर्रम का चार है। सात तारीख को अखाड़ा निकलेगा। दस को ताजिया उठेगा। ..मुहल्ले का अखाड़ा कैसा निकला, लिखियो। कै मेर बाजा था ···· शहर में हमारे अखाड़े का पहला नम्बर रहा या नहीं।"[1]

कुछ दिनों बाद एक और खत आता है, जिसमें उसने लिखा है "मालूम हो कि इलाही मास्टर की दूकान बहुत चल रही है।...लेकिन हमारा मन नहीं लगता है।...हमको बहुत दुःख हुआ कि इस बार मुहर्रम में तीन मेर बाजा था। बराबर चार मेर बाजा रहता था। रोशनी का फाटक भी नहीं था। हम रहते तो ऐसा नहीं होने देते। जैसे होता, चंदा उठाकर अच्छे-से-अच्छा अखाड़ा निकालते।"[2] छाको का खत पढ़कर 'मैं' सोचता है "...सैकड़ों मील की दूरी पर बैठा हुआ वह मुहर्रम के अखाड़े से कितनी निकटता अनुभव कर रहा है।...हालाँकि मैं इन चीजों के दरमियान रह रहा हूँ, पर मेरे दिल में इनसे कुछ भी तो उमंग नहीं होती। और छाको, जो इनसे सैकड़ों मील की दूरी पर है, जैसे इन सबको अपनी रग-रग में महसूस कर रहा है।"[3] और तब छाको उसे बिल्कुल बच्चा लगता है जो इलाही मास्टर के भुलावे में आकर पाकिस्तान चला गया, और अपने जिस्म को उन हवाओं से अलग कर दिया, जिनके बीच वह पला-बढ़ा था। "पर उसकी रूह इन हवाओं को ढूँढ रही थी—उस दूध पीते बच्चे की तरह, जो माँ के दूध के लिए बिलख-बिलखकर रो रहा हो और उसकी माँ उसके पास न हो।"[4]

छुट्टी में गया लौटने पर 'मैं' की मुलाकात छाको से होती है, जो दो महीने से गया में है और उसी दिन वापस ढाका लौट रहा है। उसी रोज रात के आठ बजे गली के नुक्कड़ पर रिक्शा आकर रुकता है। आगे-आगे छाको है और पीछे उसके परिवार के सदस्य। 'मैं' बरामदे से उतरकर गली के नुक्कड़ पर आ जाता है। छाको रिक्शे पर चढ़ रहा है 'यह दृश्य जाने कितनी बार देख चुका हूँ। जब

1. परदेसी : बदीउज्जमा : सिक्का बदल गया, पृ० 139-140.
2. वही, पृ० 141-142.
3 वही, पृ० 142
4 वही, पृ० 142

कभी वह हजारीबाग जाता, या कोडरमा जाता, या झूमरी तिलैया जाता, या कलकत्ता जाता, तो इसी तरह गली के नुक्कड़ पर रिक्शा आकर रुकता। पर मै कभी तो नही जाता था उसे विदा करने को। तब भी उसके बाप, भाई, बहन सभी आते थे उसे छोड़ने को रिक्शे तक। लेकिन किसी की आँखो मे आँसू नहीं होते थे।...वे जानते थे कि यह आना-जाना लगा ही रहता है... पर आज का जाना तो और ही लग रहा था, जैसे वह रोजगार की तलाश मे न जा रहा हो, जैसे वह दूर, बहुत दूर, ऐसी जगह जा रहा हो, जहाँ से जाने वह कभी लौटेगा भी या नही।"[1] छाको के चेहरे पर अजीब तरह का तनाव है। उसका एक पैर रिक्शे के पायदान पर है, दूसरा पैर अभी जमीन पर ही है, जैसे वह जमीन मे धँस चुका हो। तभी उसकी बुआ के आँसुओं में डूबे हुए शब्द 'मैं' के कानो मे पहुँचते है "अल्लाह खैर से वापस लाए।" और तब एकाएक छाको का चेहरा फट पड़ता है। उसका पैर रिक्शे के पायदान से हटकर फिर जमीन पर आ गया है। वह फूट-फूटकर रो रहा है, जैसे वह सचमुच कोई बच्चा हो और उसकी कोई प्यारी चीज उससे छीनी जा रही हो।।"[2]

छाको अब पाकिस्तान का नागरिक है। 'मैं' जानता है कि कानून का जज्बात से कोई ताल्लुक नही। पर न जाने क्यो एकाएक उसके दिमाग ने जैसे काम करना बन्द कर दिया है। कानून की मोटी-मोटी किताबें जैसे छाको के आँसुओ में डूबती जा रही है और वह रूह की गहराई से कही शिद्दत से यह महसूस कर रहा है कि छाको दरअसल परदेश जा रहा है, जहाँ की हर चीज उसके लिये अजनबी है।[3] कानून ने उसे हिन्दुस्तान का नागरिक नही रहने दिया लेकिन अपनी मातृभूमि से उसकी रूह का जो रिश्ता है, वह किसी तरह टूट नही पाता।

अन्तिम इच्छा :

कानून और भावना के इसी द्वन्द्व मे फंसे हुए दीखते है बदीउज्जमां की एक और कहानी 'अन्तिम इच्छा' के कमाल भाई। सरल छाको को भुलावे मे डालकर ढाका ले जाया गया है। किन्तु पढे-लिखे, समझदार कमाल भाई तो अपनी इच्छा से पाकिस्तान चले गये हैं। लेकिन अन्त में उसकी भी वही स्थिति होती है जो छाको की है। वे अपने फैसले पर पछताते हैं, उनकी रूह अपने वतन की हवाओं, उसके माहौल को ढूँढ़ती है, लेकिन अब इतनी देर हो चुकी है कि सिवा पछतावे के हाथ और कुछ नही आता।

1. परदेसी : बदीउज्जमां : सिक्का बदल गया, पृ० 144.
2. वही, पृ० 145.
3 वही, पृ० 145

कमाल भाई कहानी के 'मैं' के बड़े भाई है। बड़ा ही भव्य और आकर्षक व्यक्तित्व है उनका। उनके सामने 'मैं' बिलकुल मरियल दिखाई देता है, आये दिन वे उसे पीटते रहते हैं। 'मैं' को उन पर बहुत क्रोध आता है; मन ही मन वह उनसे जलता भी बहुत है, लेकिन उसको कुछ कहने की हिम्मत उसको नहीं हो पाती। उसके अब्बा अपने छोटे भाई के इस पुत्र को इतना चाहते हैं कि 'मैं' और उसकी माँ कमाल भाई के विरुद्ध कुछ बोलने का साहस नहीं जुटा पाते। 'मैं' की अम्मा और छोटी अम्मा मे भी जन्म-जन्मांतर की दुश्मनी है। किन्तु वक्त के साथ-साथ ये सारी की सारी बातें गैरअहम बन जाती है। कमाल भाई की विचारधारा शुरू से ही मुस्लिम लीगी रही थी। 'मैं' उन्हें 'पाकिस्तान लेके रहेंगे' और 'कायद आजम जिन्दाबाद' के नारे लगाते देख चुका था। मुहम्मद अली जिन्ना जब गया आये थे और बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया था तो आगे-आगे रहने वालों में कमाल भाई भी थे। 'यह उन दिनो की बात है जब मुस्लिम लीग का असर तेजी से फैल रहा था और राजनीति के स्तर पर हिन्दू और मुसलमान बड़ी हद तक बँट चुके थे। पर दैनिक जीवन के स्तर पर सब कुछ पहले की तरह चल रहा था। राजनीति की सतह पर हिन्दुओ को मुसलमानों से शिकायतें थीं और मुसलमानो को हिन्दुओं से। पर रोजमर्रा की जिन्दगी मे पूरा सम्पर्क बना हुआ था।'[1] अब सोचने पर 'मैं' को यह सारा झगड़ा अपनी अम्मा और छोटी अम्मा के झगड़े जैसा लगता है। 'तमाम शिकवे-शिकायतें और उतार-चढ़ाव के बावजूद अम्मा और छोटी अम्मा के सम्बन्धों में कभी ऐसी दरार नही पड़ी कि दोनो एक दूसरे से बिलकुल अलग हो जाएँ।'[1]

'मैं' के रिश्ते के एक भाई अहमद इमाम मुस्लिम लीग और पाकिस्तान की माँग के कट्टर विरोधी थे। वे कांग्रेस, गांधी जी और मौलाना अबुल कलाम आजाद के बड़े भक्त थे, इसी कारण कमाल भाई से अकसर उनकी जोरदार बहसें हुआ करती थी। अपनी कौमपरस्ती के कारण वे लोगो के बीच गांधी भाई के नाम से मशहूर हो गये थे। एक बार मुहल्ले में हुए मुस्लिम लीग के जलसे मे कमाल भाई ने इकबाल का मशहूर तराना 'चीनो अरब हमारा, हिन्दुस्तां हमारा, मुस्लिम है हम वतन है सारा जहाँ हमारा' गाकर सुनाया था। जलसा खत्म होने पर गांधी भाई ने शायद कमाल भाई को छेड़ने की खातिर कहा था: 'क्यों भाई कमाल, तुम्हे कोई और नज्म गाने को नही मिली जो इकबाल का यह तराना गाने लगे। इकबाल फलसफी हो सकते है लेकिन इन्सान के दर्द को वह नही समझते।"

---

1 अन्तिम इन्तजार : बदीउज्जमाँ भारत विभाजन हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० ६९

"अजी आप क्या समझेंगे इकबाल की शायरी को ।"[1]

कमाल भाई नाराज हो गये थे । 'उस समय इकबाल की शायरी को समझने की योग्यता मुझमें नहीं थी । पर आगे चलकर जब मैं इकबाल की कविताओं और देश की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को समझने के काबिल हुआ तो मैं भी उसी नतीजे पर पहुँचा जिस नतीजे पर गांधी भाई बहुत पहले पहुँच चुके थे ।'[2]

गांधी भाई और कमाल भाई में अक्सर लम्बी बहसें होती थी । गांधी भाई हमेशा अकेले पड़ जाते थे । मुस्लिम लीग का विष इतना फैल चुका था कि गिनती के लोग ही इससे मुक्त रह सके थे । जहाँ कमाल भाई के पक्ष में दस-दस, बारह-बारह आदमी होते वहाँ गांधी भाई को अकेले ही इतने सारे वार सहने पड़ते ।'[3]

देश-विभाजन से कोई साल-डेढ़ साल पहले टाउन हाल में कौम-परस्त मुसलमानों का जलसा हो रहा था । जलसे में उपद्रव मचाने के लिये मुस्लिम लीग ने अपने वालंटियर भेज दिये थे, जिसमें कमाल भाई भी थे । जब गांधी भाई और दूसरे लोगों ने उन्हें रोकने की कोशिश की; लीग के वालंटियरों ने गांधी भाई को बुरी तरह पीटा था । वे अधमरे से हो गये थे । कमाल भाई ने कहा था 'गद्दारों का यही अंजाम होता है । कौम से गद्दारी करेंगे तो क्या कौम फूलों के हार पहनायेगी ।'[4]

कमाल भाई और गांधी भाई की बहस आम तौर पर एक ही दायरे में घूमती थी । कमाल भाई कहते "मुसलमानों की संस्कृति, भाषा, पहनावा, खान-पान, रीति-रिवाज, सब कुछ हिन्दुओं से अलग है । वे अलग कौम हैं । अखण्ड भारत में उनकी संस्कृति सुरक्षित नहीं रह सकती ।"[5]

गांधी भाई उत्तर देते—'धर्म को छोड़कर हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई अन्तर नहीं है । जो अन्तर दिखाई देता है वह केवल बाहरी है । इससे अधिक अन्तर तो खुद मुसलमानों के विभिन्न वर्गों और हिन्दुओं के विभिन्न वर्गों में दिखाई दे जायेगा । क्या तुमने कभी गौर किया है कि आम मुसलमान की जिन्दगी जन्म से लेकर मौत तक जिन रीति-रिवाजों के दायरे में घूमती है वे आम हिन्दू से जरा भी अलग नहीं है ?······दो कौम का नजरिया बहुत बड़ा जाल है जिसमें भोले-भाले मुसलमानों को फँसाने की कोशिश की जा रही है । इसके नतीजे बहुत खतरनाक होंगे ।[6] आश्चर्य है कि कमाल भाई और उन जैसे हजारों-लाखों मुसलमानों को इनमें

1. अन्तिम इच्छा : बदीउज्जमाँ : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 69.
2. वही, पृ० 69.
3. वही, पृ० 70.
4. वही, पृ० 70.
5. वही, पृ० 71.
6. वही, पृ० 71.

कोई सच्चाई नजर नहीं आती थी। 'लेकिन यह भी कैसी विडम्बना थी कि गांधी भाई जैसा इंसान जो साम्प्रदायिकता का कट्टर विरोधी था, जो मुस्लिम फिरकापरस्तों के हाथों एक बार मरते-मरते बचा था, जिसने साम्प्रदायिकता की तेज आँधी में भी साम्प्रदायिक एकता का दिया अपने कमजोर हाथों में पकड़ रखा था वह देश विभाजन के बाद एक साम्प्रदायिक दंगे में किसी हिन्दू के हाथों मार डाला गया था।'[1]

बंटवारे के बाद कमाल भाई लोगों के लाख समझाने पर भी नहीं रुके। अपनी नई-नवेली दुल्हन को लेकर वे पाकिस्तान चले गये। कुछ वर्षों के बाद एक दोपहर को तार आया, जिसमें कमाल भाई के मरने की सूचना है। 'मैं' को समझ में नहीं आता कि एकाएक यह सब कैसे हो गया। हफ्ते-भर पहले की तो बात है। कमाल भाई का खत आया था। बीमार होते तो जरूर लिखा होता। खत में ऐसा कुछ भी तो नहीं था जिससे उनकी बीमारी का पता चलता। वैसे उनका स्वास्थ्य बहुत दिनों से खराब चल रहा था। दो साल पहले आये थे तो पहचानना मुश्किल हो गया था उनको। पहले जैसा गठा हुआ शरीर नहीं रहा था। बेहद दुबले हो गए थे। गोरा-चिट्टा रंग भी गायब हो चुका था . ...लगता ही नहीं था कि यह वही कमाल भाई है। कहते थे, "कराची की आबोहवा रास नहीं आई......"[2] तब 'मैं' को याद आता है कि कराची जाते समय छोटे अब्बा और छोटी अम्मा सिर पटककर रह गये थे, लेकिन कमाल भाई टस से मस नहीं हुए थे। उल्टे कहने लगे, "आप लोग भी निकल चलिए। बाद में पछताइयेगा।"

छोटी अम्मा बोली थी, "यह तो हमसे न होगा। अपना घर-बार छोड़कर परदेस जा बसें"[3]

वही कमाल भाई वर्षों बाद गया स्टेशन के टी-स्टाल पर खड़े छोटे भाई से कह रहे थे "जानते हो ख्वाजा, पाकिस्तान जाकर मैंने सख्त गलती की। अब्बा का कहा मान लेता तो अच्छा रहता। मेरी हालत धोबी के गधे की हो गई है। न घर का न घाट का। सोचता हूँ मुल्क का बंटवारा न होता तो अच्छा था।'[4] और छोटा भाई अचरज और खामोशी से उनकी बातें सुन रहा था। उसे लग रहा था कि "वह बूढ़ों जैसी बातें कर रहे थे। अब यह सोचने से क्या फायदा। मुल्क का बंटवारा हो चुका था और यह भी एक हकीकत थी कि कमाल भाई पाकिस्तान चले गये थे।

---

1. अन्तिम इच्छा : बदीउज्जमां : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 71.
2. वही, पृ० 62–63.
3 वही, पृ० 63
4 वही, पृ० 67

साँप जब निकल गया है तो लकीर को पीटते रहने से क्या लाभ।'[1] स्टेशन पर कुल्हड़ वाली चाय पीते हुए कमाल भाई कहते है : "जानते हो कराची मे ऐसी चाय पीने को जी तरस जाता है। ऐसी सोंधी चाय कराची मे कहा नसीब !"[2] गया स्टेशन के असिस्टेंट स्टेशन मास्टर को जब पता चलता है कि कमाल भाई कराची मे रहते हैं वह अपना परिचय देते हुए कहता है "हम भी कराची से आया है। हमारा नाम लालवानी है। कराची स्टेशन के बाहर निकलते ही दायीं तरफ टी-स्टाल है ना। रफीक को हमारा सलाम बोलना। कहना लालवानी बहुत याद करता है......और कराची स्टेशन पर अब्दुस्सत्तार टी० सी० है। उससे कहना लालवानी मिला था। बहुत याद करता है।"

जब कमाल भाई की गाड़ी प्लेटफार्म पर सरकने लगती है, लालवानी तेजी से भागता हुआ कमाल भाई के डिब्बे की तरफ आता है और चीख-चीख कर अपने कराची के परिचितों को सलाम बोल देने की याद दिलाता है। ट्रेन प्लेटफार्म से निकलकर अंधकार मे विलीन हो जाती है और तब 'मैं' वीरान प्लेटफार्म पर निगाह डालता है। उसे लगता है "यह जिन्दगी भी अजीब चीज है। लालवानी, जिसकी रग-रग में कराची बसा हुआ है, गया की जमीन पर खड़ा हांफ रहा है और कमाल भाई, जो गया की हवाओं के लिए तरसते है, कराची मे आजीवन रहने को मजबूर है।"[4] और तब उसे लगता है "......गांधी भाई ने इकबाल के बारे में ठीक ही कहा था। कमाल भाई खुद को इकबाल के सांचे में ढला हुआ मुसलमान समझते थे। तभी तो गया से अपना रिश्ता तोड़ते हुए उन्हें जरा भी हिचक नही हुई। पर क्या यह रिश्ता टूट सका ? उनका उदास चेहरा इस बात का साक्षी था कि गया से उनकी रूह का जो रिश्ता है वह कभी भी नही टूट सकता।"[5]

कमाल भाई के बारे में सोचते हुए आज 'मैं' को ये सारी बातें याद आ रही हैं। "स्मृतियो का जुलूस एक बिन्दु पर पहुँचकर रुक-सा गया है। गया रेलवे स्टेशन पर पाकिस्तान को जाने वाली स्पेशल ट्रेन खचाखच भरी हुई है। जितने आदमी अन्दर हैं उससे कही ज्यादा प्लेटफार्म पर हैं। जानेवालों में कमाल भाई भी हैं। हजारों आदमी इन्हें विदा करने आये है। इन्होंने अपनी इच्छा से उस जमीन को हमेशा के लिये छोड़ने का फैसला किया है जिसे छोड़ने को शायद इन्होंने कुछ दिन

1. अन्तिम इच्छा : बदीउज्जमां : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियां, पृ० 67.
2. वही, पृ० 67.
3. वही, पृ० 67.
4. वही, पृ० 68.
5. वही, पृ० 69–70.

पहले कल्पना भी नही की थी। ये सब स्वेच्छा से जा रहे हैं लेकिन इनके चेहरों पर हवाइयाँ उड़ रही हैं। इन्हें अपने निर्णय पर कोई पछतावा, कोई दुःख, कोई ग्लानि नहीं है। इन्हें पूरा विश्वास है कि इनका फैसला सही है। फिर भी इनके दिल एक अजीब दहशत से भरे हुए हैं।......गांधी भाई भी स्टेशन पर मौजूद हैं। ट्रेन प्लेट-फार्म पर सरकने लगती हैं। हजारों आँखें ट्रेन को जाते देखती रहती हैं और जब तक ट्रेन दृष्टि से ओझल नहीं हो जाती वे उसका पीछा करती रहती हैं। और तब एक अजीब-सी उदासी और वीरानी का एहसास सब पर हावी होने लगता है जैसे जाने वालों से वे हमेशा-हमेशा के लिए कट चुके हैं। गांधी भाई फूट-फूट कर रोने लगते हैं। सिसकियों मे डूबे हुए उनके शब्द आज भी मेरे कानों मे गूँज रहे हैं, "इन्हें वतन कभी नसीब नही होगा। बनी इसराइल की तरह ये हमेशा भटकते रहेंगे और अपनी मिट्टी और हवाओं के लिए तरसते रहेंगे।"[1] और तब 'मैं' के मन मे मानो कमाल भाई के शब्द गूँजने लगते हैं "दिन तो रोजी के झमेले में किसी तरह बीत जाता है। लेकिन रात के सन्नाटे में एक अजीब पुर असरार वीरानी का एहसास छाने लगता है। एक अजीब अस्पष्ट-सा ख्याल दिल और दिमाग पर हावी होने लगता है, जैसे फिर वही लौट जाना है जहां से आए थे। लेकिन कब और कैसे ? इन सवालों के जवाब नही मिलते।"[2]

रिवाज के मुताबिक चौथे दिन 'कुल' हुआ। दोपहर होते-होते 'कुल' की सारी गहमागहमी खत्म हो गयी। 'मैं' बैठक मे अकेला बैठा जिन्दगी के उतार-चढ़ाव के बारे मे सोचता रहा। वर्षों पहले जब छोटे अब्बा मरे थे या उनसे भी पहले जब अब्बा का इंतकाल हुआ था तो उनके कुल मे भी यही सब कुछ हुआ था। पर इसके अलावा भी कुछ हुआ था जो कमाल भाई के 'कुल' में हमलोग नहीं कर सकते थे। हम सब 'कुल' के दिन शाम को अगरबत्ती और फूल की चादर लेकर अब्बा और छोटे अब्बा के मजार पर गए थे और फातिहा पढकर लौट आए थे। पर कमाल भाई की कब्र पर हमलोग कहाँ जा सकते थे। वह तो हजारो मील दूर थी। शायद यह दूरी इससे भी ज्यादा थी—ऐसी दूरी जो मीलों मे नहीं मापी जा सकती।"[3] और तब वह भावुकता की तरंगों में बहकर सोचने लगा, कमाल भाई ने जिन्दगी की आखिरी घड़ियों में जाने अपने घर को, अपने बचपन को, गया के गली कूचों को, अपनी माँ को, अपने भाई-बहनों को किस-किस तरह याद किया होगा ? कौन कह

---

1. अन्तिम इच्छा : बदीउज्जमाँ : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 72.
2. वही, पृ० 72
3. वही, पृ० 73

सकता है, उनके दिमाग मे यादों के कितने दीये जले-बुझे होंगे।[1] उसी दिन शाम को कमाल भाई की पत्नी का पत्र आता है, जिसमें लिखा है "उन्हें जैसे मालूम हो गया था कि अब नहीं बचेंगे। जब से बीमार पड़े थे यही कहते थे—'मुझे गया ले चलो अम्मा के पास। मै कराची में रेगिस्तान में मरना नही चाहता। मुझे वहीं दफन करना फलगू नदी के उस पार कब्रिस्तान में जहाँ अब्बा की कब्र है और बड़े अब्बा की'।"[2]

एकाएक 'मैं' को लगता है जैसे वक्त ने अपना दामन समेट लिया है, और मौलवी साहब की कड़कदार आवाज उसके कानो मे गूँजने लगती है "......हजरत युसुफ ने इंतकाल से पहले अपने खानदान वालों से यह वायदा कराया कि वे उन्हें मिस्र की जमीन मे दफन नहीं करेंगे। बल्कि जब खुदा का यह वायदा पूरा हो कि बनी इस्राइल दुबारा फिलीस्तीन यानी अपने पुरखो की जमीन में वापस हों तो उनकी हड्डियाँ वे अपने साथ लेते जाएँगे और वहीं मिट्टी के सुपुर्द कर देंगे। चुनांचे उन्होंने वायदा किया और हजरत यूसुफ का इंतकाल हो गया तो उनको ममी करे ताबूत में हिफाजत से रख दिया और जब हजरत मूसा के जमाने मे बनी इस्राइल मिस्र से निकले तो इस ताबूत को भी अपने साथ लेते हुए गए और पुरखो की जमीन मे ले जाकर इसे दफन कर दिया।'

'हजरत यूसुफ ने ऐसा क्यों कहा मौलवी साहब?' कमाल भाई ने पूछा था।

'हजरत यूसुफ आखिर को इंसान थे भाई। मिस्र मे उन्होंने बड़ी शान से हुकूमत की। इज्जत, शुहरत, दौलत! ऐसी कौन-सी चीज थी जो उन्हें वहाँ नहीं मिली। लेकिन वतन फिर भी वतन है। मिट्टी खींचती है भाई। तुम अभी इसे नही समझोगे' मौलवी साहब बोले थे।[3]

तब कौन जानता था कि एक जमाना ऐसा भी आएगा जब कमाल भाई को भी अपने संबन्धियो से वही कुछ कहना पड़ेगा जो हजरत यूसुफ ने बनी इस्राईल से कहा था। पर बनी इस्राईल से तो खुदा ने वायदा किया था कि वे पुरखों की जमीन में वापस होंगे। कमाल भाई से तो खुदा ने ऐसा कोई वायदा नही किया था। और तभी मुझे लगता है कि कमाल भाई बहुत लम्बे अर्से तक एक बहुत बड़े झूठ के सहारे जीते रहे थे। लेकिन उनकी जिन्दगी में ऐसा समय भी आया था जब उन्होंने इस झूठ को पहचानना शुरू कर दिया था और अपने जीवन के अंतिम क्षणों मे तो

1. अन्तिम इच्छा : बदीउज्जमाँ : भारत विभाजन : हिंदी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 73
2. वही, पृ० 73.
3. वही, पृ० 73–74.

उन्होंने झूठ के इस लबादे को बिल्कुल उतार फेंका था और उस सचाई को पूरी तरह से महसूस कर लिया था जिसे गांधी भाई बहुत पहले ही जान चुके थे। और तब कमाल भाई का चेहरा कोई एक चेहरा नहीं रहता। वह हजारों-लाखों चेहरों में बदलने लगता है। चेहरे जो न हिन्दू है न मुसलमान—महज इंसान के चेहरे जो अपनी जड़ों से कटकर बहुत करुण बन गए हैं और जिन्हें निहित स्वार्थों के षड्यन्त्र ने आजीवन नरक में झोंक दिया है।[1]

देवेन्द्र इस्सर :

मुक्ति :

देवेन्द्र इस्सर की 'मुक्ति' शीर्षक कहानी विभाजन की त्रासदी को भोग रहे एक परिवार की कथा है। लीलावंती अपने पति और बच्चों के साथ कई वर्षों से सुखपूर्वक रावलपिंडी में रह रही थी। फिर आजादी की रात आयी और इस छोटे से सुखी परिवार पर वज्रपात हुआ। छुराबरदार गुण्डे घर के सारे कीमती सामान के साथ-साथ लीलावंती की बड़ी पुत्री शीला को भी अपने साथ ले गये। बाद मे अपने छोटे बच्चे को सीने से लगाये लीलावंती पति के साथ दिल्ली पहुँच गयी जहाँ नये सिरे से जीवन आरम्भ करने का उसने प्रयास किया। किन्तु शीला की जुदाई का दाग उसके सीने मे नासूर बनकर रिसता रहा। उसका पति अब किसी कम्पनी का इन्श्योरेन्स एजेन्ट हो गया था। आमदनी इतनी कम थी कि कई बार खाना भी न मिल सकता था। दो रोज से भूखी लीलावंती खिड़की में खड़ी प्रतीक्षा कर रही थी। सारी रात बीत गयी, लेकिन उसका पति नहीं आया। सुबह पति की तलाश मे वह उसके आफिस गयी, जहाँ यह पता चला कि वह शाम को ही दफ्तर से चला गया था। बस-स्टैन्ड के पनवाड़ी से उसे पता चला कि उसके पति को जेबकतरा होने के सन्देह से गिरफ्तार कर लिया गया है। लीलावंती ने थाने जाकर फरियाद की लेकिन उसके आँसुओं का वहाँ कोई असर न हुआ। अन्त मे लड़खड़ाते कदमों से वह घर की ओर चल पड़ी। रास्ते मे उसको एक जुलूस मिला जिसके नारे उसे कुछ अजीब से मालूम हुए। "यहाँ नेताओ के जयकारे नही बोले जा रहे थे··· यह लोग वही कुछ कह रहे थे जो वह चाहती थी। वह अच्छा मकान, सस्ता गल्ला और सस्ता कपड़ा चाहती थी। वे लोग कैदियो की रिहाई की माँग भी कर रहे थे। शायद उसके पति की तरह कई और लोग भी जेल की काल-कोठरियों में बन्द कर दिये गये होंगे। उसको ऐसा महसूस हुआ जैसे यह सैकड़ों आदमी वर्षों से उसके वाकिफकार और गमख्वार थे। जैसे उसके दिल की धड़कन इन आदमियों ने सुन ली हो···वह भी किसी नामालूम भावना से प्रेरित होकर इस जुलूस मे शामिल हो गयी।"[2] एक युवा

1. अन्तिम इच्छा : बदीउज्जमा : भारत विभाजन—हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 74.
2. मुक्ति देवेन्द्र इस्सर छिलका बदल गया, पृ० 119

लड़की ने उसे धीरज बँधाया 'माँ', यह तेरा दुःख नहीं है, हम सबका दुःख है। हम सबकी मुसीबत एक है। हम अपने देश के प्यारे नेता से मिलने जा रहे हैं। तुम भी अपने दुःखों की कहानी सुनाना और इन्साफ की अपील करना।'[1] आधे घन्टे बाद प्रिय नेता की कार आयी और उसमें से प्रिय नेता निकले। लीलावंती ने देखा कि 'प्रिय नेता का मुख संजीदा और प्रभावशाली था। वे बड़े गुस्से मे थे'''उसे ऐसा महसूस हुआ जैसे प्रिय नेता जुलूस के नेताओं को डांट रहे हों।'[2] युवा लड़की से लीलावंती को आगे बढ़ने का इशारा किया। लीलावंती बिना झिझके आगे बढ़ी। वह समझती थी कि वह देश के एक बडे आदमी से अपने दुःख की कहानी बयान करने जा रही है। ज्यो ही वह नजदीक पहुँची कार स्टार्ट हो गयी।'''धूल के कण उसके खुश्क होंठो और सूखे हुए गालों पर आकर जम गये। जैसे किसी ने उसके मुँह पर तमाचा मार दिया हो।[3] चिलचिलाती धूप मे दिन-भर घूमते रहने के कारण उसे सनस्ट्रोक हो गया और वह घर जाकर धड़ाम से फर्श पर गिर गयी। उसने आखिरी हिचकी ली 'हिचकी, जो इस बात की निशानी थी कि वह नयी धरती की नयी, मगर कलेजा चीरनेवाली हवाओं को बर्दाश्त न कर सकी थी।'[4]

यह कहानी विभाजन के दौरान घटी पाशविक घटनाओं, उन घटनाओं के सन्दर्भ मे मनुष्य को द्वन्द्वपूर्ण, करुण मनःस्थितियो तथा बलात्कार के प्रसंग जैसी प्रत्यक्ष घटनाओं से सम्बद्ध है। कहानीकार ने कथात्मक माध्यम से, पुनर्विलोकन तथा वर्णन की पद्धतियो द्वारा लीलावंती के चरित्र में व्याप्त विभाजनजन्य पीड़ा को व्यक्त किया है। स्थितियो का विरोधाभास शरणार्थियो की दयनीयता और असहायता को और अधिक उजागर करता है। सब कुछ खोकर आती लीलावंती अपनी खिड़की से जीवन की चहल-पहल को देख रही है, जहाँ दुकानो मे उड़ते हुए नीले-पीले थान हैं, खुशपाश जाड़े की आकर्षक हँसी है, गुब्बारे से खेलते हुए बच्चे है; दूसरी ओर लीलावंती दो दिन से भूखी है, उसका बच्चा दूध-दूध चिल्लाता हुआ सो गया है और वह पति के लौटने की निरर्थक प्रतीक्षा कर रही है। शरणार्थियो की इस दयनीय दशा की पृष्ठभूमि मे निर्मम व्यवस्था और नौकरशाही इनकी पीड़ा को और बढ़ाने वाले एक माध्यम के रूप में ही सामने आते हैं। लीलावंती के पति का जुर्म केवल यही है कि उसकी शक्ल जेबकतरे जैसी है, वह जेबकतरा है या नहीं इससे व्यवस्था को मतलब नही। मुख्य बात यह है कि उसकी जेब में वे चांदी के सिक्के नहीं है, जिनसे वह पुलिस की हथेली गर्म कर अपने को निर्दोष साबित कर सके। देश के:

1. मुक्ति : देवेन्द्र इस्सर : सिक्का बदल गया, पृ० 119-120.

2. वही, पृ० 120.

3. वही, पृ० 120.

4. वही, पृ० 121.

नेता वर्ग के पास, एक तरह से शरणार्थियों की इस दशा के लिये उत्तरदायी है, इनकी विपद्कथा सुनने का अवकाश नहीं है। जुलूस आधे घन्टे तक धूप में तपते हुए प्रिय नेता की प्रतीक्षा करता है और प्रिय नेता उनकी तकलीफों का ब्यौरा सुनने के स्थान पर उन्हे डाँट-फटकार कर चले जाते हैं। किन्तु इस सारी अव्यवस्था और निर्ममता के बीच मनुष्य की परिस्थितियों से लड़ने और संघर्ष करने की चेतना जाग रही है और यह जुलूस और जुलूस के नारे उसी चेतना का प्रतीक हैं। लीलावंती के हाथ का खाली बर्तन मनुष्य की मरती हुई संवेदनाओं का प्रतीक है, जिनकी भीख मांगती हुई निराश लीलावंती मर जाती है। हृदयहीन परिवेश की शिकार लीलावंती पहले भी दो बार मर चुकी है और उसकी यह तीसरी मौत तो एक दुर्घटना मात्र है।

श्रवण कुमार :

श्रवण कुमार की कहानियों मे आज के मनुष्य के टूटने, संघर्ष करने, बिखरने की जानी पहचानी स्थितियों को उनके नवीनतम एहसास मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। उनकी कहानियों में आज के अभावग्रस्त जीवन का गहरा अध्याय लक्षित होता है।

मामूली लोग :

उनकी कहानी 'मामूली लोग' मे परिवेशजन्य क्रूर मानसिकता का चित्रण हुआ है। अपने रोजमर्रा के जीवन मे व्यस्त मामूली से दीखने वाले लोग परिस्थितियों के दबाव और माहौल के प्रभाव से कैसे गैरमामूली बन जाते हैं, यह उस किशोर की गतिविधियों से स्पष्ट होता है जो विस्थापित होकर परिवार सहित भारत आने को विवश हुआ है। विभाजन के वातावरण ने उसमें हत्यारी मनोवृत्तियाँ पैदा कर दी हैं "उन दिनों मुझमें जाने कहाँ की दिलेरी भर गई थी।...एक पतला-दुबला उढंग-सा लड़का, और हाथ में किरपान लिए घूमता फिरे। पहले मेरे हाथ में हाकी थी। लेकिन मुझे लगा कि हाकी से वार करारा नहीं पड़ेगा। ज्यादा से ज्यादा आदमी बेहोश होकर गिर पड़ेगा। लेकिन किरपान का वार खाली नहीं जाता। यदि ठीक से पड़ गई तो गरदन साफ। गरदन साफ करने का भी शायद एक सुख होता है। मैं भी उसी सुख की तलाश मे था।"[1] अपने आप से यह सवाल करते हुए कि 'पाकिस्तान मे हमने मुसलमानों का क्या बिगाड़ा था जो उन्होंने हमें इस तरह बेघर कर दिया।'[2] वह भारत मे उनसे बदला लेने के मौके ढूंढा करता है। यह मौका एकाएक सामने आ खड़ा होता है। 'मैं' और उसके

1. मामूली लोग : श्रवण कुमार : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 125.
2. वही, पृ० 125-126

साथियों को पता चलता है कि उनके मुहल्ले मे मुसलमान आए है और अब वे उन्हें इधर-उधर ढूंढ रहे है, एकाएक मुसलमानों से उनका सामना हो जाता है, 'मैं' के मुँह से सहसा निकलता है "रुक जाओ वही।" और ताज्जुब वे वही रुक जाते हैं। "उन्होंने मेरा हुक्म माना; मैं जो शरीर और कद में उनके किसी तरह भी बराबर नही था। उनके चेहरे का पानी एकदम गायब था। फिर उनमे से एक बोला, "लेकिन इन्हें मारने से पहले हमें मारना होगा।" "यह कौन है ?" मैंने अपने साथियों की तरफ देखा। "यह हिन्दू है और यही का रहने वाला है।" "नहीं, नहीं, मत मारो। पुराना मुहल्लेदार था। अपना मकान देखने आया होगा। इसने हमारा क्या बिगाड़ा है ?" मेरा साथी फुसफुसा रहा था। हमने नही मारा। मेरा तनाव एकदम जाता रहा। मुझे कुछ शर्म भी आई। मैं वहाँ से एकदम सबकी नजर बचाकर खिसक लिया और फिर कई दिनों तक अपने घर में खोया-खोया घूमता रहा।'[1]

इसी क्रूर मानसिकता के वश होकर लेखक का रिश्ते का एक मामा एक मुसलमान सिपाही को धराशायी कर देता है, यद्यपि उसके मुसलमान होने के विषय मे वह निश्चित नहीं है। फिर वही मुहल्ले के चौक में लकड़ियाँ चिनकर उसको आग भी लगा देता है। 'चिता जल रही थी, लेकिन मामा एकदम डर गया था। वह डरकर अपने घर में छिप गया और फिर जोर-जोर से रोने लगा। बड़े अजब ढंग से रो रहा वह था। ..बच्चो की तरह ! बिल्कुल निरीह-सा ! वैसे ही जैसे उस दिन उस काफिले के लोग थे, जो समर्पण मे अपनी गरदनें खुद आगे बढाए हुए थे।[2]

'मैं' को उस काफिले की याद आती है, जिसे किरपान—तलवारो से काट डाला गया था। केवल एक अन्धी बुढ़िया बची थी, जो इधर-उधर डोलती हुई मौत की भीख माँग रही थी। 'लेकिन ताज्जुब कि उस बुढिया की गरदन उतारने को कोई तैयार न था…उससे किसी को कुछ नही लेना-देना था। जिनसे लेना-देना था, उनसे हिसाब तुरन्त कर लिया गया था।'[3] लेकिन 'मै' को ताज्जुब इस बात का है कि ऐसी सामूहिक विपत्ति में भी व्यक्ति इतना निरीह कैसे बना रह जाता है, कि मरने से पहले वह एक बार 'हां-हूँ' भी नही करता।[4] विभाजन ने न जाने कितने लोगों का जीवन बेमानी कर दिया है, उस बुढ़िया के जीवन की तरह,

1. मामूली लोग—श्रवण कुमार : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 125-126
2. वही, पृ० 126-127.
3. वही, पृ० 134.
4. वही, पृ० 124-125.

जिसके पति की हत्या कर दी गयी, बेटे का कुछ पता न चला, और बेटी किसी 'लफंगे' के साथ पाकिस्तान में ही रह गई। 'अकेली जान, जहाँ वे सब मर-खप गए, वहाँ उसे क्यों न मौत आई ?'[1] धीरे-धीरे बुढ़िया सब्र का पाठ सीख लेती है। 'अब वह बड़े इत्मीनान से 'मैं' के मुहल्ले में आ जाती और किसी-न-किसी घर से कुछ-न-कुछ खाने को पा जाती। पर जाने क्या होता है कि बुढ़िया की हालत दिन-ब-दिन बिगड़ती जाती है और एक दिन वह मर जाती है। उसका जिक्र छिड़ने पर 'मैं' की माँ कहती है "मालका, एही जई मौत कुत्ते नूँ वी न आए।"[2] और 'मैं' सोचता है 'सच, क्या कोई मौत ऐसी भी होती है जो कुत्ते की मौत से भी बदतर हो।'[3] लेकिन वह बदतर मौत विभाजन ने असंख्य इन्सानों को बख्शी है। वस्तुतः विभाजन की क्रूर परिस्थितियों ने मनुष्य नहीं रहने दिया है। परिवेश के दबाव और बदले की मानसिकता ने उन लोगों को हत्यारा बना दिया है जो कल तक हत्या की बात सोच भी नहीं सकते थे। विभाजन के सम्पूर्ण परिवेश का एक मिला-जुला चित्र इस कहानी में उभरता है।

इन विश्लेषित कहानियों से यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि लेखकों ने विभाजनकाल के सम्पूर्ण परिवेश को अपनी कहानियों में समेटने का प्रयास किया है। परिवेश स्वयं अपने आप में रचना है, क्योंकि उसमें घटनाओं की आत्मा प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः धड़कती रहती है जिसपर समय का आवरण पड़ जाता है। लेखक उस आवरण को हटाकर आवेगों, संवेदनाओं के अनेक मर्मस्पर्शी क्षणों को उकेरने लगता है। भाई चारा और द्वेष, प्रेम और घृणा, मानवीय करुणा और बदले की आग जैसे अनेकानेक परस्पर विरोधी भाव इन कहानियों में उभरकर सामने आते हैं। पूरा परिवेश—आन्तरिक और बाह्य—अपने सर्वांग रूप में चित्रित हुआ है।

आज भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में यदा-कदा ऐसी कहानियाँ छपती है जो विभाजनकाल के किसी हादसे का मानवीय अवमूल्यन का चित्र प्रस्तुत करती है। इनमें अधिकांश कहानियाँ वतन लौटने की छटपटाहट को लेकर लिखी गयी है। जो मुसलमान भारत से पाकिस्तान चले गये वे वहाँ बसकर वर्षों बाद भी वहाँ के नहीं बन सके और जो हिन्दू पाकिस्तान से भारत चले आये वे कितने भी खुशहाल क्यों न हो गये, उनके दिलों में अपने बिछड़े घरों की याद आज भी टीस पैदा करती

1. मामूली लोग—श्रवण कुमार : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 133.
2. वही, पृ० 134.
3 वही, पृ० 134

है। 'माटी रही पुकार'[1] के बशीर अहमद की भाँति वे पारिवारिक दबाव में आकर पाकिस्तान चले तो जाते है, किन्तु अपनी मातृभूमि, चौमुहा की मिट्टी को कभी भूल नही पाते। पाकिस्तान मे सब कुछ मिलने पर भी बशीर अहमद का जीवन सूना ही रहता है। उनकी स्थिति उस पौधे के समान है, जिसे जमीन से उखाड़कर एक गुलदस्ते में लगाकर ड्राईगरूम की सजावट के लिये रख दिया गया है। उन्हें विश्वास ही नही हो पाता कि इस नयी जमीन मे उनकी जड़ें फिर से लग सकेंगी।[2]

विडम्बना यह है कि जीवन के अन्तिम समय में जब वे चौमुहा जाने की लालसा से दरगाह शरीफ पर जियारत के लिये जाने वाले जत्थे मे शामिल होते हैं, अजमेर के अलावा किसी और जगह जाने की इजाजत उन्हें नही मिलती। आदेश का उल्लंघन कर वे अपने नवासे के साथ दिल्ली शहर में जाते है और पकड़े जाते हैं। जमानत हो जाती है, किन्तु उसी सन्ध्या को उन्हें दिल का दौरा पड़ता है। अस्पताल मे उनके मानस-पटल पर चौमुहा ही घूमता रहता है। बार-बार उन्हें चौमुहा का कब्रिस्तान दिखाई देता है, जहाँ उनके बाबा, पिता और चाचा की कब्रें है।[3] वे अपने नवासे से डी० सी० तक अपनी यह ख्वाहिश पहुँचाने का आग्रह करते हैं कि मौत के बाद उनकी मिट्टी को चौमुहा ले जाने की इजाजत दी जाये। "चौमुहा की मिट्टी मुझे पुकार रही है। मुझे वही मेरे वालिद और चाचा की कब्रों के पास दफनाया जाये।"[4] आग्रह स्वीकार होने का विश्वास होते ही बशीर अहमद का सारा तनाव दूर हो जाता है। अपने वतन की स्मृतियों मे खोये हुए बशीर अहमद शान्ति से मृत्यु की गोद में सो जाते हैं। ऐसे पात्रों का चरित्र इस सत्य की व्यंजना करता है कि व्यक्ति जहाँ जन्म लेता है, जहाँ उसका बचपन बीतता है, उसे कभी भुला नही पाता; जन्मभूमि का मोह उसे हमेशा खीचता है।

विभाजन पर रचित कहानियो के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि विभाजन के कुछ वर्षों बाद तक जो कहानियाँ लिखी गयी, उनमें परिवेश और परिवेश के दबाव का चित्रण अधिक है, किन्तु विभाजन के लगभग दस वर्षों बाद जो कहानियाँ लिखी गयी या लिखी जा रही हैं, उनमें मानवीय करुणा और वेदना का स्वर प्रमुख है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वर्षों बाद भी जनमानस विभाजन के प्रभाव से मुक्त नही हो पाया है। 'जड़ें'[5] के सिन्धी पात्र विभाजन के लगभग तीन दशक गुजर

1. 'माटी रही पुकार'—बिशन टंडन, धर्मयुग—13 दिसम्बर 1981, पृ० 21.
2 वही, पृ० 25
3. वही, पृ० 59.
4. वही, पृ० 59.
5. 'जड़ें'—हरि भक्त : रविवार, 28 मार्च 1982, पृ० 42.

जाने पर भी विभाजन के परिवेश और प्रभाव से अपने आप को अलग रख पाने में असमर्थ हैं। अपना घर छोड़कर पराये महानगर में असुरक्षित और उखड़ा-सा अनुभव करने वाला विनोद जब पाकिस्तान से आये सिन्धी भाई-बहनों से मिलता है, उसके हृदय की परतें अपने आप खुलने लगती हैं। विनोद के पिता विभाजन के बाद अपने मुसलमान मित्र की सहायता से भारत आये थे। विनोद विभाजन के बाद की जिन मूल्यहीन स्थितियों में पैदा हुआ है, उनके कारण पिता के अनुभवों पर उसे विश्वास नहीं हो पाता "मेरे पिताजी कहते थे, हिन्दुओं ने हमारे साथ हमेशा धोखा किया। लम्बी यातनादायक यात्रा थी वो। उनका एक दोस्त वजीर अली हमें हिन्दुस्तान लाया था। हम सब लोग जिन्दा आये थे। वो जो भी उथल-पुथल बताते हैं—दंगे-फसाद, कत्ल और रास्ते के भयावह 'एडवेंचर' और चंद प्यार भरे दोस्त······किसी सपने के टूटे-टूटे अध्याय-से लगते हैं। क्या इतना वफादारी, दोस्ती और इनसानियत मैं निभा सकता हूँ? मैं किसी के लिए मर सकता हूँ और किसी के लिए जी सकता हूँ······?"[1]

शीरा और टिल्लू के पिता विभाजन के बाद किसी भी कीमत पर अपना वतन छोड़ने को तैयार नहीं हुए थे। वे 'इनसानियत पर विश्वास कर अकेले अफसुर्दा रहे कि जमीन और घर को हमारे पूर्वजों ने प्यार किया था।'[2] विनोद उनसे भारत चले आने का आग्रह करता है लेकिन वे अपना वतन छोड़कर अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कटने को तैयार नहीं हैं। उन्हें वतन के प्रति अपने माँ-बाप की बेपनाह मुहब्बत का ख्याल आता है "उस आदमी की हिम्मत, उस औरत की बेपनाह मुहब्बत समझोगे, जिनकी जड़ों ने जमीन में अंगुलियाँ गाड़ कर जमीन को कस लिया······"[3]

कहानियों में मानवीय करुणा और वेदना का स्वर यह सोचने को विवश करता है कि मानवता ने विभाजन की इस दुर्घटना को अत्यधिक कष्ट के साथ पचा तो लिया किन्तु अब उसकी वेदना असहनीय हो गयी है। क्योंकि विभाजन की त्रासदी ने समस्त मानवीय अर्थों को बदल दिया था। जिन कहानियों में मानवीय करुणा और वेदना का यह पक्ष आया है, निःसन्देह वे कहानियाँ रचनात्मक दृष्टि से अधिक सबल और सशक्त हैं। अन्तिम अध्याय में ऐसी ही कहानियों की रचनात्मक सम्भावनाओं को परखने का प्रयास किया गया है।

---

1. 'जड़ें'—हरि भक्त : रविवार, 28 मार्च 1982, पृ० 44.
2. वही, पृ० 43.
3. वही, पृ० 44

विभाजन सम्बन्धी उपन्यास साहित्य

पिछले अध्याय मे भारत विभाजन की पृष्ठभूमि पर रचित कहानी-साहित्य का विवेचन किया गया। प्रस्तुत अध्याय में विभाजन को आधार बनाकर लिखे गये उपन्यास साहित्य का विवेचन किया गया है। कहानी मूलतः क्षणविशेष की संवेदना का चित्र है, जिसमें छोटे पैमाने पर जीवन का सुसंघटित और अपने आप में पूर्ण चित्र उपस्थित किया जाता है, जबकि उपन्यास एक विस्तृत फलक पर जीवन के विविध पक्षों के चित्रण की सुविधा प्रदान करता है। भारत विभाजन भारतीय इतिहास की ही नहीं, बल्कि विश्व-इतिहास की एक क्रूरतम त्रासदी है। इस घटना ने भारतीय जनजीवन को सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक; सभी स्तरो पर प्रभावित किया, यहाँ तक कि आर्थिक जीवन भी इससे प्रभावित हुआ। विभाजन का घटनाक्रम तथा उसके परिणाम एक विस्तृत फलक पर साहित्य-रचना को पर्याप्त सामग्री प्रदान करते है। उपन्यास के लिये, जिसे जीवन के विभिन्न पक्षों के व्याख्या की साहित्यिक विधा माना जाता है, भारत-विभाजन एक आदर्श विषयवस्तु है। स्वभावतः हिन्दी के उपन्यासकार को इस विषय ने आकृष्ट किया। कुछ तो इस कारण कि हिन्दी के कई प्रसिद्ध साहित्यकार विभाजन के घटना-क्षेत्र से सम्बद्ध रहे, इसलिये विभाजन उनकी निजी त्रासदी भी थी; और कुछ इस कारण कि उसमे मानवीय संवेदना को उद्वेलित करने वाले तत्व मौजूद थे, जिनसे तटस्थ रहना लेखक के लिये संभव नहीं था। अतः इस विषय पर अनेक उपन्यासो की रचना हुई, जिनमे कुछ महत्व-पूर्ण हैं।

विश्लेषण की सुविधा के लिये इन उपन्यासों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग मे उन उपन्यासों को सम्मिलित किया जा सकता है, जिनमें कथानक का मूल आधार भारत-विभाजन की घटना है। अर्थात् कथानक का ताना-बाना विभाजन की घटना के इर्द-गिर्द ही बुना गया है। ऐसे उपन्यासो मे विभाजन की पृष्ठभूमि, विभाजन के घटनाक्रम तथा उसके परिणामो को शब्दबद्ध किया गया है। गुरदत्त के कई उपन्यास, 'झूठा-सच', 'तमस', 'और इन्सान मर गया' जैसी रचनाएँ इसी वर्ग की हैं। 'मुट्ठी भर कांकर'; 'जुलूस' जैसी रचनाओ मे विभाजन के परिणाम और प्रभाव चित्रित है तो 'वह फिर नही आई', 'पिंजर', 'कुती के बेटे' जैसी रचनाओ मे विभाजन से प्रभावित नारी-जीवन के विश्लेषण का प्रयास है।

दूसरा वर्ग उन उपन्यासों का है, जिनमें भारत-विभाजन की प्रत्यक्ष चर्चा नही है। किन्तु ये उपन्यास उस हिन्दू-मुस्लिम तनाव को अभिव्यक्ति देते हैं, जो

विभाजन का कारण बनीं। साथ ही विभाजन पूर्व की मनःस्थिति का चित्र भी इनमे अंकित हुआ है। 'बयालीस' और 'भूले बिसरे चित्र' जैसी रचनाएँ इसी वर्ग की हैं।

इस वर्ग मे उन उपन्यासों को भी सम्मिलित किया जा सकता है जिनका मुख्य कथानक विभाजन पर आधारित नही है, फिर भी उनमें विभाजन की घटना को प्रमुख स्थान मिला हैं। इनमें विभाजन की समस्या के अनेक पक्षों पर विचार किया गया है। 'सीधी-सच्ची बातें', 'प्रश्न और मरीचिका', 'धर्मपुत्र', 'सत्ती मैया का चौरा', जैसे उपन्यास इसी वर्ग के हैं।

स्पष्ट है कि पहली श्रेणी के उपन्यास ही पूर्णतः भारत विभाजन की घटना से सम्बन्धित उपन्यास कहे जा सकते है। अतः इस शोध-प्रबन्ध मे इन उपन्यासों की चर्चा अधिक विस्तारपूर्वक की गयी है। किन्तु दूसरे वर्ग के उपन्यास भी किसी-न-किसी रूप मे विभाजन की घटना पर प्रकाश डालते है और उनके द्वारा लेखक का विभाजन सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है, इस कारण इन उपन्यासों की चर्चा भी इस शोध प्रबन्ध में की गयी है।

पहले वर्ग के उपन्यास

गुरुदत्त के उपन्यास :

गुरुदत्त उस वर्ग के लेखक हैं, जिन्होंने विभाजन को मुख्यतः राजनीति और धार्मिक समस्या स्वीकार किया है। ऐसे कथाकारो को राजनीतिक परिस्थितियों के तात्कालिक परिणामो ने ही अधिक आकर्षित किया हैं। विभाजन के राजनीतिक दाँव-पेंच पर ही उनका ध्यान केन्द्रित रहा है, मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन पर नही। इनके उपन्यासो मे प्रमुख राजनीतिक घटनाक्रम के विवरण हैं; विभाजन के समय के दंगे-फसाद, लूट-मार और मानव की पशुता के वर्णनात्मक चित्र प्रधान हैं। विभाजनकालीन परिस्थितियों से उत्पन्न सूक्ष्मातिसूक्ष्म संवेदनाओं के चित्रण का प्रयास इन रचनाओ में नही दीखता।

लेखक की विचारधारा :

गुरुदत्त प्राचीन संस्कृति एवं आर्यसमाज के विचारों से प्रभावित रहे हैं। प्रारम्भ में असहयोग आन्दोलन के समय गांधी जी के आह्वान पर उन्होंने प्राध्यापक पद से त्यागपत्र देकर चार वर्ष तक कांग्रेस द्वारा स्थापित नेशनल स्कूल के मुख्या-ध्यापक का पद भार ग्रहण कर अपनी सेवाएँ अर्पित की थीं। बाद में वे रूसी बोल्शेविक विचारधारा और विशृंखल जीवन व्यतीत करने वाले क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आये किन्तु क्रान्तिकारियों के महान् देश प्रम एव आत्मबलिदान की

भावना के बावजूद वे उनकी विदेशी विचारधारा के साथ समरस न हो सके। बाद में करीब सात वर्षों तक राजनीति से दूर रहकर वे राजनीति का अध्ययन करते रहे। हिन्दू महासभा की स्थापना के बाद उसके सिद्धान्तों ने उन्हें आकर्षित किया। इन्हीं दिनों साहित्य-सर्जन के प्रति भी उनकी रुचि जागृत हुई और सामयिक राजनीति की पीठिका पर उन्होने 1942 ई० में 'स्वाधीनता के पथ पर' तथा 1943 में 'पथिक' उपन्यासों की रचना की। इन उपन्यासों के माध्यम से उन्होंने जनता को आगाह किया कि मुस्लिम लीग के प्रति उदारवादी नीति अपना कर हम देश विभाजन की आधारशिला रख रहे है। किन्तु इस दृष्टिकोण को लेकर भी वे कांग्रेस के स्पष्ट विरोध में प्रस्तुत नहीं हुए।

गुरुदत्त के व्यक्तित्व के विकास को देखते हुए कहा जा सकता है कि आर्य-समाज के प्रभाव के कारण उनमें प्राचीन भारतीय संस्कारों और वातावरण के लिये गहरी आस्था है। वस्तुतः वे आर्यसमाज और हिन्दू राष्ट्रीयता की साहित्यिक देन है। उनकी कृतियों में प्रौढ विचारक का जो रूप देखने को मिलता है, वह भी हिन्दू राष्ट्रीयता के भावों से पूर्ण है। उनके लिये हिन्दू कोई सम्प्रदाय या पंथ नही, प्रत्युत इस भारत भू को जो मातृभूमि और पुण्यभूमि मानकर तदनुसार इसकी प्रगति के लिये प्रयत्नशील रहता है, वही हिन्दू है।[1] मुसलमानों को इस राष्ट्रीय भूमिका पर नही देख पाने के कारण ही उनके उपन्यासों में मुस्लिम पात्र अराष्ट्रीय चित्रित हुए है।

उनकी राजनीतिक विचारधारा को समझ लेने पर उनके उपन्यासों का अध्ययन सहज हो जाता है। उन्होंने 'पथिक', 'स्वराज्यदान', 'देश की हत्या', 'विश्वासघात' तथा 'दासता के नये रूप' में विभाजन की समग्र रूपरेखा प्रस्तुत की है। इन उपन्यासों मे कांग्रेस के हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के सिद्धान्त को लेकर लेखक जहाँ एक ओर कांग्रेस की आलोचना का प्रसंग निकाल लेता है, वही दूसरी ओर मुसलमानों को अराष्ट्रीय सिद्ध करते हुए उनके कृत्यों को अपनी विचारधारा की तुला पर तौलता चलता है। लेखक के ये बांट ऐसे हैं, जिन पर वे कभी ठीक-ठीक नहीं तुल पाते और वजन मे सर्वदा कम बैठते हैं।[2]

पथिक

'पथिक' में 1935 से 1940 तक की राजनीतिक एवं सामाजिक घटनाओं को प्रस्तुत करते हुए लेखक ने साम्प्रदायिक समस्याओं का अंकन किया है। कहानी

1. आज का साहित्य, वर्ष—1, अंक 4, पृ० 2.
2. हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन : ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श' रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1970, पृ० 392.

पथिक नामक एक ऐसे व्यक्ति को आधार बनाकर आगे बढ़ती है, जो देश के युवकों को संगठित कर विदेशी दासता से मुक्ति प्राप्ति हेतु संघर्षरत है। संघर्ष के दौरान उसकी भेंट सलीमा नाम की सुशिक्षिता, उत्साही युवती से होती है, जो उसके व्यक्तित्व और कार्यक्रमों से प्रभावित हो कार्यक्षेत्र में उसकी सहयोगिनी और बाद में जीवन संगिनी बन जाती है।

उपन्यास के प्रमुख चरित्र :

कथा का मुख्य केन्द्र पथिक ही है, जिसका चरित्र रहस्यमय है— इस अर्थ में कि उसका वास्तविक परिचय किसी को ज्ञात नहीं—'वह स्वयं भी अपने वास्तविक परिचय से अनभिज्ञ' है।[1] उपन्यास के अन्तिम भाग में लेखक स्पष्ट करता है कि उसका वास्तविक नाम मधुसूदन है, और क्रान्तिकारी दल से सम्बद्ध होने के कारण वह ब्रिटिश सरकार का अपराधी है। सरकार आज भी उसकी तलाश मे है। पथिक का लक्ष्य देश के हिन्दू-मुसलमानो मे सद्भाव की स्थापना कर स्वाधीनता प्राप्ति है। इसके लिये वह 'हिन्दुस्तानी युवक संघ' की स्थापना करता है जिसके सदस्य पूरे देश मे घूमकर अपने विचारों का प्रचार करेंगे जिससे लोगो को अपनी पराधीन अवस्था का परिचय मिले तथा इस बात का ज्ञान हो कि हिन्दू-मुसलमान इकट्ठे कैसे रह सकते हैं।[2] सलीमा, उसका भाई अकरम और विनोद जैसे विद्यार्थी पथिक के सहयोगी हैं। सलीमा अपनी इच्छा के विरुद्ध विवाह तय कर दिये जाने पर घर छोड़कर चली जाती है। अकरम भी अपने पिता के धर्म-सम्बन्धी संकुचित विचारों तथा अनुदारता से क्षुब्ध हो सलीमा का साथ देता है। अपने पिता तथा अनुदार मुसलमानों का रवैया देखकर सलीमा को 'हिन्दुस्तान मे माने जाने वाले इस्लाम से नफरत हो गई है, और टर्की मे माने जाने वाले इस्लाम को वह नही जानती। उसने वहाँ के लोगो के मजहब का देखा नहीं है।'[3] उसके मन में तो मातृभूमि को स्वतन्त्र देखने की उत्कट अभिलाषा है और इसी से वह पथिक जैसे देशभक्त, कर्मयोगी की ओर आकृष्ट होती है।

साम्प्रदायिक समस्या के विषय में लेखक का दृष्टिकोण :

प्रस्तुत उपन्यास में हिन्दू-मुस्लिम समस्या का राजनीतिक और कुछ हद तक सामाजिक पक्ष उभरकर सामने आया है। लेखक के इन राजनीतिक विचारों का मुख्य प्रवक्ता पथिक ही है। मिस्टर माथुर के साथ पथिक के वाद-विवाद में लेखक

---

1. पथिक—गुरुदत्त, प्रकाशन—विद्या मन्दिर लिमिटेड, नयी दिल्ली—1 पाँचवाँ संस्करण, सितम्बर 1972, पृ० 11.
2. वही, पृ० 297.
3. वही, पृ० 42^ 426

के ये राजनीतिक विचार सामने आते हैं। लेखक के मतानुसार अखण्ड भारत को विभक्त करने की भावना मुसलमानों के विस्तृत अधिकारों की माँग से उत्पन्न हुई तथा कांग्रेस की सहानुभूति और अंग्रेजों के प्रोत्साहन से उसकी पुष्टि हुई।[1] लेखक के विचारानुसार भारतीयो का ध्येय ब्रिटिश सरकार से मुक्त होना नही, प्रत्युत भारतवर्ष में भारतवासियो का राज्य स्थापित करना है। अंग्रेजी सरकार को हटाकर किसी अन्य जाति का अथवा अल्प संख्यक जाति का राज्य स्थापित करना ध्येय नही है। मुसलमान बहुत कम सख्या मे होते हुए भी अधिक सख्या वाली जाति पर राज्य करते रहे है। क्या ब्रिटिश सरकार को हटाकर पुनः उनके हाथ राज्य की बागडोर देना ध्येय है ?[2] पथिक मुस्लिम अधिकारो को प्रश्रय देने को ही विभाजन का मूल मानता है। उसके अनुसार हिन्दू-मुसलमान दोनो को एक ही देश के निवासी होने के कारण भाइयो की भाँति रहना उचित है। दोनों के अधिकार भी बराबर होने चाहिये। 'परन्तु मुसलमान तो अपने आपको ऐसा नही समझते। वे विशेष अधिकार माँगते है। वे अल्प संख्या में होने पर भी अधिक संख्या वालों से अधिक अधिकार चाहते है।'[3] उसके अनुसार "यदि इस समय हम पराधीन है और मुसलमान हमे हानि पहुँचा सकते है तो केवल हमारे सुसंगठित न होने के कारण। ···· यह तो अच्छा है कि हिन्दू और मुसलमान परस्पर मिल-जुलकर रहे। परन्तु यदि वे हिन्दुओं से मिलकर नही रहना चाहते तो क्या किया जाय ? स्वराज्य-प्राप्त तो करनी ही होगी, चाहे मुसलमान इसमे सहयोग दें और चाहे न दें।"[4] वह चाहता है कि स्वराज्य-प्राप्ति पर और स्वराज्य-प्राप्ति से पूर्व भी हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिये जिससे सब राजनैतिक अधिकार सबको समान रूप से मिले। 'देश के लोग वे हैं जो देश में देशवासियों के बराबर अधिकार प्राप्त कर संतुष्ट हो। वे लोग जो देश के किसी भी व्यक्ति अथवा मत वाले को अपने से छोटा अथवा कम अधिकार वाला समझते हैं अथवा बनाना चाहते है, वे देशवासियो के शत्रु समझे जाने चाहिये।'[5] पथिक देशवासियो को हिन्दू और मुसलमान कोटियों मे बाँटना नही चाहता। बल्कि देशी और विदेशियो की कोटि बनाना चाहता है। 'देशी वे है जो इस देश की उन्नति को प्रथम स्थान देते हैं, जो सब देशवासियो के बराबर होकर रहना चाहते है। विदेशी वे हैं जो देश से ऊँचो कोई और वस्तु मानते है, और देशवासियो से बढकर अधिकार चाहते है।'[6]

1. पथिक : गुरुदत्त, पृ० 116.
2. वही, पृ० 116–117.
3. वही, पृ० 117.
4. वही, पृ० 118
5. वही, पृ० 118.
6. वही, पृ० 118.

पथिक चाहता है कि हिन्दुओं और मुसलमानों के सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्ध मजहब के आधार पर न हों। उसके अनुसार 'हिन्दुओं में यह बात कुछ हद तक मौजूद है। कई घरों में ऐसा है कि पति मांस खाता है और पत्नी नहीं खाती। पति आर्यसमाजी है तो पत्नी देवी-देवताओं की पूजा करती है।''' मैं इस सिद्धान्त को अधिक विस्तृत करना चाहता हूँ। मैं चाहता हूं कि हिन्दुस्तानी परिवार में यह भी हो सके, कि पिता मुसलमान है तो पुत्र शिव का उपासक हो सके; पिता अगर वैष्णव है तो लड़की मुसलमान हो सके। इस बात मे ऐसे ही कोई आपत्ति न की जाय जैसे एक हिन्दू परिवार में भिन्न-भिन्न देवी-देवताओ की पूजा में आपत्ति नहीं की जाती।'[1] वह जानता है कि व्यवहार में ऐसा होना कठिन है किन्तु वह मानता है कि ठीक तरीका यही है। इसके मुकाबिले मे दूसरा मार्ग हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बँटवारे का है। लेकिन 'यह झगड़े को और भी लम्बा करने वाला मार्ग है। देश के दो भाग हो जाने पर भी शान्ति नही होगी।'[2] पथिक सम्प्रदायो को राजनीति का आधार बनाने को तैयार नहीं है। वह चाहता है कि प्रत्येक बात मे योग्यता को आधार बनाया जाय।[3] लेकिन देश का मौजूदा वातावरण और मुस्लिम लीग का जहरीला प्रचार मुसलमानों के मन में यह बात बैठने नही देते। अकरम जैसे प्रगतिशील विचारो के युवक मजहब को अपना जाती मसला समझने हैं, वे सियासियात से इसका वास्ता नही मानते लेकिन उसके पिता नवाब साहब उसके विचारो के पक्के विरोधी हैं। उन्हे लगता है कि उनका बेटा हिन्दू हो गया है। क्योंकि "एक हिन्दू का मजहब उसकी अपनी चीज है।''''''मुसलमान की औलाद तो मुसलमान ही होगी। मगर हिन्दू की औलाद कोई भी मजहब अख्तियार कर सकती है।'[4] क्योंकि 'इसलाम जहाँ एक मजहब है, वहाँ एक सियासी जमात भी है।''''''एक सियासी जमात अपनी ताकत कम होती नही देख सकती।'[5] उनके अनुसार तब्लीग (मुसलमान बनाना) मुसलमानो के हाथ में एक सियासी हथियार है।[6] वे समझते हैं कि कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है और मुस्लिम लीग मुसलमानों की। मगर सलीमा का विचार है कि "मुस्लिम लीग भी एक सियासी जमात है, मगर इसकी सियासियात मुल्क के फायदे के लिए नहीं, बल्कि यहाँ की हुकमरान कौम के फायदे के लिए है।[7]

---

1. पथिक : गुरुदत्त, पृ० 333.
2. वही, पृ० 334
3. वही, पृ० 334.
4. वही, पृ० 381.
5. वही, पृ० 381.
6 वही, पृ० 382.
7. वही, पृ० 338.

स्वराज्य दान :

गुरुदत्त का उपन्यास 'स्वराज्य दान' देश की राजनीतिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि पर लिखे गये उपन्यासो की अगली कड़ी है, जिसमे 1942 से 1947 तक के भारतवर्ष की पृष्ठभूमि है। इस समय चल रहे विश्व-व्यापी महायुद्ध के कारण भारतवर्ष मे भी सशस्त्र क्रान्ति का विचार उत्पन्न हुआ। भारतवर्ष का प्रत्येक स्त्री-पुरुष वातावरण की प्रेरणा से प्रेरित, जिस-किस प्रकार से भी हो, स्वतन्त्र होने के स्वप्न देखता, योजनाएँ बनाता और फल के पाने की आशा का सुख-स्वादन करता था।

यह पुस्तक उन्ही स्वप्नो, आयोजनों तथा हवाई किलों के बनाने का परिणाम है। क्या होना था और क्या हो गया के चित्रण करने का यत्न किया गया है, परन्तु विचार-विभिन्नता का ध्यान रखते हुए कोई निर्णयात्मक निष्कर्ष नही निकाला गया।[1]

'पथिक' की भाँति 'स्वराज्य-दान' की कथा भी नरेन्द्र जैसे साहसी युवकों को आधार बनाकर आगे बढती है, जिनका काग्रेस के कार्यक्रमों मे विश्वास नही है, और जो देश के युवको को सगठित कर विप्लव द्वारा देश को स्वतन्त्र करने मे विश्वास रखते हैं। उसके प्रयास सफल नहीं हो पाते और एक 'अस्त-व्यस्त अस्पष्ट भविष्य की प्रतीति की झलक मात्र में पुस्तक की इतिश्री'[2] होती है।

साम्प्रदायिकता की समस्या के सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण :

इस उपन्यास मे हिन्दू-मुस्लिम समस्या, दोनो सम्प्रदायो के विषय मे लेखक की अपनी मान्यताएँ और विभाजन के कारणों के सम्बन्ध मे उसके विचार उभरकर सामने आये हैं। व्यासदेव के विचारों के रूप मे दोनो सम्प्रदायों के विषय मे लेखक का अपना दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है। व्यासदेव के विचारानुसार संसार में हिन्दू-समाज के अतिरिक्त और कोई समाज श्रेष्ठ नहीं हो सकता। क्योंकि हिन्दू समाज ही एक समाज है जो यह मानता है कि मनुष्य अपने इस जन्म के कर्मों का फल भोगने के लिए पुनः जन्म लेता है। इससे जितना नियन्त्रण अपने सदस्यो पर यह समाज रख सकता है और कोई समाज नही रख सकता।[3] व्यासदेवजी की मुसलमानों के विषय मे कुछ निश्चित धारणाएँ हैं, वह यह कि कोई भी मुसलमान व्यक्तिगत रूप मे भले ही श्रेष्ठ आचार और व्यवहार वाला हो 'परन्तु उनके समाज की बनावट ऐसी है कि उसमें श्रेष्ठता रह ही नही सकती। इससे मुसलमान सामूहिक

---

1. स्वराज्य दान—निवेदन, पृ० 6.
2. वही, पृ० 7.
3. वही, पृ० 426-427.

रूप में श्रेष्ठ आचार-व्यवहार नहीं रख सकते।'[1] इसके विपरीत 'हिन्दू व्यक्तिगत रूप मे चाहे कितने ही बुरे हो, परन्तु सामूहिक रूप में हिन्दू समाज सर्वश्रेष्ठ है। हम चाहते हैं कि ऐसे समाज का राज्य स्थापित करना ही आपका लक्ष्य होना चाहिए।'[2] चूँकि हिन्दू समाज ही शुभ विचारों और श्रेष्ठ संस्कृति का वाहक है; इसाई, यहूदी और मुसलमान इस संस्कृति के विरोधी हैं; इस कारण व्यासदेव की दृष्टि मे उनको भारतवर्ष के राज्य-कार्य में सम्मिलित करने से यहाँ सुख और शान्ति स्थापित नही होगी। फिर वे भारत मे हिन्दू राज्य की स्थापना के इच्छुक हैं, जिसमें मुसलमानो को कोई दायित्व पूर्ण पद नहीं सौंपा जायेगा और न ही वे राज्य-कार्य मे भाग ले सकेंगे।[3] उनका पक्का विश्वास है कि '... आधी शताब्दी के हिन्दू राज्य से भारतवर्ष मे से मुसलमानी संस्कृति समूल नष्ट हो जायगी। इन लोगों की सन्तान तो होगी, परन्तु इस्लाम नहीं रहेगा।'[4] उनका विश्वास है कि भारतीय मुसलमान भारत में रहते हुए भी इसे अपना देश नही मानते।[5] साथ ही जैसा व्यवहार उन्होंने देश में रहने वाले हिन्दुओं से किया है, उससे उनका इस देश पर राज्य करने का अधिकार नहीं रह जाता।[6] फिर 'राज्य करना योग्य और चरित्रवान लोगों का अधिकार है। मुसलमानों को जीवन और सुखमय जीवन का अधिकार तो हो सकता है, परन्तु राज्य करने का अधिकार तो अधिकारी सिद्ध होने पर ही होगा।'[7]

विभाजन के कारणो के सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण :

लेखक ने इस उपन्यास मे अपने दृष्टिकोण से विभाजन के कारणो पर प्रकाश डाला है। शंकर पण्डित के मतानुसार 'मुसलमानो की शक्ति इस समय में हिन्दुओं से अधिक है, यद्यपि संख्या में वे कम हैं। कारण यह है कि ब्रिटिश सरकार मुसलमानो को पिछले चालीस वर्ष से अधिक और शक्तिशाली बनाने का यत्न करती

1. पथिक—गुरुदत्त, पृ० 426.
2. वही, पृ० 426.
3. वही, पृ० 430.
4. वही, पृ० 431.
5. भारतवर्ष में भाँति-भाँति के पक्षी बसेरा किये हुए हैं। कुछ तो भारतवर्ष मे बसते हुए भी अपने को इससे पृथक् समझते हैं। अधिकांश मुसलमान इसी श्रेणी में आते हैं।—वही, पृ० 302.
6. वही, पृ० 302.
7. वही, पृ० 303.

रही है। ब्रिटिश सरकार की अपनी शक्ति भी मुसलमानों के पक्ष में रहती है।'[1] हिन्दू-मुस्लिम समस्या के विषय में नरेन्द्र का मत है कि समय बीतने तथा देश की परिस्थिति बदलने के कारण हिन्दू-मुसलमानों का सामाजिक भेदभाव बहुत कुछ मिट गया है। किन्तु हिन्दू-मुस्लिम झगडे के नाम पर अब राजनैतिक झगड़ा चल रहा है। मुस्लिम लीग राजनैतिक अधिकारो के लिये झगड़ा करती है। मुस्लिम लीग ने यह कभी नही कहा कि उन्हे कुरान पढ़ने की स्वीकृति दी जाय अथवा नमाज पढ़ने के समय दफ्तर बन्द कर दिये जायें, या इसी प्रकार की सुविधायें दी जायें। उनकी माँगें तो राजनीतिक अधिकारों के विषय में है। वे अपना एक पृथक देश चाहते हैं। वे अपने लिए अधिक वोट माँगते हैं। वे अपने लिये नौकरियाँ चाहते है। इससे मुस्लिम लीग को मजहबी श्रेणी नही कहा जा सकता। इसे राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकारों के पाने के लिये एक संस्था मानना चाहिये।...एक राजनैतिक संस्था जो न्याय और युक्तिसंगत व्यवहार तथा विचार नही रखती, जो इतनी स्वार्थान्ध है कि केवल अपने ही लाभ की बात सोच सकती है, उसकी मति को ठीक करने के लिये राजनीति साम, दाम, दंड और भेद के उपाय बताती है। इनका प्रयोग होना चाहिए।'[2] शंकर पण्डित के अनुसार मुस्लिम लीग वाले यह कहते हैं कि हिन्दुस्तान मे यदि प्रजातन्त्र राज्य हो गया तो वास्तव में हिन्दुओं का राज्य हो जाएगा। इस कारण वे चाहते है कि पहले तो हिन्दुस्तान का एक भाग पूर्ण रूप मे मुसलमानों के हाथ में हो जाए, पश्चात् या तो धमकी देकर हिन्दू भाग को डराकर मुसलमानों के अधीन रखेंगे, नही तो हिन्दू भाग को विजय कर लेगे।[3]

हिन्दू-मुस्लिम समस्या के सम्बन्ध में लेखक का निष्कर्ष यही है कि जो मुसलमान हिन्दुस्तान के एक टुकड़े को पृथक् करना चाहते हैं और वहाँ मज़हबी हुकूमत बनाना चाहते है, वे उन लोगों के मित्र नही हो सकते, जो देश को एक सूत्र मे बंधा हुआ देखना चाहते है। 'अस्थायी रूप में, ऊपर से मित्रता का भाव बनाया भी जा सकता है, परन्तु एक-न-एक दिन तो दोनो पक्ष के लोगो मे युद्ध हो जाना निश्चित है। उस समय यह मित्रता का दिखावा टूट जायगा।'[4]

कॉग्रेस के प्रति आलोचनात्मक रुख :

उपन्यास के अन्तिम भाग मे कांग्रेस के प्रति लेखक का आलोचनात्मक स्वर

1. स्वराज्य दान : गुरुदत्त, पृ० 286.
2. वही, पृ० 223.
3. वही, पृ० 287.
4 वही, पृ० 394

अत्यन्त मुखर हो उठा है। उनके अनुसार कांग्रेस ने हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों के प्रति अधिक सहानुभूति दिखाई। 'कांग्रेस के प्रतिनिधियो की अन्तर्कालीन सरकार बन जाने पर भी वह बंगाल में दुर्घटनाओं को न तो होने से रोक सकी और न ही बंगाल सरकार के अपराध का दंड बंगाल सरकार को द सकी। बंगाल सरकार ने इन दोनों स्थानो पर हिन्दुओं पर वे अत्याचार, जो महमूद गजनवी तथा मजहबी जुनून वाले अन्य मुसलमानो ने कभी किये थे, होने दिये और अपराधियों को दंड नही दिया।'[1]

उपन्यास का अन्त भारत विभाजन के विवरणात्मक चित्र के साथ होता है 'अंग्रेज राजनीतिज्ञों की योजना सफल हुई। हिन्दुस्तान को स्वराज्य दिया गया, परन्तु उसके विभाजन के पश्चात्। फलस्वरूप पश्चिमी पंजाब और सीमा प्रान्त के साठ लाख हिन्दुओं को अपने घर से धक्के खा-खाकर बाहर होना पड़ा। लाखो मारे गये। सहस्रों स्त्रियों का अपहरण किया गया और कई स्थानों पर तो ऐसा पैशाचिक नृत्य खेला गया कि संसार भर की देवी प्रवृत्तियां दांतों-तले अंगुली दबाने लगी।''[2]

देश की हत्या :

'देश की हत्या' की कथा चेतनानन्द नाम के ऐसे युवक को आधार बना कर चलती है, जो पहले कांग्रेसी था, किन्तु अब उसका कांग्रेस की कार्यपद्धति से विश्वास उठ गया है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ की विचारधारा उसे प्रभावित करने लगी है। डायरेक्ट ऐक्शन के दिनों मे कलकत्ते की अवस्था देखकर चेतनानन्द की विचार-धारा में पूर्ण परिवर्तन हो गया है। अब पंजाब में हिन्दुओं को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये वह सिविल वार की तैयारी का परामर्श देता है। एक उप-समिति बनाकर वह पंजाब के उन इलाको से हिन्दुओ को, जहाँ उनकी संख्या कम है, निकालकर सुरक्षित इलाको में ले जाने की योजना बनाता है। किन्तु गिरफ्तार कर लिये जाने के कारण उसकी योजना आगे नही चल पाती। कोई अपराध प्रमाणित न होने के कारण उसे छोड़ दिया जाता है। धीरे-धीरे पूरे पंजाब मे गृहयुद्ध आरम्भ हो जाता है। कथाक्रम हिन्दू-मुस्लिम दंगो और चेतनानन्द तथा उसके साथियो द्वारा हिन्दुओं की सुरक्षा के प्रयास को लेकर आगे बढ़ता है और उसका अन्त गांधीजी की हत्या के साथ होता है। कथा के अन्त में पुलिस चेतना-नन्द और रामचन्द्र को उस समय पकड़ ले जाती है, जब उनका विवाह हो रहा था। रामचन्द्र महेश बनकर पुलिस के साथ चला जाता है। रेखा के पिता के

---

1 दान : गुरुदत्त, पृ० 458

2 वही, पृ० 459

अनुसार "सरकार को तो महात्मा जी की हत्या के प्रतिकार में बलि चाहिए। महेश्वर और रामचन्द्र मे अन्तर नहीं पड़ता।"[1] इस प्रकार सरकार की कार्यव्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए उपन्यास की समाप्ति होती है।

कांग्रेस तथा गाँधीजी के विरोध का स्वर :

उपन्यास का सम्पूर्ण कथानक राष्ट्र-विभाजन की पृष्ठभूमि पर गाँधीवाद और कांग्रेस की नीतियो का विरोध करता चलता है। लेखक की मान्यता है कि गाँधीजी के हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रयास भ्रामक था, क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम बिल्कुल भिन्न जातियाँ है।[2] चेतनानन्द ऐक्य-स्थापन के लिये प्रयासरत समाचारपत्रों की आलोचना करते हुए कहता है, "इस समय देश की हत्या करने का श्रेय इन समाचार-पत्रो का ही मिलेगा। जहाँ मुसलमान मारें, वह नही छप सकता; जहाँ हिन्दू मारें उसे छाप कर हिन्दुओ को गाली देना अपना कर्त्तव्य मानते हैं।"[3] विभाजन के समय देश की दशा तथा साम्प्रदायिक दंगो के लिये वह कांग्रेस को ही उत्तरदायी मानता है।[4] मुस्लिम लीग की भाँति लेखक भी कांग्रेस को हिन्दुओ की संस्था मानने लगा है। चेतनानन्द को इस बात का पाश्चाताप है कि "मैंने पिछले निर्वाचनो के समय स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर और व्याख्यान देकर कांग्रेस की धूम मचा दी थी। कांग्रेस की विजय हुई और इस विजय से यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि कांग्रेस हिन्दुओ की प्रतिनिधि है। और अब वह निस्संकोच हिन्दुओ का अहित कर रही है।"[5] वह गांधीजी को हिन्दुओ का सबसे बड़ा विरोधी मानता है।[6] कांग्रेस द्वारा सिद्धान्तरूप मे विभाजन की बात मान लिये जाने पर चेतनानन्द की प्रतिक्रिया है "मै समझता हूँ कि आज देश की हत्या हो गई है। सिद्धान्त रूप मे हिन्दू और मुसलमानो के लिए पृथक्-पृथक् देश और राज्य का होना मान लिया गया है। इस प्रकार सिद्धान्त रूप में यह भी मान लिया गया है कि अल्प-सख्यक जाति के लिए बहु-संख्यक जाति का हित हनन किया जा सकता

---

1. देश की हत्या—गुरुदत्त : प्रकाशक—भारती साहित्य सदन, दिल्ली, 1953, पृ० 338.
2. "मुसलमान और हिन्दू दो कौमें हैं। इनके अलहदा-अलहदा मुल्क चाहिए। कांग्रेस के लोग इस फरक को नही मानते। वही, पृ० 42-43.
3. वही, पृ० 14-15.
4. वही, पृ० 46-47.
5. वही, पृ० 65.
6. "अहिंसा भी हिन्दुओं के विरुद्ध और हिंसा भी हिन्दुओं के विरुद्ध, यही गाँधीजी का अहिंसावाद है। वही, पृ० 153

है।"[1] "...बात इतनी बिगड़ गई है कि अब सदियों के लिए भारत का सर्वोत्तम भाग, और वह भाग, जो भारत की सुरक्षा के लिए परमावश्यक है, भारत से बाहर हो जाएगा। बंगाल और आसाम की रक्षा कठिन हो जाएगी और बर्मा भारत से भौगोलिक विचार से पृथक् हो जाएगा।"[2]

लेखक का साम्प्रदायिक दृष्टिकोण :

अपनी विचारधारा की पुष्टि हेतु लेखक ने विभाजन के समय पंजाब एवं बंगाल प्रदेशो की राजनीतिक स्थिति की पृष्ठभूमि में कांग्रेस की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति और लीग के नेतृत्व मे मुसलमानों के संगठित षड्यंत्र एवं अत्याचारों का विशद चित्रण किया है। पंजाब के संयुक्त मंत्रिमण्डल की दयनीय स्थिति के चित्र ऐतिहासिक यथार्थ के निकट हैं। मुस्लिम साम्प्रदायिकता का व्यापक अंकन करते समय हिन्दुओं के हिंसात्मक कार्यों को प्रतिरोधात्मक निरूपित किया गया है। इस सम्बन्ध मे चेतनानन्द का स्पष्टीकरण इस प्रकार है, "यहाँ मे मुसलमानों को निकालने का यत्न किया गया है। वहाँ निकलते हुओ की हत्या की गई है। मैं दोनों में भारी अन्तर समझता हूँ। एक केवल राजनीतिक बात है, दूसरी साम्प्रदायिक। एक में उन लोगों को निकालने का प्रयास है, जो इस देश के हितैच्छु नहीं माने जाते, दूसरे में अपनी इच्छा से देश छोड़कर जाते हुओं की हत्या है।"[3] सभव है कुछ पाठक इस दलील को स्वीकार भी कर लें, किन्तु यह कलाकार के तटस्थ दृष्टिकोण की सूचक किसी प्रकार नही है। कश्मीर पर पाकिस्तान के सहयोग से हुए आक्रमण का चित्र भी इस उपन्यास में प्रस्तुत है। विस्थापितों की असहायावस्था और उनकी समस्याओं के विवरणात्मक चित्र भी है। उपन्यास के अन्तिम अंश में गांधी हत्याकाण्ड तथा सरकार द्वारा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विरुद्ध की गयी दमनात्मक कार्यवाहियो का चित्रण है। लेखक ने गांधी जी की हत्या को उनकी मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति तथा उससे उत्पन्न विक्षोभ की प्रतिक्रिया के रूप में देखा है। इस हत्या को लेखक की सहानुभूति मिली है। राधा के शब्द लेखक की इस विचारधारा के प्रतिनिधि हैं"......पाकिस्तान अभी एक सुकोमल पौधा है। इसकी जड़ को पानी देने वालों को रोका जाये तो संभव है कि जलाभाव के कारण वह कोमल पौधा सूखकर पेड़ न बन सके......पाकिस्तान के सबसे बड़े पोषक महात्मा गांधी हैं और बड़े-बड़े विद्वान् लोग उनको समझा-समझाकर हार गये हैं......यहाँ तक पहुँच मैं इस परिणाम पर पहुँची हूँ कि समझाने के अतिरिक्त अब कोई और उपाय करना चाहिये।"[4] यह

1. देश की हत्या : गुरुदत्त, पृ० 158.
2. वही, पृ० 159.
3. वही, पृ० 273
4. वही, पृ० 260

उपाय निश्चय ही गांधी जी की हत्या का है "आज हिन्दू समाज में मृतकों की क्रिया-कर्म करने वाले बहुत मिलते हैं। महात्मा गाधी भी घावों पर मरहम लगाने वाले बन घूम रहे हैं। पर मैं तो घाव करने वाले को पृथ्वी पर से मिटा देना चाहती हूँ।"[1] चेतनानन्द समझता है कि महात्मा जी को हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर विचार करना छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वे आज तक इस झगडे की गहराई तक नही पहुँच सके।[2] चेतनानन्द भी हत्या द्वारा गाधी जी को चुप करा देने की ओर संकेत करता है "मैं समझता हूँ कि पूर्व इसके कि भारत मे और पाकिस्तान तथा भारत के सम्बन्ध में शान्ति स्थापित हो सके, महात्माजी तथा उन्ही की नीति का अवलम्बन करने वालों को इस विषय मे चुप रहने के लिए विवश करना पड़ेगा......प्रकृति को यदि भारत का तथा हिन्दू समाज का हित करना है, तो वह महात्मा गाधी को चुप करा देगी।[3]" लेखक ने संकेत से गाधी जी की तुलना हिटलर और मुसोलिनी जैसे ताना-शाहों से की है।[4] गांधी जी की हत्या को आतुर भैयाजी को यह जानकर दुःख होता है कि किसी दूसरे व्यक्ति ने गांधी जी की हत्या कर दी और वह एक महान् पदवी पाने से वंचित रह गया। इतना ही नही, वह हत्यारे को गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेजबहादुर आदि महापुरुषों की श्रेणी मे परिगणित करता है, जो धर्म और न्याय की रक्षा हेतु शहीद हुए। एक ओर वह हत्याकाड को औचित्यपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास करता है, तो दूसरी ओर संघ के विरुद्ध की गयी शासन की कार्यवाई को कांग्रेसी और साम्यवादी षड्यंत्र बतलाता है।[5] कांग्रेसी नीति एवं प्रशासन की कटु आलोचना तथा गाधी जी की अहिंसा पर व्यंग्य का स्वर उपन्यास में अनेक स्थलो पर मिलता है।[6]

वस्तुतः गुरुदत्त का झुकाव हिन्दू संस्कृति के प्रति इतना गहरा है कि उसके मार्ग मे आने वाले प्रत्येक अवरोध की भर्त्सना करने से वे नहीं चूकते। कांग्रेस के सुधारवादी कार्यों को युगानुरूप होने पर भी वे इसीलिए स्वीकार नही कर पाये है।

दीन-दुनिया :

'दीन दुनिया' उपन्यास में उपन्यासकार गुरुदत्त ने एक ऐसे मुस्लिम परिवार को कथा का आधार बनाया है, जो पाकिस्तान बनने के बाद बड़ी आशाएँ लेकर पाकिस्तान जाता है, किन्तु परिस्थितियो के चक्र मे पड़कर उन्हें एक-एक कर भारत लौटना पडता है। परिवार के कुछ सदस्य लौटने के प्रयास में मारे भी जाते है।

1. देश की हत्या : गुरुदत्त, पृ० 261.
2. वही, पृ० 274.
3. वही, पृ० 274.
4. वही, पृ० 309.
5. वही, पृ० 333.
6. वही, पृ० 181-182.

अब्दुल करीम, जिसका विलायती कपड़ों का व्यापार है, परिवार के कुछ सदस्यों के दबाव पर पाकिस्तान जाने को तैयार हो जाता है। उसकी पत्नी रुख्साना और छोटी पुत्री मेहर किसी भी मूल्य पर पाकिस्तान नहीं जाना चाहती। बड़ा पुत्र फखरुद्दीन और उसकी पत्नी आरजू पिता से मिलने वाली सम्पत्ति के लोभ मे कराची जाने को तैयार हो जाते है। यही लोभ दूसरी लड़की फातिमा को भी कराची जाने को विवश करता है। मेहर एक हिन्दू युवक राजन से विवाह करना चाहती है और पाकिस्तान न जाने की इच्छा का यह भी एक कारण है। अब्दुल करीम अपनी प्रेयसी रफीकन के साथ कराची जाता है और वहाँ अपने जायदाद के अदला-बदली की व्यवस्था कर लेता है। बाद में रुख्साना और मेहर भी कराची जाने को तैयार हो जाती हैं, किन्तु हवाई अड्डे पर वे दोनों ही चालाकी से रुक जाती हैं, बाकी सदस्य कराची चले जाते हैं। कराची पहुँचने के बाद धीरे-धीरे उन्हें अपनी भूल का अनुभव होता है और भारत छोड़ने के अपने निश्चय पर पश्चाताप भी। अब वे भारत लौटना चाहते हैं, लेकिन यह भी उनके लिये आसान नहीं रहा। बड़ी कठिनाइयों के बाद कुछ सदस्य भारत लौटते हैं; कुछ रास्ते में ही मारे जाते हैं।

प्रमुख चरित्र :

उपन्यास का केन्द्र एक मुस्लिम परिवार है। परिवार का मुखिया अब्दुल करीम अपना वतन छोड़कर पाकिस्तान नहीं जाना चाहता, क्योंकि "यहाँ इज्जत, आजादी और फारिगुलबाली हासिल है।"[1] "यहाँ तुम जिसको चाहो गाली देते हो, क्या वहाँ भी यह कर सकोगे? बताओ, क्या मैं कह सकूँगा कि पाकिस्तान के सदर सुअर का गोश्त खाते हैं?"[2] किन्तु बाद में दूसरी पत्नी रफीकन की मंत्रणा से वह कराची जाने को तैयार हो जाता है। अब्दुल करीम की पत्नी रुख्साना भी अपना वतन नहीं छोड़ना चाहती, क्योंकि उसे "……हिन्दुस्तान से मुहब्बत है। बचपन से ही गाती आ रही हूँ—'मजहब नहीं सिखाता आपस मे बैर रखना'।"[3] इस पर भी वह विवश है, क्योंकि "……एक औरत मजबूर है अपने खाविन्द का दामन पकड़ रखने में।"[4] अब्दुल करीम का छोटा लड़का बदरुद्दीन शुरू से ही पाकिस्तान का हिमायती है। उसका विचार है कि "जिस मुल्क पर गैर-मजहब वालों की हुकूमत हो वहाँ दीनदारों को रहना वाजिब नहीं।"[5] कराची पहुँचकर वह ऐसी तनजीम बनाता है

1. दीन-दुनिया—गुरुदत्त, प्र० पंजाबी पुस्तक भण्डार, दिल्ली, प्रथम संस्करण जून 1974, पृ० 6.
2. वही, पृ० 6.
3. वही, पृ० 11.
4. वही, पृ० 11.
5. वही, पृ० 5–6.

जो सुलह्-सफाई से यहाँ से हिन्दुओं को निकाल हिन्दुस्तान में भेज दे और उनकी जायदाद पर आराम से कब्जा कर मुसलमानों में बाँट दें।[1] किन्तु बाद में वह इस झगड़े से अलग हो जाता है क्योंकि वह "......इसे एक मजलहबी (सोशल) काम समझकर इसमें शामिल हुआ था। मगर इसने तो कुछ और ही सूरत अख्तयार कर ली है। यह न दीन का काम रहा है और न ही दुनियाँ का। यह जायदादों को लूटना और मकानों को फूँकना तो इक्तसादी काम भी नहीं हो सकता। न ही यह इस्लाम की तबलीग का काम है।"[2] बाद में निर्मला से विवाह कर बदर शान्तिपूर्वक जीवन बिताना चाहता है किन्तु हमीद जैसे लोग उसे चैन से नहीं रहने देते। अन्त में पाकिस्तान जाने के अपने निर्णय पर पश्चाताप करते हुए उसे भारत लौटना पड़ता है, जहाँ वह छद्म हिन्दू नाम रखकर राजन की सहायता से अपनी माँ रुखसाना और बहन मेहर को मुसीबतों से छुटकारा दिलाता है।

उपन्यास की रचना का उद्देश्य :

इस उपन्यास में लेखक का दृष्टिकोण विभाजन की सारहीनता को प्रमाणित करना है। एक मुस्लिम परिवार के कराची जाने, वहाँ उसको मुसीबतों तथा भारत लौटने के क्रम मे आई कठिनाइयों के वर्णन द्वारा उसने अपने इसी दृष्टिकोण को पुष्ट किया है। लेखक के मत में विभाजन एक पूर्णतः राजनीतिक घटना थी, जिसका साधारण जनता की इच्छा-अनिच्छा से कोई ताल्लुक नहीं था।[3] वस्तुतः उपन्यासकार गुरुदत्त की अपनी विशेष विचारधारा है और उस विचारधारा के प्रति आग्रह के कारण ही वह वैसी तटस्थ और संवेदनशील रचना नहीं दे पाते; जैसी रचना की उम्मीद ऐसे नाजुक विषय पर कलम उठाने वाले रचनाकार से की जा सकती है। उपन्यास के उन अंशो से, जहाँ वह पात्रों के माध्यम से कथाक्रम आगे बढ़ाने के स्थान पर स्वयं ही घटनाक्रम के विवरण देने लगता है, उसके दृष्टिकोण को समझने मे मदद मिल सकती है।[4]

---

1. दीन-दुनिया : गुरुदत्त, पृ० 54.
2. वही, पृ० 75.
3. यह पाकिस्तान किसी नेक मजहबी बिना पर बना मुल्क नहीं है। इसकी बिना है कुछ लीडरों की 'ऐम्बीशन' जो हिन्दुस्तान में पूरी नहीं हो सकती थी। मजहबी बात तो आम लोगों को अपने पीछे लगाने के लिये पैदा की गयी हैं। वही, पृ० 115.
4. कराची और सिन्ध के दूसरे नगरो में हिन्दुओं को पाकिस्तान से निकालने का आयोजन हुआ तो वहाँ की सरकार चुप रही। उद्देश्य स्पष्ट था कि जितने हिन्दू पाकिस्तान मे कम होंगे, उतने ही मुसलमान अधिक बस सकेंगे और उनकी उन्नति के मार्ग मे बाधा कम होगी।—दीन दुनिया : गुरुदत्त, पृ० 90-91

उपन्यास के चरित्रों के विषय में भी लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट है। चरित्र भी लेखक के उद्देश्यपूर्ति के साधन मात्र हैं। चूँकि लेखक का उद्देश्य विभाजन की निरर्थकता को प्रमाणित करना है, उपन्यास के प्रायः सभी पात्र पाकिस्तान जाने के अपने निर्णय पर पाश्चाताप करते नजर आते हैं।

विभाजन से उत्पन्न परिस्थितियों का चित्रण :

लेखक ने विभाजन से उत्पन्न परिस्थितियों का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। विभाजन से मौकापरस्त लोगो की बन आई है। अब्दुल करीम के सारे खिदमतगार पाकिस्तान जा रहे हैं, फौरन। "वहाँ से जो हिन्दू निकाले जा रहे है उनकी जायदाद पर कब्जा जमाने के लिये⋯"[1] बदरुद्दीन जो पाकिस्तान जाने का प्रबल समर्थक है, कराची पहुँचते ही ऐसी तनजीम बनाना शुरू कर देता है जो सुलह-सफाई से हिन्दुओ को हिन्दुस्तान भेज दें और उनकी जायदाद पर आराम से कब्जा कर ले।[2] बदरुद्दीन की तनजीम ने तय किया है कि 'पहले हिन्दुओं की दुकानो और मकानों में भारत से आये मुसलमानों को बिठा दिया जाये।'[3] किन्तु यह योजना सफल नहीं हो पाती। क्योंकि पहले तो बदरुद्दीन के खिदमतगार ही लूट मचाना शुरू कर देते हैं, बाद मे कराची के अन्य बाशिन्दे भी उस लूट में शामिल हो जाते हैं। निकाले जाने वाले लोगों द्वारा विरोध किये जाने पर मकानों और दुकानों मे आग लगा दी जाती है। बदरुद्दीन की इस तनजीम में पुलिस और अधिकारी भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में शामिल हैं।[4]

विभाजन के कारण बदलती नैतिक मान्यताओं का चित्रण :

विभाजन से उत्पन्न नई परिस्थितियों ने सारी नैतिक और सामाजिक मान्यताएँ बदल डाली हैं। इसी कारण हमीद जैसी मामूली हैसियत वाले लोग अब महत्वपूर्ण हस्ती बन गये है। वह हिन्दुस्तान से आये गरीब मोहताज मुसलमानों की जवान औरतों और लड़कियों को सरकारी अफसरों के घर पहुँचाने की दलाली करता है। इस वजह से अफसर उसकी बात सुनते हैं। वे औरतें हमीद को कमीशन देती हैं। उसने एक भारत गये हिन्दू के मकान पर कब्जा कर लिया है। इतना ही नहीं उसके बैंक में पन्द्रह-बीस हजार से ऊपर रुपया जमा हो गया है। फखरुद्दीन के यह कहने पर कि वह इन बदनसीब मुसलमानों की बहू-बेटियों को बुरी राह पर डाल रहा

1. दीन-दुनिया : गुरुदत्त, पृ० 9.
2. वही, पृ० 57.
3. वही, पृ० 65.
4. वही, पृ० 75-76

है, वह उत्तर देता है "नहीं भाई जान! यह मैं नही डाल रहा। हाँ, उनकी कुछ पैदा करने मे मदद कर रहा हूँ। यह काम तो वे मेरे बिना भी कर रही हैं। मैं यह काम नहीं करूँगा तो दूसरा करने लगेगा"[1] वस्तुतः आजादी की लहर ने यहाँ भी न्यूयार्क और पेरिस के हालात पैदा करने शुरू कर दिये हैं।[2]

इस आपा-धापी मे कोई किसी की सुनने वाला नहीं है। इसी कारण अब्दुल करीम के परिवार को पाकिस्तान में अनेक मुसीबतें झेलनी पड़ती है। हमीद कुछ व्यक्तिगत मतभेदों के कारण बदरुद्दीन पर भारतीय जासूस होने का आरोप लगाता है और बिना किसी जाँच या सुनवाई के बदर बन्दी बना लिया जाता है। बहुत प्रयास करने पर भी उसके परिवार के लोग उसे छुड़ा नही पाते।[3] हमीद ने सरकार से यह भी शिकायत की है कि अब्दुल करीम ने एक हिन्दू की दुकान और मकान पर नाजायज कब्जा कर रखा है। अब्दुल करीम की जायदाद के तबादले के कागजात के दुरुस्त होने पर किसी को शक नही है। लेकिन वहाँ यह बात हो रही है कि अगर अब्दुल करीम एक हिन्दू से यह जायदाद न खरीदता तो वह हिन्दू अपनी जायदाद लावारिस छोड़ जाता और वह आज सरकारी मालकियत होती। अब्दुल करीम ने इस जायदाद का दाम भारतीय सिक्के में देकर उतना पाकिस्तान का रुपया भारत में पहुँचाने की साजिश की है।[4] बदर के भाग जाने के बाद यह परिवार और भी मुसीबत मे पड़ जाता है। अब उनके सामने हिन्दुस्तान भाग निकलने के सिवा और कोई चारा नहीं रहता। सारा नकद सोने में तबदील कर वहाँ से भागते तो हैं किन्तु अब्दुल करीम ही हिन्दुस्तान पहुँच पाता है। दूसरी पत्नी रफ़ीकन और उसके पिता नूरुद्दीन द्वारा सब कुछ लेकर भाग जाने पर अब्दुल करीम काहन चन्द के नाम से भीख माँगता हुआ बड़ी मुश्किल से अपनी पत्नी और बेटी तक पहुँचता है।

भारतीय मुसलमानों की स्थिति का चित्रण :

भारत मे रह गये मुसलमानों की समस्या भी कुछ कम नही है। रुख्साना और मेहर अपनी इच्छा से भारत मे रह गयी है। रुख्साना इस आशय की अर्जी भी डिप्टी कमिश्नर को देती है। किन्तु 'सरकारी कामों मे सोचा पीछे जाता है

1. दीन-दुनिया : गुरुदत्त, पृ० 111.
2. वही, पृ० 115.
3. वही, पृ० 99.
4. वही, पृ० 104 .

और काम पहले हो जाता है।'[1] डिप्टी कमिश्नर अर्जी तहकीकात के लिये प्रेज़िडेंसी मैजिस्ट्रेट के पास भेज देता है और मैजिस्ट्रेट द्वारा रुख्साना को अमुक दिन हाजिर होकर अपना बयान लिखवाने की आज्ञा जारी कर दी जाती है। पुलिस को भी आज्ञा होती है कि वह जाँच कर अपनी रिपोर्ट पेश करे। किन्तु सम्मन लेकर जब अदालत का प्यादा रुख्साना के मकान पर पहुँचता है, उसे पता चलता है कि एक दिन पहले ही पुलिस माँ-बेटी को पकड़ कर ले गयी है। राजन बम्बई के हाईकोर्ट मे 'हैबस कारपस' कानून के अधीन यह याचिका करता है कि पुलिस को हुक्म जारी किया जाये कि दोनों औरतों को अदालत में उपस्थित किया जाये। इस हुक्म के अधीन चीफ़ पुलिस कमिश्नर हाईकोर्ट में उपस्थित हो यह बयान देते हैं कि रुख्साना और मेहर पकड़े जाने के दिन ही केन्द्रीय सरकार की आज्ञानुसार दिल्ली रवाना कर दी गयी थी। इस पर न्यायालय द्वारा केन्द्रीय सरकार के गृह मन्त्री तथा पुलिस अधिकारियो को आज्ञा दी जाती है और केन्द्रीय सरकार के वकील द्वारा विदित होता है कि हाईकोर्ट की आज्ञा पहुँचने से पहले ही दोनो स्त्रियाँ पाकिस्तानी अधिकारियों के हवाले कर दी गयी हैं। इसके बाद हाईकोर्ट द्वारा हुक्म दिया जाता है कि इन औरतो को जाँच-पड़ताल के लिये पाकिस्तान सरकार से वापस माँगा जाये। राजन और उसका वकील इस विषय में लिखा-पढ़ी करते रह जाते है लेकिन कुछ होता नही। अन्त मे 'मेहर 'स्मगल' करके लाहौर से भारत लाई जाती है। रुख्साना को भारत लौटने की आज्ञा मिल जाती है और उसे भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करना पड़ता है।

उपन्यास मे कहीं-कहीं शरणार्थियों की दयनीय दशा का वर्णन है—किन्तु वह वर्णन मात्र है। उसे पढकर किसी प्रकार की संवेदना या लेखक के मानवीय दृष्टिकोण की अनुभूति नहीं हो पाती है।[2]

गुरुदत्त के उपन्यासों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विभाजन तथा साम्प्रदायिकता के विषय में लेखक का अपना दृष्टिकोण है और उसी से प्रेरित होकर उन्होंने विभाजन सम्बन्धी इन उपन्यासो की रचना की है। हिन्दुत्व तथा हिन्दु संस्कृति के कट्टर समर्थक होने के कारण इन रचनाओ में मुस्लिम संस्कृति के प्रति विरोध का स्वर बहुत मुखर हो उठा है।

पात्रों का चरित्र चित्रण भी उपन्यासकार की इसी मनोवृत्ति का परिचायक है। अधिकांश मुस्लिम पात्र अराष्ट्रीय हैं, कांग्रेसी देश की तत्कालीन परिस्थितियों तथा हिन्दू-मुस्लिम समस्या की गहराई को समझने मे असमर्थ हिन्दू जाति के शत्रु हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्त्ता ही तत्कालीन परिस्थितियो और समस्याओ

1 दीन दुनिया : गुरुदत्त, पृ० 126

2. वही, पृ० 61-62

को समझकर उनका सामना तथा निदान करने में समर्थ हैं। वस्तुतः विभाजन के समय विघटित मानव-मूल्यों तथा पीड़ित मानवता की करुणा ने उपन्यासकार को उतना प्रभावित नहीं किया, जितना राजनीतिक घटनाक्रम तथा नेताओं की राजनीतिक भूलों ने। शरणार्थियों की दयनीय दशा तथा संत्रस्त मनुष्यों की व्यथा के चित्र इसी कारण तथ्यपरक वर्णनमात्र बनकर रह गये हैं, जो किसी भी रूप में पाठक की संवेदना को उद्वेलित नहीं कर पाते।

यशपाल :

प्रेमचन्दोत्तर युग में वैयक्तिक चिन्तन के फलस्वरूप कथा चेतना अन्तर्मुखी हो गई थी, लेकिन यशपाल में वह पुनः सामाजिक मूल्यों से जुड़ जाती है। अपनी कृतियों में उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक प्रश्नों और मानवमन की आन्तरिक अनुभूतियों को समन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। यशपाल पहले कथाकार हैं जिन्होंने एक निश्चित विचारधारा एवं जीवन दर्शन को लेकर रचनाएँ प्रस्तुत की, तथा व्यक्ति और समाज की समस्याओं को उसी परिप्रेक्ष्य में रखकर वैचारिक स्तर पर उनका समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने जन-चेतना को झकझोरने, उसे नये प्रश्नों के बारे में सोचने तथा उसके पुरातनपंथी संस्कारों पर आघात करने के इरादे से सचेत और सोद्देश्य लेखन किया। उनके अधिकतर उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ के उस पक्ष का चित्रण अधिक रहा जो मध्यवर्गीय इच्छाओं और आकांक्षाओं के अनुकूल पड़ता है। मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि होने के कारण वे सामाजिक संघर्ष में आर्थिक वैषम्य और सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था के शोषण चक्र को प्रधान मानते हैं। वे यह स्वीकारते हैं कि जब तक यह वर्ग-वैषम्य समाप्त नहीं होगा तब तक मानवीय चेतना अपने स्वस्थ रूप में विकसित नहीं हो सकती, क्योंकि सभी सामाजिक गतिविधियों के मूल में आर्थिक स्वार्थ निहित है। सामाजिक विसंगतियों तथा पुरानी नैतिक मान्यताओं पर तीखा प्रहार करते हुए उन्होंने मध्यवर्गीय चेतना के सन्दर्भ में जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना पर बल दिया है।

झूठा सच :

यशपाल का 'झूठा सच' (1958-60) स्वतन्त्रता के बाद लिखे गये सर्वाधिक लोकप्रिय और चर्चित उपन्यासों में एक है। दो भागों में रचित इस महाकाव्य उपन्यास में भारत विभाजन की पूर्व पीठिका, विभाजन की विभीषिका और उसके उत्तर प्रभाव का विशद और जीवन्त चित्र खींचा गया है। जैसा कि उपन्यास के उपशीर्षकों—'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य' में संकेत मिलता है, लेखक का उद्देश्य राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि में विभाजनकाल की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण को मुख्य विषय बनाना था। इस ऐतिहासिक दुर्घटना को पूरे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत

करते हुए लेखक ने उन सूक्ष्म अंतःसम्बन्धों की तलाश का प्रयास किया है, जिनके कारण इतनी बड़ी दुर्घटना घटित हुई।

कथा का प्रारम्भ तारा और जयदेव पुरी के परिवार से होता है। बृहत् कथानक होने के कारण इसके साथ-साथ अन्य कई उपकथाएँ चलती हैं, किन्तु उन सबमें आश्चर्यजनक सन्तुलन और एकता है। कथा का प्रमुख पात्र जयदेव पुरी निम्न मध्यवर्गीय युवक है, जो लाहौर की भोला पाधे गली मे रहता है। उसमें प्रतिभा और साहित्यिक रुचि दोनों हैं। उसकी इच्छा एम० ए० करने के बाद प्रोफेसर बनने की है, किन्तु 1942 के आन्दोलन में भाग लेकर जेल जाने के कारण उसकी इच्छा पूरी नही हो पाती। मुक्त होने के बाद बड़ी कठिनाई से वह पैरोकार मे एक छोटी-सी नौकरी प्राप्त करता है। इसी बीच पुरी उच्च मध्यवर्गीय कनक के सम्पर्क मे आता है और दोनो की आत्मीयता धीरे-धीरे प्रेम में बदल जाती है। किन्तु कनक के पिता दोनों के विवाह-सम्बन्ध हेतु तैयार नही होते। पुरी की बहन तारा प्रगतिशील विचारों की लड़की है, अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये वह संघर्ष करने को तैयार है। वह असद के प्रति आकर्षित है, उससे विवाह भी करना चाहती है, किन्तु असद की दुर्बलता के कारण सफल नहीं हो पाती। परिस्थितिवश तारा का विवाह दुष्ट सोमराज से होता है, जो पहली ही रात तारा को अपमानित और प्रताड़ित करता है। उसी रात दंगा होता है। तारा भागने की चेष्टा में एक मुस्लिम गुण्डे के पंजे में फँस जाती है। वहाँ से वह हाफिज जी के घर पहुँचा दी जाती है। अनेक कठिनाइयों के बाद एक उद्धारक दल की सहायता से वह अमृतसर पहुँचने में सफल होती है। दूसरी ओर निराश और बेकार पुरी कनक का आश्वासन भरा पत्र पाकर नैनीताल पहुँचता है। इसी समय भारत विभाजन होता है। पुरी अपने परिवार का पता लगाने लाहौर जाना चाहता है, किन्तु जा नहीं पाता। जालंधर में उसकी भेंट सूद नामक कांग्रेसी नेता से होती है। उनकी सहायता से वह एक प्रेस का संचालक बन जाता है। यहीं उसका सम्पर्क उर्मिला से होता है। तब तक कनक पुरी को ढूँढते हुए वहाँ पहुँच जाती है। उर्मिला का अप्रिय निष्कासन होता है और कनक गृहिणी के पद पर आसीन हो जाती है। किन्तु कुछ दिन पश्चात् ही उसका आपसी प्रेम मतभेदों और मनमुटाव में बदल जाता है। पाँच वर्ष साथ रहने और एक पुत्री को जन्म देने के बाद वह पुरी से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर वापस लौट जाती है और बाद में गिल को अपना जीवन-साथी बनाने का निर्णय लेती है।

इधर दिल्ली पहुँचने के बाद तारा की परिस्थितियों में भी परिवर्तन होता है। वह नारी-कल्याण केन्द्रों की अध्यक्षा के रूप में अंडर-सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त हो जाती है। आफिस में ही एक दिन पुराने पति सोमराज से उसका सामना होता है। तारा डा० प्राणनाथ से विवाह कर लेती है। प्रतिशोध की आग में जलता हुआ

सोमनाथ पुरी की सहायता से तारा को परेशान करने की चेष्टा करता है, किन्तु सफल नही हो पाता। कांग्रेसी मन्त्री सूद की सत्रह हजार वोटों से पराजय की सूचना के साथ डा० नाथ द्वारा आज की राजनीति पर टिप्पणी करते हुए यशपाल उपन्यास की परिसमाप्ति करते हैं।[1]

इस प्रकार उपन्यास की कथा अनेक धाराओ मे बँटकर अग्रसर होती है।

उपन्यास का यथार्थ :

पूरे उपन्यास के यथार्थ को सुविधा के लिये दो भागो मे बाँटा जा सकता है—एक तो उसका परिस्थितिगत यथार्थ है, दूसरा उसका परिस्थितिजन्य आन्तरिक सत्य। दोनो को यशपाल एक साथ जोड़कर चलते हैं। परिस्थितिगत यथार्थ मे आता है विभाजन पूर्व, विभाजनकाल तथा उसके बाद की घटनाओं और परिस्थितियो का चित्रण; दूसरे मे आता है उन परिस्थितियों और घटनाओ के परिप्रेक्ष्य में उभरते हुए विचार, संवेग, व्यक्ति और समाज के नये सम्बन्ध, टूटते हुए पुराने मूल्य, उगते हुए नये विश्वास, बनता बिगड़ता हुआ एक नया जनमानस।

परिस्थितिजन्य यथार्थ :

विभाजन के समय और उसके पूर्व पश्चात् की साम्प्रदायिक विभीषिका मे जलते हुए देश की जनयातना का विशद चित्र उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। देखने मे लगता है कि दोनो देशो की जनता स्वभावतः अपने साम्प्रदायिक विद्वेष की आग मे जल उठी थी। किन्तु यह सच होकर भी झूठ था। सच थी जनता को बर्गलाकर अपनी स्वार्थ पूर्ति करने वाली नेताओं की अदम्य अमानवीय लालसा। एक बार जब इन नेताओं ने जनता को बर्गला दिया, स्थिति स्वयं इनके नियन्त्रण से बाहर हो गई। प्रगतिशील तत्वो के बावजूद जनता में तनाव बढ़ता ही गया। साम्प्रदायिक विद्वेष की भयानक ज्वाला में प्रेम, करुणा, विश्वास और मूल्य, सभी जल गये। इसी ऐतिहासिक यथार्थ को कल्पना से रंगकर लेखक ने उस जनसमुदाय को सौंपा है 'जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढने का साहस नही छोड़ता।' 'झूठा सच' के दोनो भागों मे देश के सामयिक और राजनैतिक वातावरण को यथा-सम्भव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप मे चित्रित करने का यत्न किया गया है। स्वयं लेखक के शब्दों मे 'उपन्यास के वातावरण को ऐतिहासिक यथार्थ का रूप देने और विश्वसनीय बना सकने के लिये कुछ ऐतिहासिक

1. "......अब तो विश्वास करोगे जनता निर्जीव नही है। जनता सदा मूक नहीं रहती। देश का भविष्य नेताओं और मन्त्रियो की मुट्ठी मे नही है, देश की जनता के ही हाथ मे है।"

—झूठा-सच : देश का भविष्य. विप्लव प्रकाशन. पृ० 662.

व्यक्तियों के नाम भी आ गये हैं, किन्तु परन्तु उपन्यास में वे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, उपन्यास के पात्र हैं। कथानक में कुछ ऐतिहासिक घटनायें अथवा प्रसंग अवश्य हैं परन्तु सम्पूर्ण कथानक कल्पना के आधार पर उपन्यास है, इतिहास नहीं है।'

विभाजन के प्रति लेखक का दृष्टिकोण :

विभाजन के मूल में काम करने वाली राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियाँ कथानक के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। इनसे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि धर्म और राजनीति के कारण ही देश के दो टुकड़े हुए। धार्मिक रूढ़ियों और संकुचित राजनीति ने इन दोनों को ऐसा रूप प्रदान किया कि ये दोनों तत्व समाज के साधक तत्व न बनकर विनाशकारी उपकरण सिद्ध हुए। कथानक में वर्ग-स्वार्थों का संघर्ष तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—मुसलमान धार्मिक वर्गों की नीति, हिन्दू धार्मिक वर्गों की नीति और कांग्रेस की विशिष्ट भूमिका। मुसलमान धार्मिक वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए लाहौर में हिन्दुओं को खदेड़ देना चाहता है। ठीक यही काम दिल्ली आदि स्थानों में हिन्दू भी करते हैं। कांग्रेस दोनों में समन्वय स्थापित करने के लिये 'धर्म-निरपेक्षता का नारा बुलन्द करती है और अल्पसंख्यक मुसलमानों के प्रति किंचित् सद्भावना भी दिखाती है। उसका परिणाम भी दोनों विरोधी धर्मों में संघर्ष ही होता है। उपन्यास का प्रथम खण्ड लाहौर में छाये हुए धर्मोन्माद और राजनीतिक संकीर्णता की ओर गहराई से संकेत करता है।

एक तरफ कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन तेजी पकड़ चुका है और दूसरी ओर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन की शक्ति कम हो गई है। ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्ति यह भी बखूबी जान चुकी है कि कांग्रेस के नेतृत्व के बावजूद राष्ट्रीय आन्दोलन की वास्तविक ताकत यहाँ का किसान मजदूर वर्ग है जो सक्रिय होकर साम्राज्यवाद के लिये आतंक बन गया है। ब्रिटेन को यह भी अहसास हो गया है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के अनिश्चित काल तक खिंच जाने की परिणति यह हो सकती है कि कांग्रेस का सही रूप जनता के सामने स्पष्ट हो जाये और नेतृत्व उसके हाथ से छूटकर किसान मजदूर वर्ग और मध्य वर्ग के अपने प्रतिनिधियों के हाथों में आ जाये, जो देश के भीतर पूँजीवाद के लिये खतरा बनकर विश्व साम्राज्य-वाद पर एक करारी चोट होगी। इसलिये साम्राज्यवाद का हित इसी में है कि जनता अपने सही राजनीतिक प्रतिनिधियों के बारे में न जानकर पुरानी चेतना के अधीन धर्म, सम्प्रदाय, जाति, रूढ़ियों, पुरातनपंथी विचारधारा आदि के प्रभाव में बनी रहे और ब्रिटेन इस बीच शासन की बागडोर यहाँ के पूंजीपति वर्ग के हाथों में सौंपकर और अपने आर्थिक हितों की सुरक्षा पर ऐसा समझौते तक पहुँच कर देश छोड़ दे।

देश के बारे में इस साम्राज्यवादी समझ से कांग्रेस भी प्रभावित लगती है और

और विभाजन से पहले के महीनों में वह बहुत कम ऐसे काम करती है कि पंजाब में बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता की आग को कारगर ढंग से रोका जाये। इस साम्प्रदायिकता के सामने विवश नजर आते कांग्रेसी नेता गोल मोल बातें करते है। धर्म निरपेक्षता और शान्ति की बात करते हुए जयदेव पुरी एक तीखी टिप्पणी कांग्रेसी अखबार पैरोकार में लिख देता है तो उसे नौकरी से बेझिझक निकाल दिया जाता है। स्पष्ट है कि धर्मान्धता के विरोध का खतरा कांग्रेस नही लेना चाहती। कांग्रेस के अन्दर के ही कुछ समाज विरोधी तत्व और उससे बाहर दक्षिणपंथी दल बड़े सुनियोजित ढंग से साम्प्रदायिक दंगो को शुरू करवाते नजर आते है, उन हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के विरोध मे खड़ा करते हुए जो सदियों से एक साथ शान्तिपूर्वक रहते आये है।[1]

लेखक की राय में केवल एक ही सामाजिक शक्ति है जो इस साम्प्रदायिकता का सही और कारगर जवाब बन सकती है, वह है देश का अपनी सही वर्गचेतना से सम्पन्न श्रमिक वर्ग। यही शक्ति धर्मान्धता के विरुद्ध खड़ी होकर इस अमानवीय हिंसा को समाप्त कर सकती है। यह तब सिद्ध हो जाता है जब कम्युनिस्टों द्वारा आयोजित रेल यूनियन के मजदूरो का विशाल जुलूस लाहौर की गलियो से शान्ति के समर्थन और साम्प्रदायिक हिंसा के विरोध मे नारे लगाता हुआ गुजरता है। इस घटना से लोगों के मन का आतंक कम होता है और कुछ दिनो के लिये साम्प्रदायिक दंगे कम हो जाते हैं। तब शायद ब्रिटिश साम्राज्यवाद और देश की पूँजीवादी और सामन्ती ताकतों का काम यह रह जाता है कि किसी तरह मजदूरों की वर्गचेतना को कुण्ठित किया जाये। यशपाल उस घटना का हवाला देते हैं, जब रेल मजदूरों के बीच बम फेंका गया, ताकि इस आक्रमण को साम्प्रदायिक रंग दिया जा सके।[2]

साम्प्रदायिक दंगों से नौकरशाही को कोई भय नही है। उसका भला इसी मे है कि आपसी झगड़े में हिन्दू-मुस्लिम अपनी वास्तविक समस्या को भूले रहें।[3] ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल के प्रतिनिधि कांग्रेस और लीग दोनों को मिथ्या आशाएँ देकर, अपने कब्जे मे रखने के लिये, शब्दो द्वारा सन्तुष्ट कर रहे है। 'यह कैसे हो सकता

1. 'लीग-कांग्रेस का झगड़ा हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा बन गया है। ...अंग्रेजों ने कम्युनल बेसिस (साम्प्रदायिक आधार) पर चुनाव की नीति चलाई थी। उसका फल अब पका है। इस झगड़े का फैसला या तो आपसी समझौते से हो सकता है या तारासिंह और अल्लामशरिकी तलवारो से होगा।'
   झूठा सच : वतन और देश, पृ० 111–112.
2. वही, पृ० 272.
3. वही, पृ० 73-74.

कि कैबिनेट मिशन की योजना से लीग को पाकिस्तान मिल जाये और कांग्रेस को अखण्ड हिन्दुस्तान भी मिल जाये।'[1]

विभाजन के घटनाचक्र का चित्रण :

कांग्रेस और लीग का समझौता संभव न होने पर सांप्रदायिक आग भड़कती है। लीग का आन्दोलन बढ़ता देख खिजर मिनिस्ट्री पंजाब के अनेक नगरों मे दफा 144 लगाकर जुलूसों और सभाओं पर रोक लगा देती है। लाहौर मे मुस्लिम लीग दफा 144 के विरोध में अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रारम्भ करती है। मुस्लिम लीग के बड़े-बड़े नेता सत्याग्रह करके जेल चले जाते है। परन्तु प्रतिदिन लीग के स्वयंसेवको के अहिंसात्मक जुलूस निकलते रहते हैं। पुलिस उन पर लाठी चलाती है। स्वयंसेवक अहिंसात्मक रहकर 'अल्लाहो अकबर ! मुस्लिम लीग जिन्दाबाद ! खिजर मिनिस्ट्री मुर्दाबाद ! पाकिस्तान लेके रहेंगे ! लीग मिनिस्ट्री कायम हो ! हिन्दू-मुस्लिम एक हो !' के नारे लगाते हुए गिरफ्तार हो जाते हैं।[2] खिजर के इस्तीफा दे देने के बाद गवर्नर द्वारा हुकूमत संभाल ली जाती है। इसके बाद मुस्लिम लीग के कार्यकर्ता बिल्कुल नये नारे लगाते हुए लाहौर की सड़कों पर निकलते हैं "नई खबर आई है, खिजर हमारा भाई है ! ...मुस्लिम लीग जिन्दाबाद ! पाकिस्तान लेके रहेंगे ! लीग की वजारत कायम हो ![3] गवर्नर पंजाब असेम्बली मे बहुमत पार्टी मुस्लिम लीग के नेता खान ममदोट को नया मन्त्रिमण्डल बनाने के उद्देश्य से आमंत्रित करते हैं। खान ममदोट नियत समय पर मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के नाम गवर्नर के सामने पेश नही कर पाता इस लिये गवर्नर मुस्लिम लीग के लीडर को शासन की जिम्मेदारी सौंपने को तैयार नही होते। लीग और विरोधी दलों के सदस्य अपनी अलग-अलग मीटिंग करते हैं। जिस समय मास्टर तारासिंह कांग्रेसी, अकाली और हिन्दू सभा के मेम्बरों के साथ असेम्बली चेम्बर से बाहर निकलते हैं, चेम्बर के सामने हजारों की तादाद में जमा मुस्लिम लीग भीड़ के 'नाराए हैदरी ! या अली' पाकिस्तान जिन्दाबाद ! मुस्लिम लीग जिन्दाबाद ! लेके रहेंगे पाकिस्तान ! नारों से आसमान काँप उठता है। मास्टर तारासिंह और हिन्दू-सिक्ख सदस्य भीड़ के सामने एक साथ खड़े हो जाते है। मास्टर तारासिंह गगनभेदी नारे द्वारा भीड़ को उत्तर देते है। भीड़ जवाब में और भी ऊँचे नारे लगाती हुई आगे बढ़ती है। मास्टर तारासिंह कृपाण खींचकर भीड़ को चुनौती देते है। सशस्त्र पुलिस बीच में आकर स्थिति को नियंत्रित करती है। उत्तेजना से दूर रहकर राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से स्थिति पर विचार करने के उद्देश्य से कांग्रेस कमेटी द्वारा एक सभा का आयोजन किया जाता

1. झूठा सच : वतन और देश, यशपाल, पृ० 59.
2. वही, पृ० 85.
3. वही, पृ० 104.

है। किन्तु राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से विचार करने के स्थान पर सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार करते है।[1] सभापति कामरेड कपूर के मना करने पर भी वक्ता भारत की अखण्डता पर भाषण देते रहते हैं। जलसे की बरखास्तगी के बाद लम्बी तलवार लटकाये मास्टर तारासिंह का प्रवेश होता है। वे आग उगलते हुए भाषण देते हैं।[2] काग्रेसी अपने झंडो मे से हरा रंग फाड़ देते हैं। इससे लीगी खुश होते हैं।[3] इस साम्प्रदायिक विद्वेष का शिकार बनते हैं दौलू मामा जैसे निरपराध लोग। दंगों की आग अमृतसर मे भी फैल जाती है। शान्ति रक्षा कमेटियो के प्रयास से कुछ बनता दिखाई नही देता। अन्त मे काग्रेस विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार कर लेती है। विभाजन की घोषणा से दगो की सुलगती आग फिर भड़क उठती है। लाहौर को पाकिस्तान मे दे दिये जाने की आशंका से हिन्दुओ मे नगर छोड़ जाने की बातें उठने लगती हैं। किन्तु अनेक गलियो के लोगों की तरह भोलापाधे की गली के लोग भी एकमत होकर लाहौर न छोडने का निश्चय करते है। अन्त मे जब स्वतन्त्रता और विभाजन की तिथि निश्चित हो जाती है, कांग्रेस और मुस्लिम लीग, दानों की कार्यकारिणी समितिया घोषणा प्रकाशित करती हैं कि नयी सरकारें अल्पसख्यकों के जान-माल की सुरक्षा की पूरी जिम्मेदारी लेगी। किन्तु व्यवहार में बिल्कुल इसके विपरीत होता है।

स्पष्ट है कि लेखक के दृष्टिकोण से ब्रिटिश साम्राज्यशाही तो विभाजन के लिये जिम्मेदार है ही,[4] वे नेता भी कम जिम्मेदार नही हैं जो साम्प्रदायिक उत्तेजना फैलाकर अपना स्वार्थ पूरा करना चाहते हैं।[5] साम्प्रदायिकता की आग को भड़काने वाले तो अपनी कोठियों मे आराम से बैठकर हुक्म दे रहे हैं; साधारण जनता इस आग में जल रही है, दौलू मामा जैसे निरपराध लोग इसके शिकार हो रहे हैं।[6]

1. झूठा सच : वतन और देश, यशपाल, पृ० 108-109.
2. वही, पृ० 109-110.
3. 'काग्रेसियो ने अपने झंडो मे से हरा रंग फाड़ दिया है। हम तो खुश हैं। अब तो कांग्रेस ने मान लिया कि मुसलमान उनके साथ नही है। कायदे-आजम तो हमेशा से कहते हैं कि कांग्रेस मुसलमानो की नुमाइन्दगी नही कर सकती—वह हिन्दुओं की जमायत है।'—वही, पृ० 111.
4. वही, पृ० 245.
5. वही, पृ० 271.
6. 'जब तुम से खुदा तुम्हारे कातिल का नाम पूछेगा तो तुम्हारी उंगली किसकी तरफ उठेगी ? क्या खुदा नही जानता कि तुम्हारे कत्ल के लिये उत्तेजना दिलाने की जिम्मेदारी उन नेताओ पर है जो तुम्हारे जैसे इंसानों को शासन के सिंहासन पर पहुँच सकने का जीना बनाने के लिये जनता का ईंट-गारे की तरह प्रयोग करना चाहते है।'—वही, पृ० 122.

इन क्षुद्र स्वार्थों की वेदी पर बलिदान होता है निर्दोष सर्वसाधारण का, जिन्हें अपनी भूमि छोड़कर अनजाने देश में जाने को मजबूर होना पड़ता है। 'हिन्दुओं को मुसलमानों से और मुसलमानों को हिन्दू-सिक्खों से, लोगो को अपनी पुश्तैनी जगहो से अलग करना ऐसा है जैसे जिस्म के मांस को हड्डियों से अलग करना।'[1] नैयर जैसे लोग दो जातियों का सिद्धान्त नहो मानते। पंजाब उनकी मातृभूमि है, उनका वतन है। लेकिन राजनीति में सर्वसाधारण के कोमल मानवीय भावों का क्या काम? "क्या जर्मन यहूदी जर्मनी को अपनी मातृभूमि नहीं मानते थे? हिटलर ने सबको निकाल कर बाहर नहीं कर दिया?"[2]

अहिंसक आन्दोलन के प्रति अविश्वास का स्वर :

गांधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन तथा हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त के प्रति लेखक का अविश्वास भी जगह-जगह प्रकट हुआ है "···पन्द्रह अगस्त को पाकिस्तान बन जायेगा···इसके बाद गाँधी से कहना पाकिस्तान में जाकर लोगो का हृदय परिवर्तन करें।···जिन्ना अपनी सीमा में उसके प्रवेश का निषेध कर देगा और यदि निषेध कर देने पर भी कोई उसके देश में प्रवेश करेगा तो जिन्ना का उसे गोली मार देना भी अन्तर्राष्ट्रीय नियम से न्याय होगा। उस समय आप 'रघुपति राघव राजाराम, चाहे जितना कीर्तन कीजियेगा, अन्तर्राष्ट्रीय न्याय से, पाकिस्तान के विरुद्ध सैनिक कार्यवाई करने का अधिकार आपको नहो होगा।"[3] शान्ति, अहिंसा का प्रचार करने वाला क्राइस्ट का धर्म भी 'तमाचा खाने के लिये गाल आगे कर देने से नहीं, तलवार के जोर से ही फैला था,······आज कितने क्रिश्चियन एक तमाचा खाकर दूसरा गाल सामने कर देते हैं। अंग्रेजों ने अपना गाल कितनी बार तुम्हारे सामने किया है?'[4]

साम्प्रदायिक चेतना के कारण एवं प्रभाव का चित्रण :

उपन्यासकार यशपाल ने शासक वर्ग की सुनियोजित नीति के साथ-साथ उन वस्तुपरक कारणो पर भी प्रकाश डाला है, जिनसे न्यस्त स्वार्थों को साम्प्रदायिक उत्तेजना भड़काने मे सहायता मिली। उसने स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार निम्न मध्यवर्ग के सन्दर्भ मे साम्प्रदायिक चेतना का प्रभाव समाज के विभिन्न हिस्सों मे फैलता हुआ अपने अन्तिम रूप मे अमानवीय हो उठता है। यशपाल ने इस अमानवीय रूप को उजागर करने के लिये युवक-युवतियों के प्रेम-

1. झूठा सच : वतन और देश : यशपाल, पृ० 275.
2. वही, पृ० 341
3. वही, पृ० 344
4. वही, पृ० 342

प्रसंगों, उनके आदर्शों और कल्पनाओं की सहानुभूति प्रदान करते हुए उस सामाजिक ढाँचे की अर्थवत्ता पर सन्देह किया है जो अपने युवावर्ग की स्वस्थ और सही आस्थाशील चेतना को निरन्तर कुण्ठित करती है।

मानसिक जड़ता की कहानी :

यशपाल साम्प्रदायिक चेतना को लोगों के दिमाग में बैठी हुई जड़ता और विवेकहीनता से जोड़ते हैं। इस उपन्यास में उन्होंने बारम्बार एक विशाल जन-समुदाय की मानसिक जड़ता की ओर संकेत किया है। लाहौर के विशाल निम्न मध्यवर्ग की मानसिकता का खाका खींचने का काम लेखक ने एक मुहल्ले के दैनिक कार्य कलाप पर दृष्टि केन्द्रित करके किया है।[1] भोला पांधे की गली में रहने वाले पुरुष हर सुबह नौकरी अथवा छोटे-मोटे व्यवसाय की खातिर निकल जाते हैं। घर और बच्चों को सभालने के लिये पीछे रह जाती है, हर आयु की स्त्रियाँ; जिन्हें घर की चारदीवारी में समय काटना है, निश्चित कामों को निपटाना है और पूरे यान्त्रिक कर्म के दौरान अपने दिमागी खालीपन को निरुद्देश्य बात-चीत, हँसी मजाक से भरना है। जिन्दगी की यांत्रिकता, निरुद्देश्यता और खालीपन पूरे व्यवहार को नितान्त विवेकहीन, अस्वस्थ और अमानवीय बना डालते हैं।[2] लेखक ने एक बँधे-बँधाये ढर्रे पर सोचने को मजबूर व्यापक स्त्रीवर्ग पर ध्यान केन्द्रित कर यह दिखाने का प्रयास किया है कि 'इतने बड़े समूह की विचारहीनता समाज के लिये घातक होती है, क्योंकि न केवल यह समुदाय स्वयं निष्क्रिय हो जाता है, बल्कि व्यक्तियों के प्रारम्भिक जीवन-काल में उन्हें एक ऐसे निरुद्देश्यतापूर्ण भाग्यवादी दर्शन का बोझ सौंपता है जिससे मुक्ति पाना अत्यधिक कष्टसाध्य है।'[3]

साम्प्रदायिक चेतना के सुनियोजित प्रयास का उदाहरण वे दो औरतें हैं जो भोला पांधे की गली में हिन्दू रक्षा कमेटी की ओर से आई हैं। गली में नित्य फल बेचने वाले मुसलमान राई की टोकरी हटवा कर वे गली में बैठी स्त्रियों को सम्बोधित करती हैं 'बहनो, क्या तुम्हें नहीं मालूम, कलकत्ते में मुसलमानों ने हजारों हिन्दू भाइयों का कत्ल कर डाला, हमारी सैकड़ों बहू-बेटियों को बेइज्जत कर डाला है। अफसोस है, तुम्हारी गली में यह लोग अब भी सौदा बेच रहे हैं...।'[4]

---

1. 'लाहौर की भोला पांधे गली, जहाँ कथा का सूत्रपात होता है, अपने समाज की ही नहीं, पूरे देश की परम्परावादी प्रवृत्तियों का प्रतीक है। गली के जीवन में जीवन की वही परम्परागत स्थिरता, आबद्धता और जड़ता दिखाई देती है जो देश के किसी भी दूसरे भाग में देखी जा सकती थी।'

   —'मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल'—डॉ० पारसनाथ मिश्र, पृ० 147.
2. आनन्द प्रकाश : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ० 126.
3. वही, पृ० 126.
4. झूठा सच : वतन और देश : यशपाल, पृ० 61.

पहले तो मुहल्ले की स्त्रियाँ हिन्दू दुकानदारों की बुराई करती है कि वे चीजों के दूने दाम माँगते हैं किन्तु इन शिक्षित महिलाओं द्वारा कुछ देर तक समझाये जाने पर उनकी समझ मे यह बात आ जाती है कि वर्षों से उनके साथ रहने वाले मुसलमान पड़ोसी अत्यन्त घृणित लोग हैं और वही स्त्रियाँ, जिनके चेहरों पर अपनी गली में नित्य फल बेचने वाले भाई से झगड़ा करने वाली औरतों के प्रति मौन विरोध का भाव था, अब उनकी समर्थक और भक्त बनकर राई को चले जाने का संकेत करती है। अब तारा तर्क द्वारा साम्प्रदायिक विचारों के खण्डन का प्रयास करती है, उसका पहला विरोध गली की औरतें ही करती हैं। तारा समझाना चाहती है "बहिनजी, हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा तो व्यर्थ की मूर्खता है। झगड़ा कर जायेंगे कहाँ ? यही तो दोनों का घर है। हमारी असली लड़ाई तो अंग्रेज से है जिसने मुल्क पर कब्जा किया हुआ है। ईश्वर कौर धमकी से उत्तर देती है 'क्या भोली बातें करती हो बेटी, वे तो पाकिस्तान बना रहे हैं। हमारा घर-बार ही नहीं रहेगा तो मुल्क का क्या बनायेंगे ? कहाँ रखेंगे मुल्क को ? कांग्रेस के लिये जैसे हिन्दू वैसे मुसलमान।"[1] ज्ञानदेवी गली की स्त्रियों को झाँसी की रानी और पद्मिनी की याद दिला कर आत्मरक्षा का उपदेश देती है। हिन्दू मुहल्लों की तरह मुस्लिम मुहल्लों में भी जहर फैलाया जा रहा है।[2] भोला पांधे की गली में रहने वालों की तरह के लाखों—करोड़ों लोग यह सोचने लगते हैं कि जो लोग कुछ समय पहले तक शान्तिपूर्वक उनके साथ रहते आये हैं, वे ही उनके सबसे बड़े दुश्मन हैं। पुरी और तारा जैसे कुछ लोगों को छोड़ सभी हर नये झगड़े और दंगे की सूचना पा अधिकाधिक विश्वस्त होने लगते हैं कि दो सम्प्रदायों में बँटे हुए भारतीय समाज का विघटन अब अनिवार्य है।

हिंसा और आतंक का चित्रण :

ऐसी सामाजिक स्थिति मे लोगों की मानसिक जड़ता तोड, उसके स्थान पर विवेकहीन अमानवीय विचारधारा बिठाने का अच्छा तरीका यह है कि समाज में हिंसा द्वारा आतंक फैलाया जाये। यशपाल आतंक की घटनाओं और खबरों को समाप्त करके खेले जाने वाले नाटकीय खेल का चित्रण करते है। साम्प्रदायिक विद्वेष की आग मे आपसी समझ, सहानुभूति दया, करुणा के सारे स्रोत सूख जाते हैं। स्त्रियों और बच्चों से नृशंस व्यवहार किये जाते हैं, विरोध प्रकट करने वालों को बेझिझक समाप्त कर दिया जाता है, पूरे गाँव के गाँव जला दिये जाते हैं। ये वही लोग हैं जो कल तक एक पूरी समाज व्यवस्था की गुलामी के बोझ के नीचे दबे हुए थे, जो डरपोक और दब्बू थे, जो छोटे-से-छोटे कानून को तोड़ने से घबड़ाते थे।

1. झूठा सच : वतन और देश : यशपाल, पृ० 67.
2. वही, पृ० 73

आज यदि कसी व्यवस्था के सामने स्वस्थ परिवर्तन का खतरा है तो वह अपनी करोड़ो कीमती जिन्दगियों को सिर्फ इसलिये विवेकहीन साम्प्रदायिकता की आग मे झोंक सकती है, क्योंकि उसे स्वयं को उस खतरे से बचाना है।

इस नाटकीय खेल में समाज का सबसे त्रस्त हिस्सा—स्त्री समुदाय, मनुष्य की पाशविकता का सबसे अधिक शिकार बनता है। वर्गीय समाज-व्यवस्था ने उन्हे मनुष्य के स्तर पर जीने का कभी अवसर नही दिया है। सच्ची मानवीय सहानुभूति और थोड़े बहुत गौरव का अहसास अपनी पीडा में कोई चरित्र देता है तो वह है, तारा, जिसने अपने विद्यार्थी जीवन मे एक मनुष्य की तरह प्रेम करने, जीने और सामाजिक क्रिया में हिस्सा लेने की कोशिश की थी।

साम्प्रदायिकता का आर्थिक पहलू :

उपन्यास के दूसरे खण्ड 'देश का भविष्य' मे यशपाल ने 15 अगस्त 1947 के बाद के भारत का चित्र खींचा है। यहाँ यशपाल ने साम्प्रदायिकता के वैसे ही यथार्थ-पूर्ण चित्र अंकित किये है, जैसे 'वतन और देश' मे लाहौर को लेकर अंकित किये हैं। लेकिन एक साम्प्रदायिकता के दोनों रूपों के बीच जो अन्तर है, उसकी ओर भी उन्होंने संकेत कर दिया है। उनकी दृष्टि मे लाहौर तथा आस-पास के इलाको मे देखी जाने वाली हिंसा साम्प्रदायिकता के साथ-साथ शोषितों की वर्गीय घृणा की भी एक विकृत अभिव्यक्ति थी; जबकि भारत मे होने वाली हिंसा मे वर्गीय घृणा न होकर बदले की भावना और धार्मिक घृणा अधिक थी। मुसलमान प्रायः आर्थिक दुरावस्था के शिकार थे, सामाजिक स्तर पर हीन और उपेक्षित थे। स्वाभाविक था कि उनमे गैर मुस्लिमों—सम्पन्न हिन्दू-सिक्खो के प्रति भयानक असन्तोष होता। लाहौर में इक्यावन फीसदी मुसलमान होने पर भी जमीन जायदाद अस्सी फीसदी से ज्यादा हिन्दुओ की है। साम्प्रदायिक विद्वेष का एक बड़ा कारण यह आर्थिक वैषम्य भी है। पात्रों के वार्तालाप के माध्यम से उपन्यासकार ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है।[1] उसके विचारानुसार "जिस क्लास को एक्सप्लायट किया जायगा, ऐज ए क्लास रिवोल्ट करेगा, तुम्हारा दुश्मन बन जायेगा।"[2]

इस पक्ष की ओर संकेत करते हुए लेखक ने गाँव मे फैलने वाले दंगों का वर्णन किया है। पिछले सैंकड़ो वर्षों से चलती आ रही समाज व्यवस्था मे छोटे किसानो, खेत मजदूरों और घरेलू नौकरों का निरन्तर अमानवीय शोषण हुआ। सामाजिक असमानता की बात इस बीच उनके दिमाग में बहुत गहरे बैठ गई। लेकिन

1. झूठा सच : वतन और देश : पृ०229–230.
2. वही, पृ० 246.

राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में किसान-मजदूर वर्ग कुछ जाग्रत हुआ, और इस कारण गाँवों के जमींदारों, दुकानदारों और व्यापारियों के हितों का खतरा बढने लगा। यदि यह जागृति सही राजनीतिक शक्तियों के सन्दर्भ मे पनपती तो निश्चय ही शोषित हिन्दू-मुसलमान सम्मिलित रूप से जमींदारों, व्यापारियों का विरोध करते। इस खतरे को हमारा शासक वर्ग बखूबी समझ रहा था। अपने वर्ग-हितों तथा निजी हितों से परिचालित मुस्लिम जमींदार व्यापारी वर्ग ने किसानों, मजदूरो की वर्ग-घृणा को साम्प्रदायिकता का रंग देना शुरू कर दिया। यशपाल के विचार से साम्प्रदायिकता के कारण जो नृशंस राजनीति उभरी, उसके दौर मे ज्यादातर निर्धन हिन्दुओं की जानें गईं, उन हिन्दुओं की जो सही राजनीति के प्रभाव में निश्चय ही मुस्लिम किसान-मजदूरों के साथ होते।

विभाजन का प्रभाव और परिणाम :

साम्प्रदायिक दंगों ने जनता को सक्रिय तो कर दिया, हिन्दुओं को एक झण्डे और मुसलमानों को दूसरे झण्डे के नीचे लाकर उनमे 'भाई-भाई' के नारे भी लगवा दिये, लेकिन दोनों ही सम्प्रदायों के अधीन सोचने और जीने वाले लोगो का व्यवहार इससे बदला नहो—लोग अपने सम्प्रदाय और वर्ग के बीच भी पहले जितने बर्बर और स्वार्थी बने रहे। उपन्यास से दूसरे खण्ड में भी यशपाल स्त्री-वर्ग की मानसिक जड़ता और पुरुष-वर्ग की उनके प्रति ज्यादती और अन्याय के कटु चित्र उपस्थित करते हुए यह स्पष्ट करते है कि साम्प्रदायिकता ने न केवल देश की राजनीति को गलत मोड़ देकर शासक-वर्ग की शक्ति बढ़ाई, बल्कि सैकड़ों वर्षों से दलित-शोषित जन-समुदाय को और अधिक घृणित माहौल के बीच पहुँचा दिया। उदाहरणार्थ परिवार से छूट गयो स्त्रियाँ जब दोबारा अपने परिवारो से सम्पर्क कर पाईं तो उन्हें ठुकरा दिया गया। इसके कारण यदि आर्थिक थे तो उससे कहीं अधिक सामाजिक नैतिकता का अभाव और लोगों की अमानवीय चेतना इसके लिये उत्तरदायी थी। एक युवा स्त्री को परिवार द्वारा त्याग दिये जाने पर पास बैठी दूसरी स्त्री कहती है "पेक्के (माता-पिता) इसे नहो ले गये। कह दिया, हमने तो ब्याह दी थी, अब ससुराल वाले जानें। ठीक ही कहते हैं", स्त्री ने और भी गहरा सांस लिया "उन्होंने एक बार निबेड़ दिया।"[1] एक दूसरो स्त्री बन्तो पति, जेठ और सास द्वारा ठुकराई जाने पर पति के दरवाजे की दहलीज से सिर फोड़कर प्राणान्त कर लेती है।

उपन्यास के दूसरे भाग 'देश का भविष्य' में प्रारम्भ से ही जो दृश्य दिखाई पड़ते है, वे इस तथ्य को स्पष्ट करते है कि परिवर्तन जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया

---

1. झूठा सच : वतन और देश, पृ० 103.

है। यदि समाज उसे व्यक्ति एवं समूह—दोनों स्तरों पर स्थान करने दे तो जीवन सहज ढंग से विकसित होता रहेगा, अन्यथा परिवर्तन का क्रम रुद्ध होते-होते एक दिन विस्फोटक रूप धारण कर लेगा, जिसके स्फोट मे सारी प्रतिक्रियावादी बाधाएँ जलकर नष्ट हो जायेंगी और जीवन अपने को नये सिरे से शुरू करेगा। वतन-परिवर्तन के बाद असंख्य हिन्दू-सिक्ख-मुसलमानों को नया जीवन प्रारम्भ करना पड़ा, इसलिये भी कि परिवर्तन के नियमो का माँग उन्होंने अनसुनी कर दी थी; बदले हुए युग के अनुसार जीवन को, उसकी मान्यताओं-धारणाओ तथा धर्म-सम्प्रदाय को बदलने से इन्कार कर दिया था। विभाजन से पूर्व अन्तर्जातीय विवाह, लड़कियों के नौकरी करने जैसी जो अनेक बातें अनुचित मानी जाती थी, विभाजन के बाद उचित हो गयी। 'कहाँ रही फिर शाश्वतता की मान्यता? वस्तुतः सारे नियम और विधि-निषेध जीवन को बेहतर बनाने के लिये होते है।...ये उपरि-संरचनाएँ है। जीवन के बदल जाने पर उपरि-संरचनाओं को बदल देना आवश्यक होता है, पर जब समाज विवेक शून्यता के कारण उपरि-सरचनाओ को ही जीवन की अपेक्षा अधिक महत्व देने लगता है, तो जीवन मे सड़ाध और विसंगतियों का भर उठना अवश्यंभावी हो जाता है, और तब वैसे ही परिणाम भुगतने पड़ते हैं, जो झूठा-सच के पात्रो को भोगने पड़े है। 'झूठा-सच' मे चित्रित तत्कालीन जीवन का यह सामाजिक पहलू है।'[1]

शरणार्थियो के पुनर्स्थापन की कथा :

विभाजनकालीन घटनाएँ इतिहास के एक बिन्दु पर समाप्त हो जाने वाली घटनाएँ नही हैं, वरन् इन्होंने दोनो देशो की जीवन-व्यवस्था और जीवन-मूल्यो को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। शरणार्थियों की समस्या देश और समाज के लिए एक नयी समस्या थी, जिसने राजनीति को ही नही, सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था को आन्दोलित किया। अपना 'वतन' छोड़कर अपने 'देश' में पहुँचे लोगों की आँखों के सामने अंधकारमय भविष्य था, साम्प्रदायिक वहम और जुल्म ने उनके जीवन को एक अंधे मोड़ पर ला खड़ा किया था।[2] अब उन्हे जिन्दा रह सकने के अवसर के लिये अपेक्षा थी कड़े संघर्ष और प्रबल आत्मविश्वास की। इस दारुण और असहाय स्थिति से उबरने के लिये पश्चिमी पाकिस्तान से आये शरणार्थियों ने कड़ा संघर्ष करते हुए अपने साहस और कर्मठता का परिचय दिया और अपने दृढ़ निश्चय से उन्होंने बहुत हद तक समाज को प्रभावित किया। 'झूठा सच' का दूसरा खण्ड 'देश का भविष्य'

1. मार्क्सवाद और उपन्यासकार यशपाल—डा० पारसनाथ मिश्र, पृ० 234.
2. "उतरा बहनो, बेटियों, तुम्हारा 'वतन' तो छूटा पर अपने 'देश' में अपने लोगों मे पहुच गयी। परमेस्वर को धन्यवाद दो।" "रब्ब ने जिन्हें एक बनाया था, रब्ब के बन्दों ने अपने वहम और जुल्म से उन्हे दो कर दिया।"
—झूठा सच : वतन और देश, पृ० 482.

इन्हीं शरणार्थियों के पुरुषार्थ और आत्मविश्वास की कहानी कहता है।[1] पुरुष तो पुरुष स्त्रियाँ भी नये आत्मविश्वास के साथ जीवन-संघर्ष में कूद पड़ीं। जीविका की समस्या ने उन्हें नये मार्ग बनाने को प्रेरित किया। इस प्रकार परिस्थितिजन्य विवशता ने एक ओर नारी में आत्मविश्वास और आत्म-सम्मान का भाव पैदा किया, दूसरी ओर उन्हें परिवारों की सीमा से मुक्त कर दूसरे लोगों से मेल-जोल बढ़ाकर स्वच्छन्द आचार का मार्ग खोला। इतना ही नहीं, पुरुष और नारी, दोनों में जहाँ कर्मठता उभरी, वहीं धूर्तता, असत्य-प्रियता और चोरी का भी उदय हुआ और धीरे-धीरे वह एक स्थायी भाव बन गया।

इस प्रकार नयी परिस्थिति और परिवेश में नवीन आवश्यकताओं के कारण शरणार्थियों के जीवन-मान तो बदले ही, साथ-ही-साथ यहाँ के समाज के नये जीवन-मान को भी उन्होंने प्रभावित किया। बनते हुए नये परिवेश के सम्बन्ध तथा टूटते हुए नैतिक मानों को पहचान कर यशपाल ने उनका बड़ा यथार्थ चित्र अंकित किया है।

मानवीय संवेगों की कथा :

किन्तु यह कथा केवल विभाजन की कथा नहीं; उस कथा के भीतर भी एक कथा चलती है—वह है मानव-मन की कथा। यशपाल मनुष्य को उसके परिवेश से

---

1. "अब बात थी, अपनी जड़ों से उखाड़कर, अपने घर बार से निकालकर पूर्व में धकेल दिये गये करोड़ों नर-नारियों के जिन्दा रह सकने के अवसर के लिये संघर्ष की। अपनी पुरानी जड़ें उखड़ जाने और पुरानी परिस्थितियों की बुनियादें और सीमाएँ टूट जाने से उन्हें परम्परा में बाँधे रहने वाली उनकी रूढ़ियाँ और संस्कार भी निर्बल हो गये थे। अब उन्हें समस्याओं को पुराने विश्वासों से नहीं, अपनी परिस्थितियों, जरूरतों से अपने यथार्थ अनुभव से देखने की मजबूरी थी। उनकी दारुण और असहाय स्थिति में उनके सब पुराने बन्धनों के टूट जाने से ही उन्होंने अपना भाग्य स्वयं बनाने की मजबूरी में स्वतन्त्रता, साहस और कर्मठता की शक्ति पायी। इस सब के लिये उन्हें अपने अतीत जीवन की तुलना में समयानुकूल नये दृष्टिकोण और नये व्यवहार, जिनका वे अतीत में विरोध ही करते, अपनाने पड़े। वे बिल्कुल नये व्यक्ति बन गये। .. उनके उदाहरण, संगति और प्रभाव से जागी प्रतिद्वन्द्विता में रूढ़ि और परम्परा के संस्कारों की जकड़ और भाग्यवाद की अकर्मण्यता से शिथिल अन्य-प्रदेशों के लोगों में भी अपने भाग्य को बदल सकने की चेतना की सक्रियता कुनमुनाने लगी। इस तथ्य को 'झूठा सच' की कहानी के माध्यम से उजागर करना आवश्यक था।"
'झूठा सच' के संस्मरण : यशपाल : आधुनिक हिन्दी उपन्यास : सम्पादक—भीष्म साहनी, रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया, पृ० 114-115.

अलग करके नहीं देखते, इसलिये मानव मन की कथा का अर्थ है उसके ऊपर पड़े हुए वर्ग, परिवेश, परम्परा और काल के संस्कार की कथा। विभाजन की समस्याओं ने तारा, कनक, शीलो, पुरी, गिल, सूद, सोमराज, चड्ढा, असद आदि के चरित्रों को एक विराट् परिवेश मे ला खड़ा किया, जहाँ उनके वास्तविक रूप को खुलने का अवसर प्राप्त हुआ, परिस्थितिजन्त दबावों ने उनके चरित्रो को अनेक नये मोड़ दिये। वस्तुतः लेखक की अपनी दृष्टि इन चरित्रों को देखने-परखने मे ही दिखाई पड़ती है, ऐतिहासिक घटनाओं के यथा तथ्य चित्रण में नहीं। मार्क्सवादी दृष्टि या दर्शन आरोपित न करते हुए भी यशपाल ने सम्पूर्ण यथार्थ के स्वरूप और परिणतियों को समाजवादी दृष्टि से देखा है, इसीलिये वे यह पहचान लेते है कि प्रगतिशीलता का दम भरने वाला मध्यवर्गीय संस्कारों का व्यक्ति अन्दर से बुर्जुआ होता है और अवसर मिलने पर वह प्रतिक्रियावादी आचार-व्यवहार का प्रदर्शन करता है। जयदेव पुरी निर्धन मध्यवर्गीय परिवार का मेधावी युवक है। उदार और प्रगतिशील विचारो वाला यह व्यक्ति गरीबी से संघर्ष करने के लिये अनेक छोटे-मोटे काम करता है। किन्तु बाद मे सूदजी के सम्पर्क में आने पर वह धीरे-धीरे ऊँचा उठता है, सम्पत्ति और मद मे डूबने लगता है, और उसकी सारी प्रगतिशीलता बुर्जुआ वर्ग की प्रतिक्रियावादिता मे परिणत हो जाती है। वह अपनी बहिन तारा को असद से विवाह की अनुमति नही दे पाता; पत्नी कनक से भी बुर्जुआ व्यवहार करता है। अन्य पात्रो की विसंगतियों को भी लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। नारी-पुरुष सम्बन्धो की संगति-विसंगति को गहराई से चित्रित करने के लिये वह कई युग्मो की अवतारणा करता है, उसकी प्रगतिशील दृष्टि इन सम्बन्धो में प्रताड़ित अपमानित, यातनाभोगी नारी की नियति तक ही सीमित नहीं रहती, बल्कि मान्य सम्बन्धो के नैतिक कटघरे को तोड़कर नारियों को बाहर लाती है, पुरुषो की चुनौती स्वीकार कर स्वतन्त्र व्यक्तिगत बनाने की उनकी ऐतिहासिक माँग को पहचानती है, उनकी स्वतंत्रता का मार्ग आलोकित करती है, किन्तु यह सब व्यक्तित्वों की शक्ति और संस्कार की परिधि मे ही डूबा हुआ है। जहाँ तारा और कनक जैसी स्वाभिमानी स्त्रियाँ पतियों को छोड़कर दूसरा विवाह कर लेती हैं, वहाँ बंटी अपने पति से त्यक्त होकर उसकी दहलीज पर सिर पटक-पटक मर जाती है। इस प्रकार पूरा उपन्यास सामाजिक जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ को गहराई से उभारता है।

'झूठा सच' वैसे तो मुख्य रूप से सामान्य जन-जीवन का ही चित्रण करने वाला उपन्यास है, जिसमे थोड़े-बहुत विशिष्ट व्यक्तियों के भी दर्शन होते हैं, पर वास्तविक रूप मे सामान्य जन-जीवन को प्रस्तुत करने वाले पात्र हैं—फल बेचने वाला राई, घी बेचने वाला ग्वालिन, मोची दरवाजे के मुसलमान मजदूर और कारीगर पेशा लोग टाँगे वाले सब्जी, शर्बत आदि बेचने वाले हिन्दू-मुसलमान कुंजड़े, रेस्तरां के

नौकर और बैरे, रिक्शा कुली, स्वतन्त्रता समारोह के अवसर पर प्रसन्नता से पागल होकर नाचने-गाने वाले पहाड़ी युवक और युवतियाँ आदि। इनका जीवन अज्ञान और अशिक्षा के कारण प्राचीन संस्कारों और मान्यताओं से बुरी तरह जकड़ा हुआ है। इन्हें किसी राजनीतिक दल या देश की अच्छी-बुरी अवस्था में कोई विशेष मतलब नहीं है। रोटी-कपड़े की चिन्ता में डूबे निम्नवर्गीय लोगों को किसी धर्म या सम्प्रदाय से कोई खास सरोकार नहीं। किन्तु अपने अज्ञान और अविवेक के कारण वे धूर्त राजनीतिज्ञों द्वारा बड़ी आसानी से बरगला दिये जाते हैं। चूँकि बरगलाहट की स्थिति में तैश में आकर ये धर्मोन्माद और साम्प्रदायिक विद्वेष से भर उठते हैं, इसलिये ऐसे अमानवीय दुष्कर्मों का वज्रपात सबसे पहले और सर्वाधिक भयानक रूप में इन्हीं पर होता है। इनमें भी जो जितना ही सीधा और निर्मल हृदय होता है, वह इस निर्मम पाशविकता का ग्रास उतनी ही जल्दी बनता है। भोलापांधे की गली का दौलूमामा ऐसा ही उदाहरण है। उसकी निर्मम हत्या, चाहे उसकी निरीहता और अकिंचनता को ही प्रकट करे, वह पाठक की मानवीय सवेदनाओं को पूरी ताकत से झकझोर देती है। दौलूमामा की हत्या इन्सान से अधिक इन्सानियत की हत्या है।[1] इस अमानवीयता और पाशविकता का कारण है वह अवैज्ञानिक जीवन-दृष्टि जो मनुष्य को मनुष्य न मानकर उसे हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख आदि के खानों में बाँट देती है। यशपाल ने इस सारे वर्णन के माध्यम से सही वैज्ञानिक जीवन दृष्टि अपनाने की अनिवार्यता को व्यंजना के सहारे समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है।

भीष्म साहनी :

तमस :

प्रगतिवादी उपन्यासकार भीष्म साहनी रचित 'तमस' (1973) उन उपन्यासों की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, जो मूलतः विभाजन के आधार बनाकर लिखे गये हैं। उपन्यास का कथा काल विभाजन पूर्व का है। यह वह समय है जब कैबिनेट मिशन की योजना के अनुसार केन्द्र में अन्तरिम सरकार बन चुकी थी। पं० नहरू इस सरकार के प्रमुख थे। लार्ड माउंटबेटन विभाजन के अनुकूल वातावरण बनाने के लिये यत्नशील थे। प्रस्तुत उपन्यास का परिवेश पंजाब के एक जिले का है। यह जिला

---

1. "मामा न यूनियनिस्ट मन्त्री-मंडल से मतलब रखता था, न लीग की नजारत से। वह तो मानव था, केवल निरीह मानव।... दौलू मामा ने एक खाट की जगह के लिये भी, एक रोटी के लिये भी कभी किसी से झगड़ा नहीं किया। वह किसकी सफारत और रियासत की राह में बन रहा था?
झूठा सच वतन और देश पृ० 121

और उसके आस-पास के देहाती इलाको में छाये साम्प्रदायिक तनाव, संघर्ष तथा फिसाद को यहाँ कथावस्तु के रूप मे लिया गया है।

दो खण्डों मे विभाजित इस उपन्यास की कथावस्तु का आरम्भ नत्थू नामक एक मामूली चमार द्वारा सूअर मारने के प्रकरण से होता है। मुरादअली नामक व्यक्ति ने डाक्टरी काम के लिये एक मरे हुए सूअर की माँग की है। बड़ी मुश्किल से नत्थू इस काम को पूरा करता है। सुबह जमादार अपने छकड़े पर लादकर सूअर ले जाता है। सूअर मरवाने का वास्तविक उद्देश्य नत्थू पर तब प्रकट होता है, जब उसे पता चलता है कि मस्जिद की सीढ़ियों पर एक मरा हुआ सूअर पड़ा है। सारे कस्बे में यह खबर आग की तरह फैल जाती है। सूअर की मौत का बदला गाय के खून से लिया जाता है। हिन्दू और मुसलमान दोनो अपनी-अपनी सुरक्षा की तैयारियाँ प्रारम्भ कर देते हैं। स्थिति धीरे-धीरे विस्फोटक हो रही है लेकिन सत्ता के सूत्रधार अंग्रेज बहादुर खामोशी से सब कुछ देख रहे हैं। उसी रात मण्डी में आग लगा दी जाती है। नफरत की आग तेजी से फैलती जा रही है।

उपन्यास के दूसरे खण्ड में उस जिले के आस-पास के देहातों में फैले साम्प्रदायिक तनाव का चित्रण है। ढोक इलाहीबख्श नाम के छोटे से देहात के वृद्ध सिख दम्पति—बन्तो और हरनामसिंह बलवाइयों के आने की सूचना पाकर थोड़ी बहुत पूँजी और बन्दूक सभाले दुकान को ताला लगाकर निकल आते हैं। रात भर चलने के बाद वे एक मुस्लिम बहुसंख्यक देहात—ढोक मुरीदपुर पहुँचते हैं, जहाँ एक मुस्लिम स्त्री राजो उन्हे आश्रय देती है। हरनामसिंह का पुत्र इकबाल सिंह भागते समय पकड़ा जाता है और इस शर्त पर उसकी जान बख्श दी जाती है कि वह इस्लाम कबूल कर लेगा। हरनामसिंह की बेटी जसबीर ने, जिसका विवाह सैयदपुर मे हुआ है, इस समय गाँव के सभी सिखो के साथ गुरुद्वारे मे शरण ले रखी है। वहाँ मुसलमानो से लोहा लेने की तैयारियाँ की जा रही हैं। बलवाई बाहर से आते है। आत्म-बलिदान की तत्पर स्त्रियाँ कुएँ में कूद पड़ती है। सिख लोहा लेते हैं। रात के किसी पहर लूट-पाट बन्द हो जाती है। प्रातःकाल के समय जब गुरुद्वारे मे युद्ध-परिषद् की बैठक चल रही है, अंग्रेज बहादुर के हवाई-जहाज आकाश मे उड़ते दिखाई पड़ते हैं। सभी लोग ठिठक जाते हैं। लड़ाई बन्द हो जाती है; माहौल बदल जाता है। फिसादों के चौथे दिन डिप्टी कमिश्नर साहब ने कर्फ्यू लगा दिया है। इन चार-पाँच दिनों मे जो हजारो लोग बेघरबार हुए हैं, उनके लिये कैम्प लगाये जा रहे हैं। चुस्ती से काम मे जुटे हुए डिप्टी कमिश्नर साहब सबकी प्रशंसा प्राप्त कर रहे है। रिफ्यूजी कैम्प बन गये हैं। रिलीफ कमेटी भी बन गई है। नुकसान के आँकड़े इकट्ठे किये जा रहे हैं। अमन कमेटी बन गयी है और अमन कमेटी की बस मे सबसे आगे बैठकर एकता

का नारा लगाने वाला वही मुराद अली है, जिसने नत्थू चमार से सुअर मरवाकर मस्जिद की सीढ़ियों पर फिकवाया था।

दंगों के समय देश में कार्यरत शक्तियाँ :

उपन्यास में वर्णित इस जिले में छः विभिन्न शक्तियाँ कार्य करती दीख पड़ती हैं। कम अधिक मात्रा में हिन्दू-मुस्लिम दंगों के समय सारे देश में यही छः शक्तियाँ कार्यरत थीं। इनमें से चार—कांग्रेस, आर्यसमाज, सिख समाज और कम्युनिस्ट—विभाजन के विरोध में तथा लीग पक्ष में हैं। अंग्रेज—जिनके हाथों में सुरक्षा के सारे सूत्र थे, हृदयहीन तटस्थता के साथ दर्शक बने हुए थे।

अंग्रेज :

सत्ता के सर्वोच्च शिखर पर अंग्रेज है। डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड साम्राज्यवादी ब्रिटिश राज्य का सच्चा एवं ईमानदार प्रतिनिधि है। यद्यपि वह इतिहास का सजग विद्यार्थी है, उसके बंगले में भारतीय इतिहास से सम्बन्धित दर्जनों वस्तुएँ संग्रहीत हैं; किन्तु प्रशासन की कुर्सी पर वह ब्रिटिश राज्य का सच्चा प्रतिनिधि है।[1] उसके आदर्श अलग हैं और आचरण अलग।[2] भारतीयों के स्वभाव का उसका अध्ययन बहुत ही पक्का है "सभी हिन्दुस्तानी चिड़चिड़े मिजाज के होते है, छोटे से उकसाये पर भड़कने वाले धर्म के नाम पर खून करने वाले, सभी व्यक्तिवादी होते हैं।"[3] इस स्वभाव का फायदा अंग्रेज उठा रहे हैं; रिचर्ड भी यही कर रहा है। उसका काम हुकूमत करना है और 'हुकूमत करने वाले यह नही देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पाई जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने मे होती है कि वे किन-किन बातों में एक दूसरे से अलग है।"[4] अपनी गद्दी की सुरक्षा के लिये वह हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को भड़का रहा है।[5] जब कांग्रेस तथा शहर के अमन पसन्द लोगों का शिष्टमण्डल उससे मिलकर शहर की तनावपूर्ण स्थिति को नियंत्रित करने का आग्रह करता है, वह व्यंग्यपूर्वक कहता है "ताकत तो इस वक्त पंडित नेहरू के हाथ में है..."[6] फिसाद रोकने के लिये फौज की चौकियाँ बिठा देने के आग्रह का जवाब है "मैं तो डिप्टी कमिश्नर हूँ, फौज का इन्तजाम तो मेरे हाथ में नही है।[7] कर्फ्यू लगाने के

1. तमस : भीष्म साहनी, पृ० 44.
2. वही, पृ० 45.
3. वही, पृ० 48.
4. वही, पृ० 49.
5. अगर प्रजा आपस मे लड़े तो शासक को किस बात का खतरा है ?
   वही, पृ० 21.
6. वही, पृ० 81.
7. वही, पृ० 82.

प्रस्ताव को तो वह अस्वीकार कर ही देता है, बख्शीजी के इस प्रस्ताव का कि अगर एक हवाई जहाज ही शहर के ऊपर उड़ जाये तो दंगे रोके जा सकते हैं, वह उत्तर देता है" हवाई जहाजों का महकमा भी मेरे अधीन नहीं है। अन्त में यह व्यंग्यपूर्ण उत्तर देकर कि "वास्तव मे मेरे पास आपका शिकायत लेकर आना ही गलत था। आपको तो पण्डित नेहरू या डिफेंस-मिनिस्टर सरदार बलदेवसिंह के पास जाना चाहिये था। सरकार की बाग-डोर तो उनके हाथ में है।"[1] वह उन्हे विदा करता है। रात के समय, जब शहर मे दंगे शुरू हो जाते हैं, वह लीजा के सामने उनके धार्मिक झगड़ो में दखल न देने का निश्चय प्रकट करता है। दरअसल जब तक वे आपस मे लड़ रहे है तभी तक ब्रिटिश राज्य का यह प्रतिनिधि सुरक्षित है।[2] चार दिनों तक दंगे-फिसाद, लूट-मार और हत्याकाण्ड हो चुकने के बाद अंग्रेज बहादुर की नीद टूटती है। जब खूबसूरत गाँव जल जाते है, गलियाँ सुनसान हो जाती है; वायुमण्डल मे ब्रिटिश सरकार के हवाई जहाज की धीमी, घरघराती-सी अवाज गूंजने लगती है।[3] 'जिस-जिस गाँव पर से हवाई जहाज उड़ता गया, वही पर ढोल बजने बन्द हो गये, नारे लगाए जाने बन्द हो गये। आगजनी और लूटपाट बन्द हो गई।'[4] अब शहर मे फौज तैनात कर दी गई, कर्फ्यू लगा दिया गया, बख्तरबन्द गाड़ी मे सिटी मेजिस्ट्रेट और डिप्टी कमिश्नर सिपाहियो के साथ शहर का दौरा करने लगे। रिफ्यूजी कैम्प खोलने की योजना बनी, लाशो को इकट्ठा किया जाने लगा। हर खबर मे डिप्टी कमिश्नर का नाम जरूर सुनने में आता है। सरकार का रुख देखकर सार्वजनिक सस्थाओं के नेता चहलकदमी दिखाने लगते है, सरकारी अफसरो में भी चुस्ती आ जाती है। यहाँ तक कि सियासी हल्को में भी डिप्टी कमिश्नर के बारे में राय बदलने लगती है।[5] रिलीफ कमेटी के दफ्तर मे, रिचर्ड सरकार की

---

1. तमस पृ० 83.
2. "क्या यह अच्छी बात होगी कि ये लोग मेरे खिलाफ लड़ें, मेरा खून करे ?"... "कैसा रहे अगर इस वक्त ये आवाजें मेरे घर के बाहर उठ रही हो, और ये लोग मेरा खून बहाने के लिए सगीने उठाये बाहर खड़े हो ?"
   वही, पृ० 122.
3. वही, पृ० 241.
4. वही, पृ० 243.
5. " यह आदमी वास्तव में प्रशासन के काम के लिए बना ही नही है, वह तो कोमल अनुभूतियों वाला किताबी आदमी है, जिसे ब्रिटिश सरकार ने इस काम पर लगाकर उसके साथ बहुत बड़ा अन्याय किया है। हाँ कुछ सियासी लोग अभी भी इसे गालियाँ दे रहे थे और कह रहे थे कि सब इसी का किया-कराया है।
   वही पृ० 244-245

रिलीफ सम्बन्धी योजना का ब्यौरा दे रहा है। शहर में फौज तैनात है, पुलिस की गश्त भी जारी है। वहाँ कोई यह पूछने वाला नहीं है कि यह सारी व्यवस्था तनाव शुरू होने के पहले क्यों नही की गई। डिप्टी कमिश्नर के चले जाने के बाद बख्शीजी की मनःस्थिति भी कुछ-कुछ वैसी ही हो जाती है "फिसाद करवाने वाला भी अंग्रेज, फिसाद रोकने वाला भी अंग्रेज, भूखों मारनेवाला भी अंग्रेज, रोटी देने वाला भी अंग्रेज, घर से बेघर करने वाला भी अंग्रेज, घरों में बसाने वाला भी अंग्रेज...[1]" दंगों के इस माहौल मे भी रिचर्ड नये-नये पक्षियों की आवाजें सुन लेता है। उसके लिये इसमे कोई विशेष बात नही है। "सिविल सर्विस हमें तटस्थ बना देती है। हम यदि हर घटना के प्रति भावुक होने लगें तो प्रशासन एक दिन भी नहीं चल पाएगा।[2] 103 गाव जल जाएँ तो भी नहीं क्योंकि "यह मेरा देश नही है। न ही, ये मेरे देश के लोग हैं।"[3] स्पष्टतः रिचर्ड ब्रिटिश सरकार के एक ईमानदार प्रशासक के रूप में सामने आया है। उसके विविध वक्तव्य यह स्पष्ट करते हैं कि अंग्रेज दो धर्मों के तनाव को किसी भी स्तर पर कम करने को तैयार नहीं। हाँ, काफी कुछ हो जाने के बाद बहुत कुछ करने का नाटक वे जरूर करते हैं।

कांग्रेस :

कांग्रेसी कार्यकर्ता अवश्य दोनों सम्प्रदायो के आपसी तनाव को कम करने की चेष्टा करते है। किन्तु पृथक्‌तावादी शक्तियो के सम्मुख वे अकेले पड़ते जा रहे हैं। कांग्रेस में सभी सम्प्रदायो के लोग हैं। बख्शी जी, रामदास, मि० मेहता, कश्मीरी लाल, जरनैल, अब्दुलगनी इस जिले के प्रमुख कांग्रेसी कार्यकर्ता हैं। गांधी जी के सिद्धान्तों पर अमल करने का वे भरसक प्रयास करते हैं। प्रभातफेरी निकालना और तामीरी काम के प्रदर्शन द्वारा लोगों का ध्यान सफाई की ओर दिलाने के कार्यक्रम भी चला करते हैं। अंग्रेज हिन्दू-मुस्लिम तनाव को बढ़ा रहे हैं और लीगी इस तनाव का फायदा उठा रहे है—इसे कांग्रेसी बख्शी जी बखूबी जानते हैं। तामीरी काम के दौरान जब उन्हे पता चलता है कि मस्जिद की सीढ़ियो पर कोई सूअर मार कर फेंक गया है, अन्य साथी कार्यकर्ताओं की तरह वे उस इलाके से बचकर निकल भागने को नही सोचते, बल्कि सुअर की लाश को स्वयं वहाँ से हटा देने का निश्चय करते हैं। लाश को हटा देने के बाद जब उनकी दृष्टि एक भयभीत गाय को हाँककर ले जाते व्यक्ति पर पड़ती है, वे अत्यन्त चिन्तित हो उठते है। एक-एक सदस्य को घर से पकड़-पकड़ कर इकट्ठा करने के बाद वे डिप्टी कमिश्नर के पास तनाव को रोकने के आग्रह के साथ जाते है। डिप्टी कमिश्नर का रुख देखकर जहाँ बाकी लोग चुप

---

1. तमस, पृ० 250.
2. वही, पृ० 255.
3. वही, पृ० 255.

हो जाते हैं, बख्शी जी उत्तेजित होकर बोलते ही जाते हैं। लेकिन कुछ हो नही पाता। फिसाद होने हैं और यद्यपि बख्शी जी अच्छी तरह जानते है कि यह सब अंग्रेजो के कारनामे हैं, फिर भी दंगों के बाद वे अपना ध्यान अमन कायम करने पर केन्द्रित करते हैं। सरकार को गालियाँ देने से कुछ नही मिलने वाला है, वे जानते हैं। "पर जबसे फिसाद शुरू हुए थे, बख्शी जी के दिमाग मे धूल-सी उड़ने लगी थी, बस केवल इतना भर ही बार-बार कहते रहे, अंग्रेज फिर बाजी ले गया। पर शुरू से आखीर तक स्थिति उनके काबू मे नही आई।"[1] वे हिंसा और अन्याय के विरोधी हैं। दंगे के बाद जब कांग्रेसी गांधी जी के अहिंसक मार्ग के प्रति अविश्वास प्रकट करते हैं[2], तब भी बख्शी जी अहिंसा पर से अपना विश्वास नही खोते "तू खुद तहशुद नहीं कर। नम्बर एक। तू तहशुद करने वाले को समझा भी, अगर समझाने का मौका है तो। नम्बर दो। अगर वह नही मानता तो डटकर मुकाबला कर। यह है नम्बर तीन।[3] लेकिन जब कश्मीरी लाल पूछता है "किसके साथ मुकाबला करूँ ?" चरखे के साथ ?"......"तलवार रखने की इजाजत है न मुझे ? क्यों बख्शी जी ?"[4] तब वे निरुत्तर हो जाते हैं। फिसादों के बाद यह सारी बहस उन्हें स्वयं भी बेतुकी लगती है। फिर भी अन्य कांग्रेसियों की अपेक्षा वे अधिक शान्त, गम्भीर और निष्ठावान हैं।

जनरैल इस कस्बे का एक और ईमानदार कांग्रेसी सैनिक है। उसकी उम्र पचास से ऊपर है—बरसों की जेल के बाद उसके शरीर मे कुछ रह नही गया है। जवानी के दिनों में लाहौर-कांग्रेस के समय वह अपने शहर से लाहौर मे वालण्टियर बन कर गया था। तभी से वह वालण्टियर की वर्दी पहनता आया है। उसका न कोई घर है न परिवार। वह सनकी और अशिक्षित है, किन्तु निर्भय है। सुअर की लाश मस्जिद की सीढियों पर दिखलाई देने के बाद वह चिल्ला-चिल्ला कर कहता है "यह अंग्रेज की शरारत है, मैं जानता हूँ।" शहर में दंगा शुरू होने के दिन ही वह मारा जाता है। तनाव के बीच वह यह सोचकर अकेला ही निकलता है कि "शहर में दंगा हो रहा है, यह क्या कोई अच्छी बात है और वे सभी कांग्रेसी गद्दार हैं जो घर पर बैठे हुए हैं।[5] साम्प्रदायिक एकता के लिये वह जगह-जगह तकरीर

1. तमस, पृ० 250.
2. "अगर कोई तुम पर हमला करे तो तू उसे कहना, ठहर मैं कांग्रेस के दफ्तर से पूछ आऊँ कि मुझे अपना बचाव करना है या नहीं।
   —वही, पृ० 264.
3. वही, पृ० 265.
4. वही, पृ० 265.
5 वही, पृ० 156

करने लगता है। तभी लाठी के एक भरपूर वार से जरनैल की खोपड़ी फोड़ दी जाती है और वह वहीं ढेर हो जाता है। जरनैल का खून वास्तव में शान्ति, अहिंसा, मैत्री और भाई चारे का खून है।

आर्यसमाज :

एकता का प्रयास करने वाली इन क्षीण शक्तियों के साथ अलगाव बढ़ाने वाली जो शक्तियाँ सक्रिय हैं, उनमें आर्यसमाज प्रमुख है। इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व पुण्यात्मा वानप्रस्थीजी, मन्त्रीजी, देवव्रत, बोधराज, लाला लक्ष्मीनारायण लाल, उनका बेटा रणवीर आदि करते हैं। साप्ताहिक सत्संग में पुण्यात्मा वानप्रस्थी जी प्रार्थना के गीत में समस्त चर-अचर जगत के सुख की कामना करते हैं, किन्तु प्रवचन देते समय वे भूल जाते हैं कि मुसलमान भी इस चर-अचर जगत् के एक भाग है। आवाज ऊँची कर वे मर्मभेदी स्वर में ये पंक्तियाँ पढ़ते हैं—

फैलाये घोर पाप यहाँ मुसलमीन ने।
नेअमत फलक ने छीन ली, दौलत जमीन ने।[1]

अन्तरंग सभा में शहर की अवस्था पर विचार करते समय वे हिन्दुओं को सावधान करते हैं—"सबसे पहले अपनी रक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। सभी सदस्य अपने-अपने घर में एक-एक कनस्तर कड़वे-तेल का रखें, एक-एक बोरी कच्चा या पक्का कोयला रखें। उबलता तेल शत्रु पर डाला जा सकता है, जलते अंगारे छत पर से फेंके जा सकते हैं······"[2] ये सैंकड़ों वर्षों से साथ रहते आये हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे के शत्रु के रूप में उभारने के लिये हर तरह से प्रयत्नशील है। इसी कारण हिन्दू-मुस्लिम एकता की समर्थक कांग्रेस उनकी आलोचना का शिकार बनती है।[3]

अखाड़ा संचालक मास्टर देवव्रत भी इसी की कड़ी हैं, रणवीर जैसे तरुणों को वे मुस्लिम-विरोधी शिक्षा दे रहे हैं। रणवीर जब छोटा था "तो मन्त्रमुग्ध सा मास्टर जी के मुँह से वीरों की कहानियाँ सुना करता था—······शहर के आस-पास के पहाड़ों को देखता तो उन पर उसे कभी चेतक घोड़ा दौड़ता नजर आता, कभी किसी चट्टान पर घोड़े की पीठ पर बैठे शिवा जी नजर आते, दूर तुर्कों के लश्करों की ओर देखते हुए, जब शिवा जी म्लेच्छ सरदार से बगलगीर हुए थे।"[4] उसकी

1. तमस, पृ० 65.
2. वही, पृ० 66.
3. "यह सारा काम कांग्रेसियों ने बिगाड़ा हुआ है। उन्होंने ही मुसलो। को सिर चढ़ा रखा है।"
—वही, पृ० 68.
4. वही, पृ० 72.

आँखों के सामने बारम्बार म्लेच्छ घूम जाते हैं। अलगाव पैदा करने वाली इस शिक्षा का ही परिणाम है कि इन्द्र एक निर्दोष इत्रफरोश की हत्या कर देता है। एक दो-मंजिले घर की ऊपर वाली मंजिल में शस्त्रागार बनाया जाता है। वहाँ उपस्थित चारों योद्धाओं के दिल कसमसा रहे हैं। "रणभूमि में उतरने और अपने जौहर दिखाने का समय आ गया था। छज्जे के पीछे खड़े वे वैसा ही महसूस कर रहे थे जैसा चट्टानों की आड़ में खड़े राजपूत नीचे हल्दीघाटी में आने वाले म्लेच्छों का इन्तजार करते हुए महसूस करते रहे होंगे। म्लेच्छों पर टूट पड़ने का वक्त आ गया था।"[2]

मुस्लिम लीग :

गलतफहमियाँ फैलाने और अलगाव बढ़ाने का ऐसा ही काम मुस्लिम लीग मुस्लिम समाज में कर रही है। लीग का मामूली-सा कार्यकर्ता भी जिन्ना के शब्दों में बोल रहा है।[3] इनकी नजर में "मुसलमान का दुश्मन हिन्दू नहीं है, मुसलमान का दुश्मन वह मुसलमान है जो दुम हिलाता हिन्दुओं के पीछे-पीछे जाता है, उनके टुकड़ों पर पलता है।"[4] वे यह मानने को तैयार नहीं कि असली शत्रु अंग्रेज है।[5]

गोलड़ा शरीफ के पीर भी इसी साम्प्रदायिक कट्टरता का प्रतिनिधित्व करते हैं।[6] नफरत की आग को फैलाने के लिये सबसे अधिक जिम्मेदार है मुराद अली जो नत्थू से सुअर मरवा कर मस्जिद की सीढ़ियों पर फिकवा देता है और बाद में हिन्दू-मुस्लिम एकता के नारे लगाता है।

1. पड़ोस में सड़क के किनारे बैठा मोची म्लेच्छ है, घर के सामने टाँगा हाँकने वाला गाड़ीवान म्लेच्छ है, मेरी ही कक्षा में पढ़ने वाला हमीद म्लेच्छ है, गली में मंजीफा माँगने वाला फकीर म्लेच्छ है......वैसा ही कोई म्लेच्छ योगीराज की समाधि भंग करने हिमालय पर जा पहुँचा होगा।
   —तमस, पृ० 72
2. वही, पृ० 158.
3. "कांग्रेस हिन्दुओं की जमात है। इसके साथ मुसलमानों का कोई वास्ता नहीं है।" "कांग्रेस मुस्लिमों की रहनुमाई नहीं कर सकती।"
   वही, पृ० 34.
4. वही, पृ० 90.
5. 'हमारा अंग्रेज ने क्या बिगाड़ा है ओए ? हिन्दू-मुसलमान की अदावत पुराने जमाने से चली आ रही है। काफिर-काफिर है और जब तक दीन पर ईमान नहीं लायेगा वह दुश्मन है। काफिर को मारना सवाब है।'
   —वही, पृ० 199.
6. वही, पृ० 110.

सिख सम्प्रदाय :

पंजाब के विभाजन का सर्वाधिक विरोध सिख जमात ने किया। किन्तु यह विरोध विधायक नहीं था। क्योंकि इनके विरोध से साम्प्रदायिक शक्तियाँ अधिक उभरी।[1]

उपन्यास के दूसरे खण्ड में सैयदपुर के सिख गुरुद्वारा में एकत्र दीखने हैं। कुर्बानी की आवाज मानो शताब्दियों के फासले लाँघकर फिर से गूँज रही है। "तीन सौ साल पहले भी ऐसा ही गीत दुश्मन से लोहा लेने से पहले गाया जाता था। आत्म-बलिदान की भावना से ओत-प्रोत वे सब-कुछ भूले हुए थे। इस विलक्षण क्षण में उनकी आत्मा अपने पुरखाओं की आत्मा से जा मिली थी" तुर्कों के साथ लोहा लेने का समय आ गया था।"'उनकी चेतना फिर से शताब्दियों पहले के वायुमण्डल में साँस लेने लगी थी"'संगत का प्रत्येक सिंह सिर हथेली पर रखे बैठा था।"[2] छत पर पहरा देते निहंग सिंहों की आँखों के सामने वही पुरानी लड़ाइयों के चित्र घूम रहे थे जब लश्कर कूच किया करते थे, तलवारें चमकती थी, घोड़े हिनहिनाते थे, नगाड़े और शंख गूँजते थे। गुरुद्वारे का माहौल भरे बादलों जैसा गंभीर हो रहा है। सभी की चेतना में वे सभी बातें हैं जो दूर अतीत में हुआ करती थीं, बलिदान की भावना, मुसलमान शत्रु, ढाल, तलवार, गुरु का प्रसाद, अखण्ड एकता—जो नहीं था तो उनकी चेतना में अंग्रेज नहीं था।[3] सोहन सिंह उन सबको समझाना चाहता है कि "यह सब अंग्रेजों की शरारत है।" "हमारा भला इसी में है कि फिसाद न हो। सुनो भाइयों, शहर से आज कोई बस नहीं आई। रास्ते कटते जा रहे है। यह सारा इलाका मुसलमानी है। अगर गाँव

1. वे बार-बार सिख कौम के इस संकट को तीन सौ वर्ष पहले लड़े गये धर्मयुद्ध के साथ जोड़ रहे थे''''''इस सम्पूर्ण समस्या को विवेक और तटस्थता से देखने के बजाए वे इसे केवल युद्ध के स्तर पर ही देखने रहे। परिणामतः नफरत की आग अधिक बढ़ती गई।
—'तमस : साम्प्रदायिकता के अंधेरे में भटकता आम आदमी'—सूर्यनारायण रणसुभे : हिन्दी उपन्यास : विविध आयाम, पृ० 231
2. 'तमस', पृ० 190.
3. 'कस्बे से पच्चासेक मील की दूरी पर अंग्रेजों की देश भर में सबसे बड़ी छावनी थी, उस छावनी की ओर उनका ध्यान नहीं जा रहा था। शहर और प्रान्त में बैठे अंग्रेज अधिकारियों की ओर भी नहीं, मानो देश में उनका कोई अस्तित्व ही न हो। अस्तित्व था तो तुर्क का, या खालसा का, उसके बढ़ते आ रहे लश्करों का, आत्म-बलिदान की बेला में उस महायज्ञ का, जिसमें सभी अपने प्राणों की आहुति डालने के लिये तैयार थे।'
वही, पृ० 192-193

पर बाहर के लोगों ने हमला कर दिया तो तुम कहाँ तक उनका मुकाबला कर सकोगे ?"[1] किन्तु उसकी बात कोई नहीं सुनता। शेख गुलाम रसूल ने मुखिया तेजसिंह को आश्वासन दिया है कि गाँव में कुछ नहीं होगा, लेकिन उन्हें इस आश्वासन से अधिक अफवाहों पर भरोसा है। वे सोहनसिंह पर बरस पड़ते हैं "हमें क्या समझाते हो ? मुसलों को जाकर समझाओ। क्या सिक्खों ने किसी को अभी तक मारा है ? किसी का घर लूटा है। बड़ा आया हमें उपदेश देनेवाला।[2] सभी को विश्वास है कि शरारत गाँव के अन्दर से होगी, लेकिन बलवाई सचमुच बाहर से आते हैं। सिक्ख हैरान रह जाते हैं। उनका ख्याल था कि गाँव मे इक्का-दुक्का वारदात होगी और अगर कस्बे के सिह डटे रहे तो गाँव के मुसलमानो की हिम्मत नहीं होगी कि हाथ उठाएँ। पर बात उल्टी पड़ जाती है। तुर्कों के जेहन मे भी यही है कि वे अपने पुराने दुश्मन सिक्खों पर हमला बोल रहे हैं और सिक्खो के जेहन मे भी वे दो सौ साल पहले के तुर्क हैं, जिसके साथ खालसा लोहा लिया करते थे। 'लड़ने वालो के पाँव बीसवीं सदी मे थे, सिर मध्य युग मे।'[3] दो दिन और दो रात तक घमासान युद्ध चलता रहता है। फिर असला चुक जाने के कारण लड़ना नामुमकिन हो जाता है। "अब सभी निर्णय गलत जान पड़ने लगे थे, गुरुद्वारे मे इकट्ठा होना भूल थी, शेख गुलाम रसूल और उसके साथियों से बातचीत तोड़ देना भूल थी, इन भूलों का कोई अन्त नहीं था। अगर दुश्मन पर गालिब आ जाते तो यही भूलें रणनीति की बढ़िया चालें मानी जातीं।"[4]

स्त्रियाँ कुएँ मे कूदकर आत्महत्या कर लेती हैं। कुछ सिंह मारे जाते हैं। लाखो की जायदाद जलकर राख हो जाती है। लड़ाई बन्द हो जाने के बाद दोनों सम्प्रदायों के लोग अपने-अपने धर्मस्थानों को धो-धोकर साफ करने लगते हैं।

कम्युनिस्ट :

कम्युनिस्ट विचारधारा के पात्र भी उपन्यास मे अपने ढंग से शान्ति और एकता बनाये रखने के लिये प्रयत्नशील दीखते हैं। इनमें देवदत्त, रामनाथ, जगदीश, अजीज, सोहनसिंह, हरबंससिंह, मीरदाद आदि प्रमुख है। लेखक भीष्म साहनी इस विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध है। शायद इसी कारण इन पात्रों के प्रति उनमे अधिक सहानुभूति भी है।

शहर में फिसाद शुरू हो जाने के बाद देवदत्त विभिन्न पार्टियों को बैठक

1. 'तमस', पृ० 198.
2. वही, पृ० 198.
3. वही, पृ० 231.
4. वही, पृ० 235.

बुझाने का पहला प्रयास करता है। आस-पास के गाँवों में गए दंगे रोकने के उद्देश्य से अपने साथियों को भेजता है। वह निर्भीक और साहसी है। ऐसे तनावपूर्ण माहौल में भी वह माँ-बाप के आग्रह और फटकार पर ध्यान न दे उपद्रव वाले इलाकों में घूमता रहता है। अपने इन्हीं प्रयासों के कारण वह हिन्दुओं के बीच बदनाम है। आज सबेरे की घटना के कारण उसके एक मुस्लिम कॉमरेड का विश्वास पार्टी पर से उठ चुका है और वह पार्टी छोड़कर जा रहा है।[1] [illegible] हुए कामरेड को इतना ही कह पाता है "हम मध्यवर्ग के लोग हैं, पुराने संस्कारों का हम पर गहरा प्रभाव है। मजदूर वर्ग के होते तो हिन्दू-मुसलमान का सवाल तुम्हें परेशान नहीं करता।[4] मीटिंग के सवाल पर जब उसके साथी कहते हैं "कांग्रेस दफ्तर पर ताला चढ़ा है। लीग वालों से बात करो तो पाकिस्तान के नारे लगाने लगते हैं।" और इस वक्त तो अपने-अपने मुहल्लों से कोई बाहर ही नहीं निकल रहा। मीटिंग किसके साथ करोगे?"[3] तब वह चुनिंदा लीडरों को ही हयातबख्श के घर पर इकट्ठा करने का निश्चय करता है। हयातबख्श के घर तक पहुँचना आसान नहीं है, लेकिन देवदत्त और अजीज गलियां लाँघते, छिपते-छुपते, कहीं गालियाँ खाते, कहीं धमकियाँ सुनते हयातबख्श के घर जा पहुँचते हैं और दोपहर को उसके घर मीटिंग करवाने में भी कामयाब हो जाते हैं। यद्यपि वहाँ खूब तू-तू मैं-मैं होती है, लेकिन अन्त में देवदत्त की गुजारिश पर हयातबख्श और बख्शीजी अमन की अपील पर दस्तखत कर देते हैं। किन्तु बख्शीजी अभी जूता ही पहन रहे हैं कि खबर आती है कि रात में मजदूरों की बस्ती मे भी फिसाद हो गया है, और दो सिख बढ़ई मार डाले गए हैं। पहले तो देवदत्त खबर को झूठ कहता रहता है, किन्तु बाद में "उसका सिर झुक गया, और उसे लगा कि अगर मजदूर आपस मे लड़ सकते हैं तो यह विष बहुत गहरा असर कर चुका है। तो फिलहाल इस मीटिंग को पानी पर खिंची लकीर ही समझना चाहिए।"[5] और तभी वह मन-ही-मन सीधे पहुँचने का फैसला करता है "अकेले साथी जगदीश के बस की यह बात नहीं रह गई है। मेरे पहुँचने से शायद स्थिति बेहतर हो जाए, मजदूर आपस में न लड़ें।"[6] उसका सोचने का ढंग बड़ा ही फार्मूलाबद्ध है। इसी कारण दंगों के बाद वह आँकड़ा बाबू से पूछता है "गरीब कितने मरे और खाते-

1. तमस, पृ० 152.
2. वही, पृ० 152.
3. वही, पृ० 153.
4. वही :, पृ० 155.
5 वही पृ० 155
6 वही पृ० 155

पीते लोग कितने मरे ?"[1] उसका विश्वास है कि फिसादो की जड़ मे अंग्रेजो की तोड़-फोड़ नीति ही है। एक सच्चे ईमानदार कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता के रूप में ही उसका चित्रण हुआ है।

मीरदाद और सोहनसिंह देवदत्त द्वारा सैयदपुर मे दंगे रोकने के उद्देश्य से भेजे गये है। दोनो के सम्बन्धी इस कस्बे मे है, लेकिन दोनो में से किसी की दाल नही गल रही है।[2]

उपन्यास के दूसरे खण्ड मे सोहनसिंह गुरुद्वारे मे सिख-समुदाय को समझाने की कोशिश करता दिखाई पड़ता है।[3] लेकिन उसकी बात कोई नही सुनता, बल्कि उसे 'कौम के गद्दार' की संज्ञा मिलती है। लेकिन सोहनसिह अडिग रहता है और अमन की कोशिश करते हुए वह अन्त में अपने प्राण दे देता है।[4] मीरदाद भी अपने तरीके से फिसाद रोकने की कोशिश कर रहा है, लेकिन उसकी स्थिति भी सोहनसिह जैसी ही है।[5] जिस समय गुरुद्वारे में सोहनसिंह के विरुद्ध हंगामा चल रहा है, मुसलमानों के मुहल्ले मे मीरदाद की जान साँसत मे है। लोग उससे उलझ रहे हैं "अंग्रेज को किसने देखा है। शहर मे कितने ही मुसलमान हलाक हुए हैं, उनकी लाशें भी अभी गलियों में पड़ी हैं। उन्हें अंग्रेजों ने मारा है······?"[6] मीरदाद समझाना चाहता है "अगर हिन्दू-मुसलमान-सिख मिल जाते हैं उनमे इत्तहाद हो जाता है, तो अंग्रेज की हालत कमजोर पड़ जाती है। अगर हम आपस मे लड़ते रहते है तो उसकी हालत मजबूत बनी रहती है।"[7] वह तर्क देता है कि राज अंग्रेज का है, फौज भी उसी की है, तब अगर वह लड़ाई रोकना चाहे तो जरूर रोक सकता है; उत्तर मिलता है "रोक सकता है, पर वह हमारे मजहबी मामलों मे नही पड़ता। अंग्रेज इन्साफ पसन्द है।"[8] "मतलब, कि हम एक-दूसरे का सिर काटें और

1. तमस, पृ० 263.
2. वही, पृ० 200.
3. वही, पृ० 197.
4. वही, पृ० 231.
5. "लोग उसकी बात को सुनते क्योंकि वह दो अक्षर पढा हुआ था, लाहौर-बम्बई-मद्रास तक घूम आया था···मगर कस्बे मे तनाव बढने पर और बाहर से तरह-तरह की खबरें आने पर, वह उत्तरोत्तर अकेला होता गया था।" —वही, पृ० 200.
6. वही, पृ० 199.
7. वही, पृ० 199.
8. वही, पृ० 199.

वह मजहबी मामला कहकर तमाशा देखता रहे, फिर वह हाकिम कैसा हुआ ?"[1] मीरदाद के इस तर्क पर मोटा कमाई बिफर उठता है "......लड़ाई हिन्दु-मुसलमान की है, इसमे अंग्रेज का दखल नही है। तू इधर बक-बक नहीं कर। अगर बाप का बेटा है तो जा इसी वक्त जा गुरुद्वारे में, तू उनको समझा कि असला इकट्ठा नहीं करें।......वे मान जाएँ, अपना असला बारूद गुरुद्वारे में छोड़कर अपने-अपने घरों को चले जाएँ हम भी लड़ाई नहीं चाहते। हम भी अपने-अपने घरों में जा बैठेंगे।"[2] मीरदाद को करीब-करीब धक्के देकर निकाल दिया जाता है "न घर न घाट न आगा न पीछा, अमन करवाने आया है।"[3] समझौते की बातचीत के लिए सोहनसिंह के मर जाने के बाद सिक्खो द्वारा मीरदाद को मध्यस्थ बनाने की कोशिश की जाती है। यह विडम्बना ही है कि "सोहनसिंह के मरने के कुछ देर पहले सोहनसिंह और मीरदाद दोनो ही की स्थिति अमन कराने वालो की जगह मात्र हरकारों की स्थिति रह गई थी।"[4]

मानवीय संवेदना के प्रतिनिधि पात्र :

मजहबी जनून और नफरत के इस माहौल मे भी इन्सानियत की कोई पतली-सी लकीर कही बची हुई है; संवेदनशील लेखक की दृष्टि तटस्थता से उसकी खोज करती है और उस लकीर के दर्शन उसे राजो, शाहनवाज, करीम खान, देवदत्त, जनरैल जैसे लोगों में होते हैं।

शाहनवाज लाला लक्ष्मीनारायण के समधी का गहरा दोस्त है। दोस्तपरवरी उसका ईमान है। शहर मे गड़बड़ी शुरू होने पर वह अपने दोस्त के घर की बगल मे बैठने वाले नानबाई को सावधान करता है 'देख फकीरे, दोनों कान खोलकर सुन ले। अगर मेरे यार के घर को किसी ने बुरी नजर से देखा तो मैं तुझे पकड़ूंगा। कोई इस घर के नजदीक नही आए।'[5] अपनी इस दोस्तपरवरी के कारण वह मौला दाद जैसे लीगियों का मौन क्रोध भी झेलता है[6] अपने मित्र रघुनाथ से मिलने पर शाहनवाज का दिल भावोद्रेक मे डूब जाता है "इस मेरे यार पर तो मेरी जान भी कुर्बान है, इसे कोई हाथ लगाकर तो देखे, उसकी चमड़ी उधेड़ दूं ?"[7] जब रघुनाथ

1. तमस : पृ० 199.
2. वही, पृ० 200.
3. वही, पृ० 202.
4. वही, पृ० 231
5. वही, पृ० 138.
6 वही, पृ० 139
7 वही पृ० 140

की पत्नी अपनी चाबियाँ शाहनवाज के हाथ में सौंपती है, शाहनवाज फिर भावुक हो उठता है, "हजारो के जेवर की चाभियाँ भाभी मेरे हाथ मे दे रही है, मुझे अपना समझती है तभी तो।"[1] उस रात शाहनवाज के हाथ से जेवरो का डिब्बा लेते समय भाभी का रोम-रोम कृतज्ञता से भर उठता है, और 'रघुनाथ अन्दर-ही-अन्दर उसके चरित्र, उसके ऊँचे विचारो की प्रशंसा कर रहा था जिनके कारण आज के जमाने मे जब चारों ओर आग की लपटें उठ रही थी, एक मुसलमान दोस्त उसके प्रति इतना निष्ठावान था।'[2] शाहनवाज की मदद से ही लाला लक्ष्मीनारायण सपरिवार अपने मुहल्ले से नकलकर सुरक्षित स्थान पर पहुँच पाते है।

ढोक इलाही बख्श गाँव मे चाय की दूकान करने वाला हरनामसिह भी अपने हमसाया करीमखान की वजह से ही बच जाता है। पहले तो करीमखान उन्हें आश्वस्त करता रहता है कि "आराम से बैठे रहो, तुम्हारी तरफ कोई आँख उठाकर भी नही देखेगा।"[3] लेकिन जैसे ही उसे आभास होता है कि बलवाई बाहर से आ सकते हैं और वैसी स्थिति में हरनामसिंह की सुरक्षा की सामर्थ्य उसमे नही है, वह लाठी टेकता हरनामसिह की दूकान के सामने पहुँचता है और बुदबुदा कर उसे सावधान करता है "हालत अच्छी नही हरनामसिंह, तू चला जा।" "गाँव वाले तो तेरे वल अक्खी नहीं चुक्कणगे पर बाहरो लोका दे आण दा डर है। उन्हाँ नूँ रोकणा साड़े वस दा नही।"[4]

हरनामसिह और उसकी पत्नी बन्तो को शरण मिलती है एहसान अली के घर, जहाँ उसकी पत्नी राजो उनके लिये दरवाजा खोलती है।[5] जिस समय राजो इस सिख दम्पति को शरण दे रही है, उसका पति और बेट रमजान सिखो के घर लूट रहे है, उनमे आग लगा रहे हैं।

राजो अपनी मर्यादा जानती है, इसी कारण थोड़ी देर बाद कहती है "सुनो जी सरदार जी, मैं तुम से कुछ छिपाऊँगी नहीं।" "मेरा घरवाला और बेटा दोनो गाँव वालो के साथ बाहर गये हुए हैं। वे अभी लौटते होगे। मेरा घरवाला तो अल्लाह से डरने वाला आदमी है, तुम्हें कुछ नहीं कहेगा, पर मेरा बेटा लीगी

---

1. तमस, पृ० 142.
2. वही, पृ० 148.
3. वही, पृ० 180.
4. वही, पृ० 181.
5. "क्षणभर के लिए वह औरत ठिठकी खड़ी रही, वह निर्णायक क्षण जब मनुष्य अपने समस्त सस्कारों, विचारों, मान्यताओं के पुंजीभूत प्रभाव के आधार पर कोई निर्णय लेता है। औरत कुछ देर तक उनकी ओर देखती रही। फिर उसने दरवाजा खोल दिया।"—वही, पृ० 208-209

और उसके साथ और लोग भी हैं। तुमसे वे कैसा सलूक करेंगे, मैं नहीं जानती। तुम अपना नफा-नुकसान सोच लो।"[1] निराश हरनामसिंह जब बाहर जाने लगता है, वह अपने आपको रोक नहीं पाती "ठहरो जी, रुक जाओ, सांकल चढ़ा दो।" "तुमने मेरे घर का दरवाजा खटखटाया है, दिल में कोई आस लेकर आये हो। जो होगा देखा जायेगा...।"[2] वह दोनों को कोठरी के ऊपर बनी हुई मियानी में छिपा देती है। उसका ऊँचा लम्बा कद, सीधा सतर काया देखकर हरनामसिंह का दुबला मन संभल जाता है। 'इस औरत के रहते अभी सब-कुछ गया नहीं गया है, सब-कुछ मर नहीं गया है।'[3] एहसान अली सूद के हरनामसिंह का कुछ लेकर लौटता है। हरनामसिंह से साक्षात् होने पर वह झेंप जाता है। बाद में वह राजो को उन्हें भूसे की कोठरी में छिपा देने का आदेश देता है। रात के समय क्रुद्ध रमजान कोठरी का दरवाजा तोड़ डालता है, हरनामसिंह को मारना चाहता है, लेकिन मार नहीं पाता।[4]

लगभग आधी रात के समय राजो हरनामसिंह और बन्तो के साथ उस ढलान तक आती है, जिसे चढ़कर उसी प्रातः वे दोनों गाँव में दाखिल हुए थे। 'जाओ तुम, रब्ब राखा। सीधे किनारे-किनारे चले जाओ। आगे जो तुम्हारी किस्मत। 'उसकी आवाज आर्द्र हो उठती है।'[5] बन्तो और हरनामसिंह इस एहसान का जीवन भर नहीं भूल सकते, लेकिन राजा को लगता है "मैं क्या जानूं बहन? मैं नहीं जानती मैं तुम्हारी जान बचा रही हूं या तुम्हें मौत के मुंह में झोंक रही हूं। चारों तरफ आग लगी है।"[6] वह एक छोटी पोटली उनके हाथ में थमाती है "ये तुम्हारे ट्रंक में से मिले हैं, तुम्हारे दो गहने हैं। मैं निकाल लाई हूं। तुम्हारे आगे कठिन समय है, पास में दो गहने हुए तो सहारा होगा।"[7] दोनों पति-पत्नी ढलान उतरने

1. तमस, पृ० 211.
2. वही, पृ० 211-112.
3. वही, पृ० 215.
4. दो-तीन बार रमजान ने कुल्हाड़ी उठाने की कोशिश की पर कुल्हाड़ी हाथ में रहते भी उसे उठा नहीं पाया। काफिर को मारना और बात है, अपने घर के अन्दर जान-पहचान के पनाहगजीन को मारना दूसरी बात। उसका खून करना पहाड़ की चोटी पार करने से भी ज्यादा कठिन हो रहा था। मजहबी जनून और नफरत के इस माहौल में एक पतली-सी लकीर कहीं पर अभी भी खिंची थी-जिसे पार करना बहुत ही मुश्किल था।—वही, पृ० 220.
5. वही, पृ० 221.
6. वही, पृ० 222.
7. वही, पृ० 222.

भगते हैं। राजो टीले पर खडी उन्हे जाते देखती रहती है। राजो के इस चरित्र को पढते समय बरबस कमलेश्वर के "लौटे हुए मुसाफिर" की नसीबन याद आती है।

बदले हुए माहौल का चित्रण :

आम आदमी दंगे-फिसाद और कत्ल नही चाहता, शान्ति से जीने में विश्वास रखता है। लेकिन सुअर को मारकर मस्जिद के सामने फेंक दिये जाने की घटना शान्त नगर जीवन मे किस प्रकार हिलोरे पैदा कर देती है, इसका अत्यन्त सूक्ष्म चित्रण लेखक भीष्म साहनी ने किया है। उस दिन भी बड़े सहज सामान्य ढंग से दिन का व्यापार शुरू हुआ है। रोज प्रभात के झुटपुटे मे इकतारा बजाकर धीमी आवाज मे गाते हुए शहर की गलियो से गुजरने वाला फकीर आज भी मधुर स्वर मे गाता हुआ जा रहा है। काग्रेसी कार्यकर्ताओ की मण्डली आज भी प्रभातफेरी का गीत गाती हुई गलियों से गुजर रही है। एक मुस्लिम मुहल्ले में तामीरी काम मे जुटे इन कार्यकर्ताओं को देखकर एक बुजुर्ग ठिठक जाता है "खुश रहो, वाह वाह, कैसा नेक दिल पाया है, आफरीन है।"[1] पर कुछ ही क्षणो मे माहौल बदल जाता है।[2] वही सफेद पोश बुजुर्ग लौटते दीखते हैं, लेकिन उनका रुख बदला हुआ है "आप साहिबान यहाँ से चले जाइये। अगर अपनी खैरियत चाहते हो तो यहा से फौरन चले जाओ।[3] हतबुद्धि कार्यकर्ता चुपचाप वहाँ से निकलने लगते है। बाद में उन्हे मस्जिद की सीढियों पर सुअर फेंके जाने की घटना का पता चलता है। और तब "सहसा सामने वाली सड़क पर एक टाँगा सरपट दौड़ता हुआ निकल गया। इसके बाद मस्जिद की बगल में से भागते कदमों की आवाज आई...मोह्यालो की गली मे घरों के दरवाजे बन्द होने लगे।"[4]

डिप्टी कमिश्नर से बात-चीत मे व्यस्त शिष्टमण्डल के सदस्यों को जैसे ही पता चलता है कि पुल के पार एक हिन्दू को कत्ल कर दिया गया है, वे घबड़ा कर बाहर निकल आते हैं। बंगले मे से निकलते ही उनके दिमाग मे जैसे धूल उडने

---

1. तमस, पृ॰ 56
2. "एक आदमी कमेटी के मैदान की तरफ से भागता हुआ आया और शेरखान के घर की गली लाघकर एक ओर खड़े मुहल्ले के कुछ लोगो के पास जा पहुँचा और उनके साथ खुस-फुस करने लगा...देखते-ही-देखते इधर-उधर खड़े लोग वहाँ से हटने लगे, केवल छोटे-छोटे बच्चे वहाँ खड़े रह गये। फिर पलक मारते ही टाट के पर्दों के पीछे से स्त्रियाँ हट गई ..सकता-सा छा गया। काग्रेस के कार्यकर्ता हैरान थे कि क्या बात हुई है।"—वही, पृ॰ 58.
3. वही, पृ॰ 58.
4. वही, पृ॰ 61

जगती है।[1] एक ही झोंके में उनकी आस्थाएँ और उनके विश्वास हिल जाते हैं। मेहता जी को लगता है कि हिन्दू सभा वालों ने मुहल्ला कमेटियाँ बनायी हैं, हमसे तो वह भी नहीं हो सकता।[2] बख्शी जी के फटकारने पर मेहता जी उबल पड़ते हैं "अगर फिसाद हो गया तो तुम मुझे बचाने आओगे?...या बापू जी आकर बचायेंगे? उस वक्त तो मुझे मुहल्ले वाले हिन्दुओं का ही आसरा है। छुरा मारने वाला मुझसे यह तो नहीं पूछेगा कि तुम कांग्रेस में थे या हिन्दू सभा में थे?"[3]

यह वही शहर है जहाँ का कार्यकलाप जैसे किसी संगीत की लय पर चला करता था,[4] आज उसका तनावपूर्ण माहौल मानो जड़ हो गया है। उसी रात को मण्डी में आग लग जाती है, और रात की भयानकता में शिवाले के घड़ियाल की टुनटुनाती ध्वनि ऐसी लगती है मानो तूफान में सागर की लहरों से जूझते अपना रास्ता खोजते किसी जहाज की घण्टी बज रही हो।[5] आग सुबह तक बुझ नहीं पाती। दिन के उजाले में शहर अधमरा-सा दीखता है, मानो उसे साँप सूँघ गया हो।[6] साम्प्रदायिकता के माहौल ने बड़े नामालूम ढंग से दिलों में ज़हर घोलना शुरू कर

1. तमस, पृ० 85.
2. वही, पृ० 88.
3. वही, पृ० 89.
4. जब इब्राहीम इत्रफरोश कंधों और पीठ पर से तरह-तरह की बोतलें लटकाये एक गली से दूसरी गली इत्र-फुलेल की आवाज लगाता अपनी स्थिर चाल से गुजरता जाता तो लगता नगर की इस धुन पर उसके पाँव उठ रहे हैं, इसी धुन पर औरतें अपने घड़े लेकर गली के नल पर जातीं, इसी धुन की लय पर सड़कों पर टाँगे चलते, इसी धुन पर बच्चे स्कूल जाते, लगता, शहर का सारा व्यापार किसी मीठी सहज धुन पर चल रहा है। लगता इसकी एक कड़ी टूटेगी तो साज के सारे तार टूट जायेंगे।...आज इसे संगीत कह लीजिये या नाजुक-सा सन्तुलन जिसमे व्यक्तियो के आपसी रिश्ते, जन समूहों के अपनी रिश्ते एक विशेष धारा पर स्थिर हो चुके होते हैं।—वही, पृ० 98-99.
5. वही, पृ० 121.
6. 'मुहल्लों के बीच लीकें खिच गई थी, हिन्दुओं के मुहल्ले मे मुसलमान को जाने की अब हिम्मत नही थी, और मुसलमानो के मुहल्ले में हिन्दू-सिख अब नहीं आ-जा सकते थे। आँखों में संशय और भय उतर आए थे।...जहाँ कहीं हिन्दू और मुसलमान पड़ोसी एक-दूसरे के पास खड़े थे, बार-बार एक ही वाक्य दोहरा रहे थे : बहुत बुरा हुआ है, बहुत बुरा हुआ है।' इससे आगे वार्तालाप बढ़ ही नही पाता था। घरो के दरवाजे बन्द थे, शहर का कारोबार, स्कूल कालिज, दफ्तर सभी ठप्प हो गये थे।—वही, पृ० 136.

दिया है। शाहनवाज जब अपने अभिन्न मित्र रघुनाथ से मिलता है, रघुनाथ के इस वाक्य से "बहुत गड़बड़ है, दिल को बड़ा दुःख होता है, भाई-भाई का गला काट रहा है।[1] सहसा दोनो के बीच एक तरह की दूरी पैदा हो जाती है।[2] शाहनवाज जब रघुनाथ की पत्नी के जेवरों का डिब्बा निकालने उसके पुश्तैनी घर पर पहुँचता है, उसकी नजर पड़ोसी फीरोज पर पड़ती है, जो बुत की तरह उसे देखे जा रहा है। मॅह फेर लेने पर भी उसे लगता है जैसे फीरोज अभी भी उसकी ओर नफरत से देखे जा रहा है। आज भी हिन्दुओं के घर का दरवाजा खटखटा रहे हो। "मानो वह मन-ही-मन कह रहा था।"[3]

असबाब वाली कोठरी की खिड़की से सहसा ही शाहनवाज की दृष्टि मस्जिद के आँगन मे पड़ती है "वजू करने के ताल के पास बहुत से आदमी बैठे थे। लगता था उनके बीच किसी आदमी की लाश रखी हुई थी।"[4] जेवर निकालने के बाद रघुनाथ के नौकर मिलखी के पीछे सीढियाँ उतरते समय सहसा उसके अन्दर भभूका-सा उठा। न जाने ऐसा क्यों हुआ : मिलखी की चुटिया पर नजर जाने के कारण, मस्जिद के आँगन में लोगों की भीड़ को देखकर, या इस कारण कि जो कुछ वह पिछले तीन दिन से देखता-सुनता आया था वह विष की तरह उसके अन्दर घुलता रहा था। शाहनवाज ने सहसा ही बढ़कर मिलखी की पीठ में जोर से लात जमाई··· शाहनवाज का गुस्सा, जिसका कारण वह स्वयं नहीं जानता था, बराबर बढता जा रहा था।"[5] शाहनवाज व्यक्ति और समूह चरित्र की विसंगति का अच्छा उदाहरण है। व्यक्ति रूप मे वह विधर्मी मित्र के लिये सब कुछ कर सकता है, किन्तु समूह रूप मे वह एक मुसलमान है। उसके चरित्र का यही पहलू मिलखी की हत्या का जिम्मेदार है। साम्प्रदायिकता की इस आग ने आस-पास के गाँवों को भी लपेट लिया है। वहाँ बन्तो और हरनाम सिंह जैसे अनगिनत लोग अपना घर, अपना गाँव छोड़कर आश्रय की तलाश में भटक रहे है। पलक मारते ही वे परदेशी और बेघर हो गये है।[6] घर के बाहर कदम रखते ही सारा प्रदेश पराया हो गया है, यहाँ तक कि छिटकी हुई

1. तमस, पृ० 141.
2. 'उनके आपसी रिश्ते की बात दूसरी थी, इस वाक्य से रघुनाथ ने मानो निजी रिश्ते के साथ जातियों के रिश्ते को जोड़ने की कोशिश की थी जिसके बारे मे दोनो के अपने अलग-अलग विचार थे···इस विषय पर अधिक वार्तालाप की गुंजाइश नही थी। दोनों अटपटा-सा महसूस करने लगे। यह विषय उनके हार्दिक वार्तालाप पर कोहरे की चादर-सा बिछ गया था।—वही, पृ० 141.
3 वही, पृ० 144.
4. वही, पृ० 146.
5. वही, पृ० 147.
6 वही, पृ० 187

चाँदनी में भी हर पेड़ और हर चट्टान के पीछे छिपे किसी अज्ञात शत्रु का भास हो रहा है।[1]

प्रकृति की सुन्दर गोद मे सदियों से हिन्दू-मुसलमान साथ रहते आये हैं, अपनी परम्पराओं पर समान रूप से उन्हें गर्व रहा है[2], लेकिन साम्प्रदायिकता की आग ने आज सारे मूल्य बदल डाले हैं। रात भर की मार-काट और लूट-पाट के बाद फिर सुबह होती है। स्वच्छ, शीतल हवा रोज की तरह बहने लगती है। लुकाटों तथा सफेद फूलों की भीनी-भीनी गन्ध से लदी हवा मे गेहूँ के खेत झूमने लगते हैं। लेकिन रोज के विपरीत आज ढेरों चील-कौवे आसमान में उड़ रहे है। गलियाँ सुनसान पड़ी है, बिखरी लाशें गाँव की निस्तब्धता को और गहरा कर रही है। जगह-जगह उस आँधी के निशान हैं, जो रात भर चलती रही है।[3]

दंगे के प्रभाव का चित्रण :

यह आँधी गुजर जाने पर भी अपने निशान छोड़ जाती है। स्थिति सामान्य होने पर एक लहर-सी चल पड़ती है "जिस इलाके मे मुसल्मानो की अक्सरियत थी, वहाँ से हिन्दू-सिख निकलने लगे थे, और जिन इलाकों मे हिन्दू-सिखों की अक्सरियत थी, वहाँ से मुसलमान घर बाहर बेचकर निकल जाना चाहते थे।"[4] यह बात साफ हो गई थी कि पाकिस्तान बने या न बने, अब मुहल्ले अलग-अलग होंगे।[5]

इस आँधी ने जिन बेगुनाह लोगों पर असर छोड़ा है, उनकी आपबीती भयावह और लोमहर्षक है। बर्बाद, बेघर इन शरणार्थियों ने जो कुछ देखा और भुगता है, उसे वे आँकड़ा बाबू के सामने रखने को उत्सुक हैं। आँकड़ा बाबू उन्हें समझा नही पाता कि उसे उनकी राम कहानी नहीं, केवल जान-माल के नुकसान का आँकड़ा चाहिये। लेकिन कोई-कोई आपबीती उसे भी बाँध लेती है, उसके दिल-दिमाग को जकड़ लेती है।[6]

---

1. तमस, पृ० 185.
2. "सैयदपुर के निवासी होने का सिक्खों को भी उतना ही गुमान था जितना मुसलमानों को, सभी को सैयदपुर की लाल मिट्टी पर, बढ़िया गेहूँ पर, लुकाटों के बागों पर, यहाँ तक कि सैयदपुर के कड़े जाड़ों पर और बर्फीली हवा पर समान रूप से नाज था, और इसी भाँति अपनी मेहमाननवाजी पर दया-दिली पर और हँसमुख स्वभाव पर भी नाज था। फिसाद शुरू होने पर दोनों ओर के लोग सैयदपुर के निवासी होने के नाते ही छाती ठोक कर मैदान में कूदे थे।—वही, पृ० 234.
3. वही, पृ० 240.
4. वही, पृ० 272.
5. वही, पृ० 273
6. वही, पृ० 260

इस माहौल में कुछ ऐसे भी लोग हैं जिन्हें जान से अधिक माल की चिन्ता है। एक अधेड़ सरदार जी कुएं मे से पत्नी की लाश निकालना चाहते है, क्योंकि "पांच-पांच तोले का एक कड़ा है। गले मे सोने की जंजीरी है। अब घरवाली डूब मरी, जो सबके साथ हुई है, वह मेरे साथ भी हुई है, पर ये कड़े और जंजीरी मैं कैसे छोड़ दूँ ?"[1]

लोगों की दासतापूर्ण मानसिकता का चित्रण.

सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि जिस अंग्रेज जाति ने भारतीयो को गुलाम बना रखा है, 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के अनुरूप जो उनके बीच दंगे भड़का रही है, उसके प्रति अधिकाश के मन में आदर और भक्तिभाव बना हुआ है। सुअर मारे जाने की घटना के दिन दोपहर के समय नानबाई की दुकान पर रोज की तरह मजलिस जमती है। बातों का सिलसिला शुरू तो उसी घटना से होता है, लेकिन अन्त मे बात उस नुक्ते पर जा पहुँचती है, जहा बूढा करीमखान कहता है कि हाकिमो के मन की थाह पाना आम आदमी के बस की बात नही। "जो बात हाकिम देख सकता है वह आम लोग, तुम और हम नहीं देख सकते। अंग्रेज हाकिम की आँख चारों तरफ देखती है वरना क्या यह मुमकिन है कि मुट्ठी भर फिरंगी सात समन्दर पार से आकर इतने बड़े मुल्क पर हुकूमत करें ? अंग्रेज बहुत दानिशमंद है, दूरअन्देश हैं.. "।[2]

इसी मनोवृत्ति के दर्शन उस समय होते हैं जब फ़िसादो के बाद अंग्रेज बहादुर हवाई जहाज़ दंगाग्रस्त इलाको के ऊपर उड़ान भरता है। "जब वह नज़दीक पहुँचा तो लोग उठ-उठकर बाहर आने लगे; गलियो, छतो, चबूतरो पर आ-आकर लोग खड़े हो गये और बड़ी उत्सकता से हवाई जहाज की ओर देखने लगे। गाँव के ऊपर उड़ते समय जहाज़ और भी नीचा हो आया था और जहाज़ के अन्दर बैठा चालक —गोरा फ़ौजी—अपना हाथ हिला-हिलाकर नीचे खडे लोगो का अभिवादन कर रहा था।[3] गुरुद्वारे की छत पर खड़े किशन सिह को लगता है जैसे गोरे हवाबाज़ ने उसी को लक्ष्य करके हाथ हिलाया है। वह भावोद्रेक मे ज़ोर-ज़ोर से हाथ हिलाते हुए चिल्ला उठता है "गॉड सेव दि किंग, साहिब गॉड सेव दि किंग।"[4] उसे लगता है कि हवाबाज़ ने मुसलमानों के अभिवादन का उत्तर नही दिया है। यह देखकर उसे हार्दिक खुशी होती है, वह चहक उठता है "दो दिन पहले आ जाते साहब, तो हमारा इतना ज्यादा नुकसान तो नही होता, मगर कोई फ़िक्र नहो...।"[5] तेजासिह

1. तमस, पृ० 262.
2. वही, पृ० 105.
3. वही, पृ० 241.
4. वही, पृ० 242.
5 वही पृ० 242

सोच रहे थे कि कि जल्दी-से-जल्दी शहर पहुँचना होगा और पहुँचकर डिप्टी कमिश्नर साहब को इन सारी घटनाओं का ब्यौरा देना होगा। सारे नुकसान की फहरिस्त बनाकर उन्हें देनी होगी। अब जान तो बचा आये, पर कोई बात नहीं, हमसे भी अच्छे भूने हैं, मुझसे फिर कभी हमारे साथ अकड़ने की हिम्मत नहीं करेंगे...।[1] हवाई जहाज कस्बे के तीन चक्कर लगाता है। तीसरा चक्कर लगाते समय नीचे खड़े लोग गाँव में भी हाथ हिला-हिलाकर उसके अभिवादन का जवाब देने लगते हैं।[2] कहीं आक्रोश तो क्या, शिकायत का स्वर भी नहीं उठता कि अब जब आँधी गुज़र चुकी है, लोग तबाह बरबाद हो चुके हैं, दंगे रुकवाने का नाटक करने की क्या ज़रूरत है और यह कि अब तक साहब बहादुर कहाँ सोये हुए थे।

'तमस' उपन्यास की यह विशेषता है कि इसमें अनेक चरित्र हैं, किन्तु एक भी केन्द्रीय चरित्र नहीं है। उपन्यास का प्रधान पात्र 'आतंक' है जो प्रारम्भ से अन्त तक छाया हुआ है। उसे ही उपन्यास का नायक कहा जा सकता है और उसे लेखक ने उसकी सारी भयावहता के साथ सृजित किया है।

विभाजनकालीन स्थितियों के सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण :

इस उपन्यास मे लेखक ने विभाजन के समय की स्थितियों और साम्प्रदायिक दंगों को सामाजिक राजनीतिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। उस ऐतिहासिक दुर्घटना के काफी समय बाद की रचना होने के कारण इसमें लेखकीय आवेश के बदले एक शान्त तटस्थता है। लेखक साम्प्रदायिकता का मूल कारण अज्ञान और अन्धविश्वासों पर पलने वाले धर्म को मानता है जो अपने ऊपरी भेदों के कारण मनुष्य को मनुष्य से अलग करता है। लेखक के विचार से मनुष्य अपनी व्यक्तिगत हैसियत मे निर्दोष है, उसे दोषी बनाने वाली सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था है। अज्ञान और अन्धविश्वास पर आश्रित धर्म को आधार बनाकर चलाई जाने वाली राजनीति लोगो को विभाजित कर दुर्बल बना देती है, जिसका लाभ साम्राज्यवादी व्यवस्था को मिलता है। अपनी व्यग्य विद्रूप वाली शैली में लेखक ने जनता को अज्ञान मे रखकर उसकी भावनाओ को गलत दिशा में मोड़ देने वाले तत्वों की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की है। साम्प्रदायिक हिंसा की व्यर्थता सिद्ध करने के लिये ही वह जरनैल, मिलखी, इत्रफरोश जैसे लोगों को मरते दिखाता है, जो निर्दोष तो है ही, जिन्हें मारने मे कोई तुक भी नही है। हिंसा और क्रूरता के इस माहौल में लेखक शुद्ध मानवीय धरातल पर इन्सानियत की पतली-सी लकीर को देखने की चेष्टा करता है और जरनैल, राजो, शाहनवाज़ जैसे पात्रों में हमें इस लकीर के दर्शन भी होते है। उपन्यास के अन्त तक आते-आते सारी

1. तमस, पृ० 242.
2. वही, पृ० 242.

चीजें इतनी नकारात्मक और निराशाजनक हो जाती है कि पाठक अवसाद मे डूब जाता है। समस्या से जूझने की दिशा मे प्रेरित करने के लिये या तो लेखक के पास कोई तरीका बचता नही, या वह जानबूझ कर ऐसा रुख अपनाता है, ताकि पाठको पर अपनी कोई राय थोपने के बजाय उन्हे उनके ही ढंग से सारी चीज समझने का मौका दे सके। स्वयं लेखक के शब्दो मे यह उपन्यास एक संकटपूर्ण स्थिति की पृष्ठभूमि में विभिन्न धर्मों, वर्गों, विचारधाराओं के लोगों की क्रिया-प्रतिक्रिया की कहानी है, इससे अधिक कुछ नही।[1] परिवेश के दबाव में सूखते जाने वाले स्नेह-सूत्रो और टूटते मूल्यों एवं आदर्श के कारण उत्पन्न होने वाला दर्द इस रचना मे उत्कट रुप मे व्यक्त हुआ है। साम्प्रदायिकता की समस्या को भीष्म साहनी ने आम आदमी के दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा की है और इसीलिये उन्होंने सामान्य जनता के स्तर पर रहकर ही लेखन किया है।

बलवन्तसिंह :

बलवन्तसिंह का 'काले कोस' (1957) उनकी अन्य कृतियो से भिन्न और विशिष्ट है। इस उपन्यास मे लेखक ने उन काले कोसों की कलंकित कालिमा को रूपायित किया है जिन्होने देश के दो देह एक प्राण मानवों के बीच 'काले कोस' दूरी पैदा कर उसे दो भागों मे विभाजित कर दिया।

काले कोस :

'काले कोस' (1957) की कहानी पंजाब के विभाजन से कुछ समय पूर्व शुरू होकर दंगों के बीच समाप्त होती है। उपन्यास विभाजन से पहले के पंजाब के एक खूबसूरत गाँव और ग्रामवासियों को केन्द्र बनाकर चलता है। वहाँ "मीलो तक फैले हुए हरे-भरे खेत, उनमे जगह-जगह रूं-रूं करते हुए रहट, सुबह के चमकीले प्रकाश मे दमकते हुए पानी के जोहड़, शीशम, फुलाह और बबूल के पेड़ों के सिलसिले अजब बहार दिखाते थे।"[2] इस गाँव मे सभी जातियों के लोग मिल-जुल कर एक विशाल परिवार की भाँति रहते हैं। यद्यपि इस गाँव मे विरसासिंह और उसके साथियो जैसे लोग भी हैं, दंगा, फसाद और डकैती जिनके प्यारे व्यसन है; फिर भी अधिकतर लोग सीदे-सादे हैं, जो अपनी शान्तिपूर्ण दिनचर्या मे मग्न हैं। फुल्लाँवाले पीर की दरगाह पर हर साल एक शानदार मेला लगा करता है, जिसकी तैयारी और चहल-पहल मेला लगने के कई दिन पहले ही शुरू हो जाती है। ऊँचे-ऊँचे पेड़ो की घनी छाया में तले प्रकाश के शान्त फैलाव मे लगे हुए मेले में तड़पती और ललकारती हुई जिन्दगी के भाँति-भाँति के दृश्य छिपे रहते हैं। उस स्वप्निल वीराने

---

1. तमस : संस्मरण—भीष्म साहनी : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ० 430
2 काले कोस : सिंह पृ० 22

में, चाँद की मद्धिम रोशनी एवं मधुर अलगोजों और रसीली बाँसुरियों के स्वर दिल में उतर जाते हैं, हीर गाने की सुरीली आवाज़ें कानों में अमृत घोल देती है। जैलदार पेमोरासिंह की बैठक और दरबार मियाँ दिल मुहम्मद के द्वार में चार-गाँव के प्रमुख व्यक्तियों और अन्य साधारण लोगों की महफिल जमती है और फिर दुनिया भर के गम्भीर तथा अगम्भीर प्रश्नों पर वार्तालाप होता है। पेमोरासिंह का बेटा सूरतसिंह बम्बई और लाहौर में शिक्षा प्राप्त करने के बाद अब गाँव में ही रहकर गाँव की तरक्की की योजनाएँ बना रहा है। लाहौर मेडिकल कालेज की एक छात्रा महेन्द्र और उसकी सहयोगिनी है। वे दोनों छोटे पैमाने पर अपना काम शुरू करते हैं। काफी आलोचना और बाधाओं के बाद उन्हें और उनके प्रयासों को गाँव वालों के बीच स्वीकृति मिलने लगती है। उनकी झोपड़ियों में पढ़े-लिखे और गाँव के गरीब लोगों की महफिल भी जमने लगती है, जिनमें देश की वर्तमान स्थिति पर बहस होती है। इनमें हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही भाग लेते हैं, आपस में किसी तरह की कटुता उत्पन्न नहीं होती। लेकिन जैसे-जैसे देश का माहौल बदलता है, गाँव का माहौल भी बदलने लगता है। आस-पास के इलाकों में साम्प्रदायिक दंगे शुरू होते हैं, किन्तु मियाँ दिल मोहम्मद के प्रभाव से चारगाँव के सिक्खों पर कोई आँच नहीं आती। जब हजारों की संख्या में हमलावर बाहर से आक्रमण करते हैं, तब भी चारगाँव के मुसलमान सिक्खों और हिन्दुओं का साथ देते हैं। लेकिन शीघ्र ही उन्हें अनुभव हो जाता है कि बाहरी हमलावरों से बहुत समय तक बचे रहना सम्भव नहीं है। तभी हिन्दू यूनियन के सिपाही चारगाँव में फंसे लोगों की सहायता के लिये पहुँच जाते हैं। बड़े दुःखी मन से चारगाँव के निवासी अपना पैतृक गाँव छोड़ते हैं तथा अनेक कठिनाइयों के बाद सब सीमा पार कर अमृतसर पहुँचते हैं।

स्थितियों के विरोधाभास और परिवर्तित मानसिकता का चित्रण :

लेखक ने स्थितियों के विरोधाभास द्वारा परिस्थितियों की विडम्बना को प्रभावशाली ढंग से उभारा है। उपन्यास के पूर्ववर्ती भाग में वह चारगाँव के मनोहर प्राकृतिक परिवेश की पृष्ठभूमि में वहाँ के निवासियों के शान्त और सन्तोषपूर्ण जीवन के आकर्षक चित्र अंकित करता है। ग्रामवासियों के आपसी सौहार्दपूर्ण सबन्धों[1], वहाँ लगने वाले मेले के जीवन से भरपूर दृश्यों[2], रहट, गुरुद्वारे के दृश्य चित्रण के द्वारा चारगाँव की जीवन प्रणाली को स्पष्ट करता है। यह जीवन प्रणाली, जिसमें हिन्दू, मुस्लिम और सिक्ख मिल-जुलकर आनन्दपूर्वक रहते हैं; कैसे धीरे-धीरे बदल जाती हैं, बड़ी सूक्ष्मता से अंकित हुआ है। गाँव का एकता और भाईचारे का माहौल कैसे बदलने लगता है, इसका यथार्थ चित्र उपन्यासकार ने खींचा है। गाँव के शान्ति-

1. काले कोस पृ० 48.
2. वही, पृ० 28.

पूर्ण माहौल मे हलचल तब उत्पन्न होती है जब मियाँ दिल मोहम्मद के एक मुस्लिम लीगी रिश्तेदार गाँव में तशरीफ लाते हैं। सीधे-सादे गाँववाले, जिनमे हिन्दू, मुसलमान, सिख सभी शामिल हैं, यह सोचकर मियाँजी के द्वारे में एकत्र होते है कि वे मुस्लिम लीग के बडे अफसर है, बड़ी अच्छी-अच्छी बातें करेंगे। इकबाल की शायरी को लेकर मुंशी खेमचन्द और तसनीम साहब मे नोंक-झोंक प्रारम्भ होती है, जो कलकत्ते के 'डायरेक्ट ऐक्शन' को लेकर खुली तू-तू-मैं-मैं मे परिणत हो जाती है।[1]

अब साथ मिलकर बैठनेवाले हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान अपनी अलग-अलग बैठकें करनी शुरू कर देते है। पेशौरासिंह की बैठक में खेमचन्द जैसे लोग सीधे-सरल ग्रामवासियो को, जिन्हे पाकिस्तान की मांग या मुस्लिम लीग के विषय मे ठीक से कुछ मालूम भी नही; आनेवाली मुसीबतो और हिन्दू मुस्लिम तनाव के विषय मे सचेत करते हैं। कलकत्ते के दंगो तथा मुसलमानो के अत्याचारो का हवाला देते हुए वे हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को उभारने का प्रयास करते है[2] और इसमे काफी हद तक सफल भी होते है।[3] वे मुस्लिम लीग द्वारा गुप्त रूप से की जाने वाली तैयारियों की ओर संकेत करते हुए बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से गाँव वालों को आगाह करते है कि "चारगाँव का हर मुसलमान छुपके-छुपके तैयार किया जा रहा है। एक दिन ऐसा आयेगा कि यही मासूम सूरतें बन्दूकें, बल्लम और छुरे लेकर हम पर पिल पडेंगे।[4] इस पर पेशौरासिंह जैसे समझदार भी उबल पड़ते है—"लेकिन हमने भी चूड़ियाँ तो नही पहन रखी हैं। अगर मुसलमानों ने ऐसा साहस किया तो हम चारगाँव उनसे खाली करा देंगे।[5] सर्वसम्मति से यह तय होता है कि हिन्दू और सिक्ख जवानो को भावी संकट का अनुभव कराया जाये और उन्हे मुसलमानों का मुकाबला करने के लिये तैयार किया जाये। फूट डालने का यही काम करीमू चारगाँव के मुसलमानो के बीच कर रहा है। वह बड़ी चतुराई से उनके मन मे साम्प्रदायिकता के बीज बोता है। कलकत्ते में हिन्दुओ द्वारा मुसलमानो पर किये गये अत्याचारो की कथा सुनाकर वह उनके मन मे जहर घोलना शुरू करता है।[6] धीरे-धीरे लोगों को उसकी बात

1. काले कोस—बलवन्त सिंह, पृ० 213.
2. "इन म्लेक्षो ने हिन्दुओ को बड़े नुकसान पहुँचाये है। हमारे मन्दिर गिराये, हमारे धर्म-ग्रन्थ जलाये, हमारी स्त्रियो की लाज लूटी, हम पर जजिये लगायें। अब फिर उन्हे वही समय लौटाने की सूझ रही है।
   काले कोस—बलवन्त सिंह, पृ० 222.
3. वही, पृ० 224.
4. वही, पृ० 225.
5. वही, पृ० 225.
6. वही, पृ० 246.

पर विश्वास आने लगता है। मियाँ दिल मोहम्मद उसकी बात काटना चाहते हैं, लेकिन करीमू इस ढंग से अपनी बात रखता है कि सारा गाँव वाले उसकी हाँ-में-हाँ मिलाने लगते हैं।[1]

धीरे-धीरे गाँव का वातावरण इतना विषाक्त हो जाता है कि द्वारे में सिर्फ मुसलमान जाने लगते हैं और पैशौरासिंह की बैठक में केवल हिन्दू और सिक्ख। जैसे-जैसे पश्चिमी पंजाब और लाहौर में होने वाले दंगों का समाचार मिलता है, माहौल और अधिक बिगड़ जाता है। गुरुद्वारे में हेडमास्टर सूरजसिंह जाट बड़े ओजस्वी शब्दों में हिन्दू धर्म की रक्षा का आह्वान करते हैं[2] तो लाला खेमचन्द मुसलमानों के अत्याचारों का हवाला देते हुए आत्मरक्षा हेतु सावधान करते हैं।[3]

यही भूमिका चौधरी बरकत अली मियाँ दिल मोहम्मद के द्वारे में निभा रहे हैं।[4] मियाँ साहब के विरोध करने पर वे उबल पड़ते हैं 'हजारों-लाखों मुसलमानों के काफिले मशरिकी पंजाब से पिंडियों के दल की तरह चले आ रहे हैं। जरा उनसे मिलकर पूछिये कि इन पर क्या बिपता पड़ी है। जिन हिन्दुओं और सिक्खों को आप कलेजे से लगा-लगाकर रखते हैं वही संघ वाले और सिक्ख मिल-जुलकर वहाँ मुसलमानों के खून की होली खेल रहे हैं।[5]

आपसी भाई चारे का चित्रण :

साम्प्रदायिकता के इस माहौल में भी मियाँ दिल मोहम्मद, बेली शाह, अल्ला दिता अराई जैसे लोग अपना विवेक नहीं खोते। इनके प्रयासों से ही गाँव के सारे मुसलमान अपने साथी हिन्दू और सिक्खों की रक्षा करते हैं। उनकी कोशिश यही रहती है कि '···यहाँ खून-खराबा न हो। हम लोग जैसे पहले रहते थे वैसे ही अपने-अपने कामों में लगे रहें। वही प्यार और वही भाईचारा बना रहना चाहिये। अगर दोनों कौमें लड़ पड़ी तो हमारी ये खूबसूरत बस्तियाँ खून और आग की लपेट में आ जायेंगी।[6]

करीमू के भड़काने पर हमलावर चारगाँव पर बहुत बड़ा हमला करते हैं। 'किन्तु हमले की असफलता और हमलावरों के मारे जाने के कारण इलाके भर में

1. काले कोस : बलवन्त सिंह, पृ० 247.
2. वही, पृ० 271.
3. वही, पृ० 273.
4. वही, पृ० 268.
5. वही, पृ० 269.
6. वही, पृ० 268.

ख्याति के साथ-साथ प्रतिहिंसा का भाव भी तीव्र हो गया। सबसे चिंता की बात तो यह भी है कि वहाँ के मुसलमान भी सिक्खों और हिन्दुओं की हिफाजत कर रहे थे।[1] हमलावर चारगाँव के बाहर डेरे डाल देते है और चारगाँव हँसती बोलती रौनकदार बस्तियों से बदलकर जंगी किला बन जाता है। अन्त में हिन्दू-सिक्खों को अपना वतन छोड़कर जाने को विवश होना ही पड़ता है। दूसरे दिन प्रातःकाल का प्रकाश फैलने पर बड़ा दर्द-भरा दृश्य देखने को मिलता है। हिन्दू-सिक्ख पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे-बूढ़े खानाबदोशों की तरह बाहर निकलकर खेतों में जमा हो जाते है। मुसलमान फूट-फूटकर रो रहे है। चलते समय उन लोगों ने एक दूसरे से देर तक हाथ मिलाये। उनके हाथों मे इन्सानियत की गर्मी और प्यार था। किन्तु एक दूसरे से विलग होने का भाग्य का फैसला अटल था। ...।[2] अपने-अपने घरों से निकलकर उन्हें वीराने में बने कैम्प में रात बितानी पड़ती है। निर्जन मे बने कैम्प और वहाँ का माहौल परिस्थिति की भयावहता और दुःखी स्त्री-पुरुषों के जीवन की विडम्बना को और भी उभार देते है।

बदला हुआ परिवेश :

कल तक जो एक दूसरे के मित्र और हमसाये थे, आज मौत और बरबादी के सन्देशवाहक बन गये है।[3] कल तक जो जगहें, जो शहर उनके परिचित थे, अपनत्व का एक सूक्ष्म तार जिनसे जुड़ा था, आज बिल्कुल अपरिचित हो गये हैं। हिन्दू शरणार्थियों के लिये लाहौर और मुस्लिम शरणार्थियों के लिये अमृतसर के शहर खून के प्यासे पशुओं मे बदल गये हैं।[4] जिन्दगी और आकर्षण से भरपूर चारगाँव भयानक श्मशान-सा दिखने लगा है। अट्ठारह बीस दिनों के अन्तराल मे ही, जब बिरसा सिंह चारगाँव लौटता है, उसे सारा माहौल बिल्कुल अपरिचित लगने लगता है।[5] पटियाले मे अपने प्रिय मित्र सिराज का घर और उसके आस-पास का माहौल भी दंगो

---

1. काले कोस, पृ० 298.
2. वही, पृ० 314.
3. 'रात अंधेरी थी। आकाश गंदला था और चारो ओर मौत का-सा सन्नाटा छाया था। कुछ ही देर बाद लोगों के कानो मे बहुत दूर से नारो की आवाज सुनायी देने लगी, मानो एक साथ लाखो मनुष्य समझ में न आने वाले भयानक शब्द निकाल रहे हो। उन शब्दों में खून की प्यास थी। ... मनुष्यों के एक गिरोह की आवाजें मनुष्यों के दूसरे गिरोह के लिये मौत, खून, तबाही और बरबादी का सन्देश बन रही थी।

   वही, पृ० 328.
4. वही, पृ० 331-332.
5. वही, पृ० 365.

के बाद विक्षिप्त सिद्ध होने के लिये अभिशप्त हो जाता है। 'वह सिराज के घर से कुछ दूर पर ही था कि उसके पाँव रुक गये। सामने का द्वार देख पड़ा था जिससे उसका अनिष्ट सम्बन्ध था। ''' और वह दरवाजे के नजदीक पहुँचा तब उसे ऐसा अनुभव हुआ मानो अभी-अभी सिराज मुस्कराता हुआ दरवाजे से निकलेगा और उसके गले से लिपट जायेगा। पर कोई व्यक्ति बाहर नहीं आया। ''' उसकी दृष्टि तुरन्त आँगन के कोने की ओर जा पहुँची जहाँ रेहाना बैठी बर्तन माँजा करती थी। उसे देख उसका चेहरा खिल जाता और वह 'मेरे अब्बा' कहकर हाथ फैलाये उसकी ओर दौड़ पड़ती। परन्तु नहीं ''' वहाँ '''अधेड़ आयु का एक सिक्ख लम्बी दाढ़ी लटकाये टूटी हुई चारपाई पर लेटा था।[1] सिराज के घर की दीवारों से इस समय उदासी और हसरत टपक रही है। हर तरफ उजाड़ और वीरानी है। मकान का छप्पर गल चुका है। 'इसी मकान में रहकर उन्होंने कई सपने लिये थे। हँसे-खेले थे। किन्तु इस समय उधर झाँकने तक को जी न चाहता था। मकान के भीतर कब्र का-सा अन्धकार दिखाई पड़ रहा था।[2]

साम्प्रदायिकता के कारणों के सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण :

हिन्दू-मुस्लिम तनाव के कारणों के सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण सुरतसिंह के संवादों के बीच उभरा है। वह समझता है कि इस तनाव के लिये हमारी मौजूदा व्यवस्था उत्तरदायी है। क्योंकि हमारी मौजूदा व्यवस्था ही गलत है। जिस नजर से हम जिन्दगी को देखते हैं वही गलत है। यह हमारी बिगड़ी हुई परिस्थितियाँ हैं जिन्होंने मनुष्य को मनुष्य से दूर कर दिया है।[3] 'इस प्रश्न के हर पक्ष पर गौर करने पर वह यही नतीजा निकालता है कि 'यह सब पूँजीवादी व्यवस्था का दोष है, उस अंगरेज का दोष है जो अपना फायदा हमें लड़ाने में देखता है।'[4] वह अनुभव करता है कि इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। 'ये सब घटनायें नतीजा हैं बड़ी गहरी समस्याओं का। इसका बीज एक गैर कौम ने बोया है। पूँजीवादी व्यवस्था ने इसको पाला-पोसा है। हमारे भोले-भाले और सीधे-सादे मजदूर, किसान और गरीब जनता गलत प्रचार से प्रभावित होकर एक दूसरे के खून की प्यासी हो रही है।'[5] आग लगाने वाले तो आग लगा देते हैं, झेलना पड़ता है, निम्न वर्ग को, जिन्हें राजनीति और राजनीतिज्ञों से कोई मतलब नहीं है।[6] जिस समय देश में हिन्दू मुस्लिम दंगों को

1. काले कोस, पृ० 377.
2. वही, पृ० 378
3. वही, पृ० 264.
4. वही, पृ० 264.
5. वही, पृ० 263.
6. वही, पृ० 268.

लेकर तू-तू-मैं-मैं हो रही है, दारे के बाहर खिली हुई चाँदनी में बस्ती के जवा- और बूढे अपनी अलग दुनिया बसाये बैठे हैं। राजनीति के झगड़ो से उनका को वास्ता नही है।[1]

उपन्यास के प्रमुख चरित्र :

उपन्यास चारगाँव के निवासियों को केन्द्र बनाकर चलता है। इन्ही मे से कुछ पात्रों के चरित्र विशेष रूप से उभरकर सामने आते है, जो अपनी-अपनी विशेषताओ के कारण ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं।

उपन्यास का सबसे अनोखा चरित्र बिरसासिंह है। उपन्यास के प्रारम्भिक अंश में एक उच्छृंखल युवक के रूप मे सामने आता है; चोरी, डकैती जिसके प्यारे व्यसन हैं। किन्तु उपन्यास के परवर्ती भाग में उसके चरित्र का बिल्कुल नया पक्ष सामने आता है, जिसे अपनी मातृभूमि से गहरा लगाव है, और इस भूमि को छोड़ कर जाने की आशंका मात्र जिसे मर्माहत कर देती है।[2] उसके मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि "क्या मुसलमान हमारे साथ मिल-जुलकर नही रह सकते। मेरे दोस्तों और साथियों मे सभी तरह के लोग शामिल है। हमने कभी यह महसूस नही किया कि हम अलग-अलग धर्म के मानने वाले है।'[3] अफवाहो और सूचनाओं ने उसे अत्यधिक चिन्तित कर दिया है। यह आशंका कि पंजाब में खूनखराबा होगा और उसकी सुन्दर मातृभूमि बरबाद हो जायेगी, वह अत्यधिक व्याकुल हो उठता है। आज से पहले उसे स्वयं इसका अनुभव नही था कि उसे अपनी धरती से इतना प्रेम है।[4]

बिरसा को चार गाँव के मुसलमानो पर पूरा भरोसा है। वह जानता है कि वे

---

1. 'दूर ऊँचे-लम्बे तुन के वृक्ष के नीचे पशुओ के चारा खाने की खुलियो पर शुर्ली, गीटा, बग्गू सोहसी तथा कई अन्य जवान और बूढे अपनी अलग बस्ती बसाये बैठे थे। उस समय शुर्ली सपेरे की भाँति हिल-हिल और झूम-झूम कर अलगोजे बजा रहा था और भेलू अपनी दर्द-भरी ऊँची आवाज मे 'ना वंज ना वंज' (मत जा, मत जा) वाला गीत गा रहा था···।'—काले कोस, पृ० 214.
2. ···क्या सिक्खो को यहाँ से जाना पड़ेगा ? पंजाब तो सिक्खों का वतन है। बाकी लोगों का भी वतन है। लेकिन सिक्खो का तो सिर्फ यही एक वतन है। उनके गुरुद्वारे, उनके धर्म स्थान, उनकी जमीनें और जायदादें सब कुछ यहीं पर तो हैं। वह भला कैसे जा सकते है ? वह इस धरती के खालिस बेटे हैं। —वही, पृ० 264.
3. वही, पृ० 263.
4. वही, पृ० 265.

अपने गाँव के हिन्दू-सिक्खों का नुकसान नहीं पहुँचावेंगे। बाहर के हमले से हिन्दू-सिक्खों की सुरक्षा के लिये वह बड़े सूझ-बूझ से मार्गदर्शन करता है। जान पर खेलकर वह अपनी मंगेतर गोविन्दी को मारकाट में बचा कर ले आता है और अपने आपका खतरे में डालकर अपने प्रिय मित्र निसार और उसके परिवार को बचाता है।

दूसरा प्रमुख चरित्र पेशौरासिंह के बेटे सूरतसिंह का है जो बम्बई और लाहौर में शिक्षा प्राप्त करने के बाद गाँव में ही रह कर गाँव की प्रगति की योजनाएँ बना रहा है। पेशौरासिंह की बैठक में वह सहयोगी जनों की अपनी योजना सब लोगों के सामने रखता है, लेकिन किसी को उसकी बात समझ में नहीं आती। सूरत सिंह के विचारों में यह क्रान्ति लाहौर में मेडिकल कालेज की एक छात्रा कुमारी महेन्द्र कौर के कारण हुई है। "सूरतसिंह ने क्रान्तिकारी हवाई किले बनाये थे और शायद उसका जीवन यह हवाई किले बनाने में ही बीत जाता, किन्तु उस सुन्दर मूर्ति ने दम फूँककर उन हवाई किलों को आकाश से धरती पर उतार लिया था। वह उसी देवी की ही देन थी कि उसे अपने देश के भूले बिसरे गाँव याद आ गये थे।"[1] किन्तु चारगाँव पहुँच कर सूरतसिंह को बड़ी निराशा होती है, जब वह देखता है कि गाँव वालों को अपने कष्टों का कोई अनुभव ही नहीं है और न सूरत सिंह द्वारा दिखाया गया मुक्ति का मार्ग ही उनकी समझ में आता है। अन्त में महेन्द्र कौर की सहायता से वह गाँव में छोटे पैमाने पर अपना काम शुरू करता है। अनेक प्रकार की बाधाओं या आलोचनाओं से विचलित हुए बिना वह अपने प्रयास में जुटा रहता है। सूरतसिंह की धारणा है कि हिन्दू-मुस्लिम दंगे अंग्रेजों की कूटनीति का परिणाम है, पूँजीवादी व्यवस्था की देन है, और उसे इस बात का विश्वास है कि अन्त में मानवता की विजय होगी, धर्म और जाति के भेद मिट जायेंगे।[2] वह समझता है कि सिक्खो को पंजाब छोड़कर जाने की जरूरत नहीं है, वे मुसलमानों के साथ मिल-जुलकर रह सकते है, क्योंकि हिन्दुस्तान भर में पंजाब ही एक ऐसा प्रान्त है जहाँ के लोग मेहनती, मजबूत और विशेष गुणों के मालिक हैं। अलग-अलग धर्म होने के बावजूद हम लोगों की अधिकतर बातें मिलती-जुलती हैं। स्वभाव और जीवन के दृष्टिकोण से एक पंजाबी दूसरे पंजाबी से अधिक भिन्न नहीं है।' उसका हृदय अपनी भूमि और उसके सौन्दर्य से कहीं बहुत गहरे जुड़ा हुआ है', और इसी कारण

1. काले कोस, पृ० 66.
2. वही, पृ० 273.
3. वही, पृ० 264-265.
4. 'हमारे गीत, हमारे रहट, हमारे खेत, हमारी धरती, हमारा आकाश सबसे न्यारे हैं। जिस मजबूत नाते से हम अपनी धरती से बंधे हैं, कोई और नहीं बंधा है।'—वही, पृ० 265.

इसे छोड़ कर जाने की कल्पना उसे दुःखदायी प्रतीत होती है। लेकिन जब वतन छोड़ना ही पड़ता है, जब भी सूरतसिंह के मन में न तो मुसलमानों के प्रति किसी प्रकार की कटुता उत्पन्न होती है, न ही मानवता में उसकी आस्था टूटती है। अमृतसर स्टेशन पर मुस्लिम शरणार्थियों से भरी रेलगाड़ी में एक प्यासे बच्चे को देख वह द्रवित हो उठता है। बच्चे की प्यास बुझाने के लिये वह पानी से भरा कटोरा लिये आगे बढ़ता है। "...ताजे और निर्मल जल में उसे माँ और बच्चे के मुस्कराते हुए चेहरे दीख पड़े। इस पर सूरत का हृदय बल्लियों उछलने लगा और उसके नेत्र सजल हो गये। वह सिपाही की ओट में कटोरा छलकाता बढ़ा।"[1] लेकिन उत्तेजित जनसमूह उसे माँ और बच्चे तक पहुँचने नहीं देता। 'सूरत ने हाथ फैला दिय जैसे सारे समुद्र का अपनी छाती पर रोक लेगा...कांसे का वह कटोरा जिसमें भरा हुआ पानी एक माँ—केवल माँ और उसके हृदय के टुकड़े के होंठों को तर करने के लिए ही था—उसके हाथ से छूटकर गिरा और हजारों निर्दयी ठोकरें खाता हुआ न जाने कहाँ चला गया...।'[2]

सूरतसिंह तथा विरसासिंह के अतिरिक्त कुछ और भी चरित्र हैं, जो बरबस ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। चारगाँव के शान्तिपूर्ण वातावरण में बेलो जैसे लोग सन्तोषपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। जिसकी हर मजहब और हर धर्म से दिलचस्पी है। मग्गट जैसे छोटे गाँव में रह कर भी उसके हृदय और मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो गये है। गाँव के लोग उसे आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। साम्प्रदायिकता का फैसला हुआ जहर बेली शाह को बेचैन कर देता है। इसी कारण जब मियाँ दिलमुहम्मद के द्वारे में खेमचन्द और लीगी तसनीम साहब में तू-तू-मैं-मैं होने लगती है, वह उद्विग्न होकर वहाँ से चल देता है। जिस समय सारा गाँव सूरतसिंह और महेन्द्र की आलोचना में व्यस्त है, बेलीशाह यह सोचने की कोशिश करता है 'ठीक है, सूरतसिंह ऐसी बातें करता है जो हमारी समझ से गलत मालूम होती है। लेकिन शायद वह इतनी गलत नहीं है जितनी कि हम समझते हैं। हो सकता है, हमारी समझ का दोष हो, आखिर हमने दुनिया में देखा क्या। गाँव में पैदा हुए, यहीं पले, यहीं बूढ़े हो गये।'[3] महेन्द्र के विषय में भी उसका यही विचार है "...हो सकता है कि वह हमारे गाँव की सबसे नेक बेटी हो। हो सकता है, वह हर मर्द को अपना भाई और बाप समझ कर सेवा करती हो।[4]

बेलोशाह के साथ-साथ मियाँ दिल मुहम्मद और सरदार पेशौरासिंह के चरित्र भी अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण ध्यान आकृष्ट करते हैं। दोनों ही चारगाँव

1. काले कोस, पृ० 355.
2. वही, पृ० 355.
3. वही, पृ० 121.
4. वही, पृ० 122.

के सम्मानित बुजुर्ग हैं और गाँव में उनकी गाढ़ी छनती है।[1] मियाँ दिल मोहम्मद बड़े विनोदशील और उदार हृदय व्यक्ति हैं। गाँव के बदलते हुए माहौल पर उनकी नज़र है और वे नहीं चाहते कि चारगाँव में साम्प्रदायिकता का ज़हर फैले। जब करीमू मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावनाओं को भड़काना चाहता है, वे उसका विरोध करते हैं।"[2] शेखूपुरा में जब सिक्खों के कुछ आदमी मार डाले जाते हैं, तब भी मियाँ दिल मोहम्मद के मन में पहली बात यही आती है कि "इस वक्त तो यह देखना है कि हमारी हमसाया कौम को दुःख पहुँचा है। हमें उनकी दिलजोई करनी चाहिये।"[3] जब चौधरी बरकत अली मुसलमानों पर हिन्दुओं द्वारा किये जा रहे अत्याचारों की तस्वीर खींचते हैं, मियाँ साहब बड़ी दृढ़ता से उसका विरोध करते हैं।[4] वे समझते हैं कि बेजबान औरतों, मासूम बच्चों और निहत्थे पुरुषों की हत्या करना बहादुरी या जवांमर्दी नहीं है और न ही इससे इस्लाम की सेवा होती है। उन्हें तो इन बातों का प्रमाण मिला है कि 'मशरिकी पंजाब में भी जो मुसलमानों के लिए दोजख बना हुआ है, इस वक्त ऐसे हिन्दू और सिक्ख मौजूद हैं जो मुसलमानों की मदद करते हैं। अपनी जान खतरे में डालकर मुसलमान भाइयों की जान, माल और आबरू की हिफाजत करते हैं।...मशरिकी पंजाब में भी ऐसे नेक और बहादुर मुसलमानों की मिसालें कम नहीं मिलेंगी जिन्होंने हिन्दुओं और सिक्खों की हिफाजत में अपनी जानें खतरे में डाल दीं...।'[5] इतना ही नहीं वे मुसलमानों के मजमे के साथ गुरुद्वारे तक जाते हैं और अफसोस प्रकट करते हुए पेशौरा सिंह से कहते हैं "...हम तुम्हारे इस दुःख में बराबर के शरीक हैं। हो सकता है कि तुम लोगों ने भी मौजूदा हालात पर आपस में सलाह-मशविरा किया हो। हमने भी इसके हर पहलू पर गौर करने के बाद यह नतीजा निकाला है कि चारगाँव के मुसलमान अपने सिक्ख भाइयों के साथ हैं।'[6] वे समझते हैं कि 'हम एक ही पेड़ की दो शाखें हैं। हमारे बाप दादा का पसीना इसी धरती में जज्ब हुआ है...।"[7] यह दिल मोहम्मद का ही प्रभाव है कि चारगाँव के मुसलमान बाहरी आक्रमण होने की दशा में पूरी तरह अपने हिन्दू-सिक्ख भाइयों का साथ देते हैं। मियाँ दिल मोहम्मद उनकी हिफाजत अपना फर्ज समझते हैं, क्योंकि "...ये लोग

1. काले कोस, पृ० 47.
2. वही, पृ० 247.
3. वही, पृ० 267.
4. वही, पृ० 269.
5. वही, पृ० 270.
6. वही, पृ० 276.
7. वही, पृ० 276.

हमारे भाई ही तो हैं। हम तो अपने चारगाँव को एक घर ही समझते हैं और यहाँ के हर रहने वाले को कुनबे का एक फ़र्द (सदस्य) सिर्फ मज़हब जुदा होने से सदियों का ताल्लुक तो टूट नहीं सकता।'[1] मियाँ साहब जैसे लोगों ने ही नफ़रत की आग मे मानवता की ज्योति जलाये रखा है।[2] बाद मे वे करीमू जैसे लोगों से गोबिन्दी की रक्षा करते हैं। अपने घर में वे उसे बेटी की तरह रखते हैं[3] और करीमू के चंगुल मे फंसे बिरसा को बचाकर वे गोबिन्दी को उसके हवाले कर देते है।

विभाजन के सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण :

इस उपन्यास मे बलवन्त सिंह ने विभाजन की कृत्रिमता को ही अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की है। परिवेश के दबाव ने सदियो से साथ रहने वालों के दिलों में अलगाव का जो बीज बोया है, उसने हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच अनगिनत काले कोसो की दूरी पैदा कर दी है। अपने परिवार सहित पटियाले से भागने वाला सिराज जब अनुमान से पाकिस्तान की ओर बढ़ता है, बारम्बार उसके मन में प्रश्न उत्पन्न होता है, 'न जाने पाकिस्तान कहाँ है ?' उसे लगता है मानो पाकिस्तान तक पहुँचने के लिये अनगिनत कोसो की दूरी तय करनी है। उसकी दृष्टि पाकिस्तान की ज़मीन, पाकिस्तान के खेतो और पाकिस्तान की हवा को खोज रही है। लेकिन तभी उसे पता चलता है कि वह तो पाकिस्तान पहुँच भी चुका है।[4] यह जानकर उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता। किन्तु दूसरे ही क्षण वह भौंचक्का रह जाता है। उसकी समझ में नही आता कि पाकिस्तान का मतलब क्या है ? वही धरती, वही खेत, वे ही हवाएँ।[5] और तब अपने घनिष्ठ मित्र बिरसा से मिलने के लिये वह पाकिस्तान की ज़मीन से लौट कर आता है। सारे राजनीतिक प्रपंच, धर्मोन्माद तथा हिंसा के बावजूद एक दूसरे के लिये प्राण देने को तत्पर बिरसा और सिराज जैसे चरित्र भारत-पाकिस्तान की कृत्रिम विभाजक रेखाओ के लिये एक चुनौती है।

इस उपन्यास में लेखक द्वारा राजनीतिक परिवर्तनों के सन्दर्भ मे परिवर्तित जीवन-मूल्यों की व्याख्या की गयी है; व्यक्ति-चेतना को संश्लिष्ट धरातल पर धार्मिक-राजनीतिक वर्गों में विभक्त और विशिष्ट धरातल पर मानवीय इकाई में

---

1 काले कोस, पृ० 312.

2. वही, पृ० 312.

3. वही, पृ० 370

4. "सिराजू ! तेरे-मेरे देस में इतनी दूरी नही है। तू नाहक इतनी दूर-दूर निगाहें दौड़ा रहा है। अब तो तुम पाकिस्तान पहुँच चुके थे। तुम क्या समझे बैठे थे कि पहुँचने के लिये नदी-पहाड़ फाँदने पड़ेंगे ?"—पृ० 391.

5. वही, पृ० 391-392.

संयुक्त दिखलाया गया है। वर्ग विभक्त है और व्यक्ति संयुक्त, वर्ग परिचालित है धर्म और राजनीति से और व्यक्ति प्रेरित है मानवभाव से।

कमलेश्वर :

कमलेश्वर की रचनाएँ मानव-मूल्यों के संरक्षण एवं सामाजिक नवनिर्माण के उत्कट आकांक्षा की रचनाएँ हैं। वे कल्पना के पंखों पर नहीं उड़ती, बल्कि दुनिया की व्यावहारिक और वास्तविक जिन्दगी से उनका सीधा सम्बन्ध है। आसपास के यथार्थ को गहराई से अनुभव कर उन्होंने निम्न मध्य वर्ग तथा मध्य वर्ग के तनावों, अन्त-विरोधों एवं संक्रमण की स्थितियों को संवेदना के व्यापक स्तर पर उभारा है। कमलेश्वर की रचनाओं का मूल स्वर आशावादी है। इसी कारण आज के जीवन में व्याप्त घुटन और विघटन को सहानुभूति के साथ चित्रित करते हुए उन्होंने सामाजिक जीवन की पीड़ा एवं संघर्ष के प्रति प्रतिबद्ध हैं। 'लौटे हुए मुसाफिर' ऐसी ही रचना है; विभाजन की त्रासदी का चित्रण होते हुए भी जिसमें आस्था एवं विश्वास का आशावादी स्वर उभरा है तथा जिसमें परिवेश की आन्तरिकता मानवीय संवेदना के संस्पर्श से सजीव हो उठी है।

लौटे हुए मुसाफिर :

विभाजन के कारण हुए सूक्ष्म परिवर्तनों की गाथा :

एक छोटी-सी बस्ती में विभाजन पूर्व, विभाजन के समय तथा विभाजन के बाद जो सूक्ष्म परिवर्तन हुए हैं, उनका चित्रण इस लघु उपन्यास का विषय है। उपन्यास के पहले वाक्य "...सिर्फ नफरत की आग ने इस बस्ती को जलाया था।" से स्पष्ट है कि कमलेश्वर स्वतन्त्रता के कई वर्षों बाद की बस्ती की अवस्था से उपन्यास का प्रारम्भ करते हैं। आज इस उजड़ी हुई बस्ती को देखकर नसीबन का मन रो उठता है। "आज भी लगभग वैसा ही है, जैसा आजादी से पहले था। सिर्फ इस बस्ती को उदासी ने जकड़ लिया है। ठहरी शामें होती हैं और रुका हुआ वक्त है।"[1] आज इस खामोश बस्ती को देखकर किसी को गुमान नहीं हो सकता कि कभी यहाँ इतनी रौनक बरसती थी और दोनों सम्प्रदायों के लोग यहाँ प्रेम और विश्वास से मिल-जुल कर रहते थे, एक दूसरे के त्योहारों में भाग लेते थे।[2] राजनीति से बेखबर

---

1. लौटे हुए मुसाफिर : कमलेश्वर : हिन्दी पाकेट बुक्स, दिल्ली, पृ० 9.
2. "तब बहुत खूबसूरत थी यह बस्ती"...

   "जब हिन्दुओं की बस्ती से ताजिए गुजरते थे, तो उन पर लोग गुलाब जल छिड़कते थे और हिन्दू औरतें अपने बच्चों को गोदी में उठाए ताजियों के नीचे से गुजरती थीं और दौड़-दौड़कर फेंके हुए मखाने बीनकर श्रद्धा से आँचल के खूंट में बाँध लेती थीं। जब रामलीला का विमान उठता था, तो मुसलमान औरतें दरवाजों के चिकें या बोरों के पर्दे उलटकर मूर्तियों के शृंगार की तारीफ करती थीं और उनके बच्चे विमान के साथ दूर तक शोर मचाते हुए आया करते थे—"बोलो राजा रामचन्द्र की जै।"—लौटे हुए मुसाफिर, पृ० 5-6

ये लोग एक दूसरे के सुख-दुःख में सम्मिलित थे। दिन बीतते गये, अंग्रेजों के आने के साथ छोटे-मोटे कार्यालय खुले। नौकरियों के लिये शिक्षित-वर्ग यहाँ आया। यह तबका अपने-अपने घरों पर हिन्दू या मुसलमान था, लेकिन साहब के सामने सिर्फ नौकर था।[1] भीतर-ही-भीतर अंग्रेजों के विरोध मे आग सुलग रही थी। सन् बयालीस के आन्दोलन मे हिन्दू-मुसलमान, दोनो ने भाग लिया था। और इसके कुछ ही महीनों बाद इस बस्ती के मुसलमानो में जिन्ना साहब की चर्चा शुरू हुई। और फिर सन् 1945 का जमाना आया, और देखते-देखते सब कुछ बदल गया।[2]

इस बस्ती के दूसरे छोर पर मुसलमान चिकवो की बस्ती है। कथा का मुख्य केन्द्र यही बस्ती है। इस बस्ती की विधवा नसीबन छोटे-मोटे काम करते हुए अपने बच्चों का पालन-पोषण कर रही है। एक साईं है जो दिन भर इधर-उधर घूमता है, शाम के समय धूनी रमाता है। सत्तार जो पहले किसी सर्कस कम्पनी मे काम करता था, अब इस बस्ती में आकर जम गया है।' उसे नसीबन खाला की सहानुभूति है, साईं का आश्रय है और सलमा का प्यार।' सलमा इस बस्ती के जनाना अस्पताल मे काम करती है। पति को छोड़कर वह पिता के घर में रह रही है। बच्चन भी है, जिसकी पत्नी गुजर चुकी है, जिसके दो छोटे-छोटे बच्चे हैं, जिनको नसीबन माँ से भी अधिक प्यार करती है। सायकिल-दूकान वाला रतन भी है, ठाकुर, गुप्ता, जाफर मियाँ, चौबे भी है। राजनीतिक उथल-पुथल से अनजान, अपने सुख-दुःख में डूबे ये लोग बड़ी शान्ति से जी रहे है। इस खूबसूरत बस्ती में एक दिन सलमा का पति मकसूद और अलीगढ़ का सियासी कारकुन यासिन आ जाते हैं, और यही से नफरत की चिनगारी फैलने लगती है। मकसूद, यासीन और साईं तीनो मिल जाते है।

---

1. लौटे हुए मुसाफिर, पृ० 6.
2. "एक बूँद खून नहीं गिरा। किसी मुहल्ले पर धावा नहीं हुआ। किसी-ने-किसी को नहीं मारा। किसी-ने-किसी को गाली तक नही दी। मस्जिदों में लड़ाई की तैयारियाँ नही हुई।...लेकिन भीतर-भीतर एक भूचाल आया था। दिलो इमारतें ढह गई थीं। अपनेपन का जज्बा मर गया था। नफरत की आग ने इस बस्ती को निगल लिया था।...और भरी-पूरी चिकवों की वह बस्ती सबसे पहले उजड़ गई थी। पता नही यह आग कहाँ छिपी थी?...नफरत की इस आग की चिनगारियाँ बाहर से आई थीं—दूसरे शहरों, कस्बों और सूबो से।"—वही, पृ० 8.
3. "और जब उस सियासी कारकुन ने देखा कि इन चिकवों की बस्ती में कोई सनसनी नहीं है, तो उसके दिल को चोट-सी लगी थी। जब वह देखता कि मसजिद मे मकतब लगता है और मन्दिर की चहारदीवारी में पाठशाला जमती है और सब कुछ बदस्तूर चला जा रहा है तो वह सह नहीं पाता था..."
—लौटे हुए मुसाफिर, पृ० 19-20

मस्जिदों में बैठक होने लगती है। लोगों के मन में हिन्दुओं के प्रति, कांग्रेस तथा गांधीजी के प्रति नफरत की आग फैलायी जाती है। प्रतिक्रिया स्वरूप बस्ती में संघ का प्रवेश होता है।[1] नफरत की चिनगारी धीरे-धीरे फैलती है।[2] यासीन और मकसूद आग फैलाने के काम में लगे ही हैं, सभी भी इसमें लगन से जुटे हैं। अफवाहें फैलती है और कल तक के दोस्त, हमसाया हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे को अविश्वास की नजरों से देखने लगते हैं।[3] साईं इस आग को भड़काने की कोशिश कर रहा है। नसीबन, बच्चन और सत्तार को इससे नफरत है। अब दोनों जातियों में अपने हिन्दू और मुसलमान होने का अहसास बढ़ता जा रहा है। हिन्दू शायद अपने को एकाएक ज्यादा हिन्दू समझने लगे हैं और मुसलमान अपने को ज्यादा मुसलमान। फिर एक दिन बस्ती में मौलाना साहब का आगमन होता है। वे समझाते हैं "हिन्दोस्तान में दो कौमें रहती हैं और अब वे साथ-साथ नहीं रह सकतीं।"···सोलह अगस्त का दिन एक रंज-भरे दिन की तरह मनायें···मुसलमान हिन्दू सरकार के मातहत नहीं रहेगा।"[4] मौलाना के पूर्व इस बस्ती में संघ के अधिकारी आये थे। हिन्दुओं की विशाल सभा में उन्होंने कहा था "···हिन्दू राष्ट्र ने आज अपना तीसरा नेत्र खोला है···वह सब इसमें भस्म होगा जो विदेशी है। ··· वीरभोग्या वसुन्धरा ··· और वीर वही है, जो हिन्दू है।"[5] 16 अगस्त, 1946 के दिन तो वातावरण में और अधिक जहर घुल जाता है।[6] तभी पाकिस्तान बनने की घोषणा होती है। "शहर के मुसलमान अन्दर-ही-अन्दर खुश हुए, पर ऊपर से कटे हुए थे ··· साथ ही उनमें कहीं भय और भी गहरा उतर गया था।"[7] किन्तु नसीबन जानती है कि पाकिस्तान बनने का कोई मतलब नहीं है इस बस्ती के लिये। "अरे पूछो काई, क्या बदलेगा। अपना

1. लौटे हुए मुसाफिर, पृ० 38.
2. वही, पृ० 40.
3. "···उसे चारों तरफ एक ऐसा सैलाब-सा नजर आ रहा था, जिसमें नफरत के कीड़े बिलबिला रहे थे—जाने-पहचाने लोगों के मुर्दा चेहरे उतराते हुए बहते जा रहे थे—वे चेहरे, जिन्हें देखकर अभी तक इन्सान जीता आया था—जिन में प्यार और अपनापन था। यह सब क्या हुआ है? लोगों ने एकाएक वे चेहरे उतार कर क्यों फेंक दिए हैं?···और सचमुच तब बस्ती में नफरत का एक भयंकर सैलाब आया था।" —वही, पृ० 40.
4. वही, पृ० 70-71.
5. वही, पृ० 56.
6. "हर आदमी दूसरे को शक की निगाह से देख रहा था।··· दीवारों, जमीनों, गलियों और सड़कों तक का मन-ही-मन बँटवारा हो गया।"—वही, पृ० 93.
7. वही, पृ० 94.

नसीब जो है, वही रहेगा ।"[1] विभाजन के बाद यहाँ के और आस-पास के अमीर मुसलमान धीरे-धीरे पाकिस्तान की ओर जाने लगते हैं ।[2] दूसरे शहरों, कस्बों, सूबों से तरह-तरह की खबरें आने लगती हैं। हर सुबह एक नयी खबर आती है— हर शाम एक नया डर होता है और इसी माहौल में अनेक लोग बस्ती छोड़कर जाने का निर्णय ले लेते हैं ।[3] चिकवों की इस पूरी बस्ती में केवल तीन ही घर ऐसे है, जो कहीं नही जाते साईं--इफ्तिखार तांगेवाला और नसीबन । विवश सलमा मकसूद और यासीन के साथ चली जाती है । सलमा के विरह को सह पाने में असमर्थ सत्तार एक दिन आत्महत्या कर लेता है । सत्तार के इस खौफनाक अन्त के बाद इफ्तिखार भी चला जाता है, बच जाते हैं केवल नसीबन और साईं—जिसने नफरत की आग को फैलाने और बस्ती को उजाड़ने में सहायता की थी । "गरीबी, अपमान, भूख और बेबसी में भी वे हारे नहीं थे, पर नफरत की आग और शंकापूर्ण भय का धुआँ वे बर्दाश्त नहीं कर पाये ।[4] तब से इतने वर्ष गुजर गये—यहाँ कोई नहीं आया—सिवा इफ्तिखार के । उसी से पता चला कि यहाँ से जो लोग पाकिस्तान के लिये चले थे, वे पाकिस्तान पहुँच ही नही पाये । जो अमीर थे, वे तो पहुँच गये । लेकिन गरीब, जो बड़ी आशा और अरमानो के साथ पाकिस्तान जाकर अपनी गरीबी मिटाना चाहते थे, पैसो के अभाव में वहाँ तक पहुँच ही नहीं सके ।

और आज सन् 1961-62 में कुछ नौजवान फिर इस बस्ती की ओर वापस लौट रहे है । ये वे ही नौजवान हैं, जिनके माँ-बाप पाकिस्तान और सम्पन्नता के सपने लेकर इस बस्ती को छोड़कर चले गये थे, किन्तु पाकिस्तान पहुँच नही सके थे । उन्हीं के लड़के आज वापस लौटे हैं । इनका बचपन इसी बस्ती में बीता था । नसीबन बहुत खुश है । वह लौटे हुए मुसाफिरों को उनके टूटे-फूटे घरो तक पहुँ-चाती है ।

परिवर्तन के कारणों की खोज :

स्पष्ट है कि कमलेश्वर विभाजन की पृष्ठभूमि में एक बस्ती के सूक्ष्म परि-वर्तन की कथा प्रस्तुत कर रहे हैं । परिवर्तन के कारणों की खोज एवं परिवर्तन की

---

1. लौटे हुए मुसाफिर, पृ० 94-95.
2. "पाकिस्तान बनने के बाद भारत के कोने-कोने से जितने भी पैसे वाले थे, वे जल्दी-से जल्दी अपना इन्तजाम करके चले गए । गरीबों का कोई रहनुमा नहीं था ।"—वही पृ० 100.
3. "मोह तोड़कर ये लोग निकल तो गए थे, पर घरो को ऐसे छोड़ गये थे, जैसे वे कभी वापस आयेंगे ।"—वही, पृ० 101.
4. वही, पृ० 104.

भयावह प्रक्रिया को भी उन्होंने स्पष्ट किया है। इस बस्ती के करीब सौ वर्षों का इतिहास इसमें चित्रित है। आरम्भ के पृष्ठों में सन् 1857 की बस्ती का चित्र अंकित किया गया है।[1] 1857 के बाद इस बस्ती में परिवर्तन शुरू हुए। अंग्रेज देश से जा गये, बस्तियों में कार्यालय खुलने लगे। सन् 1942 के आन्दोलन में भी यहाँ के हिन्दू-मुस्लिम युवकों ने हिस्सा लिया था।[2] किन्तु सन् 1945 से ही इस बस्ती के नागरिकों के दिलों में एक भयानक भूचाल आया। सन् 1945-46 और 47, तीन वर्षों मे यहाँ के सर्व-सामान्य हिन्दू-मुस्लिमों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का इसमे शब्दबद्ध किया गया है।

इस कथावस्तु में महत्वपूर्ण घटनाएँ नहीं, इन घटनाओं की प्रतिक्रिया है। शान्तिपूर्वक जीने वाली यह बस्ती नफरत की आग में कैसे जल गयी, इसके विस्तृत विवेचन के साथ-साथ लेखक सलमा-सत्तार, नसीबन-बच्चन, माई-यासीन जैसे पात्रों के व्यक्तिगत जीवन की कथा भी बयान करता चलता है। इनके व्यक्तिगत जीवन तथा नफरत की आग फैलने की घटनाओं में निकट सम्बन्ध है। कमलेश्वर ने उपन्यास में समाज के उस शोषित निम्नवर्ग को केन्द्र में रखा है, नफरत की आग फैलाने में जिसका सबसे अधिक उपयोग राजनीतिज्ञों तथा धर्मान्धों ने किया है। इस वर्ग को केन्द्र में रखकर लेखक ने विभाजन की समस्या को बिल्कुल नये ढंग से देखा है। राजनीति, धर्म, सम्प्रदाय से अलग हटकर तटस्थ दृष्टि से उसने एक बस्ती मे फैलने वाली नफरत की आग का चित्र खींचा है। यह बस्ती भारत के किसी भी प्रान्त के किसी भी हिस्से में हो सकती है। सन् 1930 से 1947 तक इस प्रकार की प्रतिक्रिया प्रत्येक स्थान पर हुई है। शायद इसीलिये कमलेश्वर बस्ती का नाम नहीं देते। यहाँ प्रदेश महत्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है नफरत की आग, जो मानव-मन की मूल समस्या है। सन् 1947 और 48 में अचानक नफरत की जिस ज्वालामुखी का विस्फोट हुआ, उसका चित्रण करने के स्थान पर कमलेश्वर इस ज्वालामुखी का निर्माण कैसे हुआ, इसकी खोज करना चाहते हैं। साम्प्रदायिकता की चिनगारी की खोज करने के लिये ही वे 1930-45 तक के समय को महत्व देते हैं। वे राजनीति का विवेचन-विश्लेषण करने नहीं बैठते। उनकी दृष्टि में तो मनुष्य का मन आलम्बन है, राजनीति उद्दीपन और बस्ती का राख हो जाना कार्य।

---

1. "यह वही बस्ती है जिसने 1857 ई० में अंग्रेजों से लोहा लिया था। हम कौम और मजहब के लोगों ने कन्धे-से-कन्धा मिलाकर गोलियों की बौछार सीनों पर झेली थीं।"—लौटे हुए मुसाफिर, पृ० 5.
2. "उन्हें नहीं मालूम था कि देश कैसे आजाद होगा, पर इतना उन्हें मालूम था कि कुछ करना चाहिए; और वे जो कुछ कर सकते थे, वह उन्होंने किया था।" —वही, पृ० 7-8.

अन्य उपन्यासों तथा इस उपन्यास में एक बड़ा अन्तर यह है कि कमलेश्वर के मुसाफिर वापस लौट आते है। नफ़रत की आग में झुलसकर कुछ हमेशा के लिये गये, कुछ बीच रास्ते मे ही रह गये और कुछ वापस लौट आये, तब जब नफरत की आग समाप्त हो गई। इससे कमलेश्वर स्पष्ट करना चाहते है कि नफरत मनुष्य का शाश्वत धर्म नही है, शाश्वत है सहज स्नेह और प्रेम। वापस लौटने का एक मनोवैज्ञानिक कारण अपनी मातृभूमि के प्रति लगाव का भाव भी है, जिस कारण नये स्थान मे बस जाने पर भी अपने मूल स्थान के प्रति एक अज्ञात आकर्षण का भाव बना रहता है। किसी भी समाज अथवा जाति को जड़ से उखाड़कर कहीं और बसाना, न मनोवैज्ञानिक है, न ही स्वाभाविक। देश-विभाजन की इस घटना के मूल मे राजनीति तो है ही, लेकिन यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि राजनीति के इस अमानवीय खेल मे जनता क्यो शामिल हो जाती है? कल तक के सहज मानवीय सम्बन्धों को नकार एक दूसरे के खून की प्यासी क्यो बन जाती है? इसका कारण है प्रत्येक मनुष्य के हृदय में छिपी नफरत की वह आग, जो अनुकूल परिस्थितियो मे सुलग उठती है। तभी बस्तियाँ जलती है, मानवता और जीवन के श्रेष्ठ मूल्य जल कर राख हो जाते हैं। इस भयावह वातावरण मे भी कुछ लोग ऐसे हैं जो नफरत की आग से अछूते रहते है। नसीबन और बच्चन इसी प्रकार के लोग हैं। कमलेश्वर की श्रद्धा इन्ही लोगों पर है। वस्तुतः कमलेश्वर का यह उपन्यास समसामयिक विषय को लेकर लिखा जाने पर भी मानव समाज के कुछ शाश्वत मूल्यों, समस्याओ तथा मानव हृदय की सूक्ष्म प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखता है। इसी कारण यह उपन्यास आज भी उतना ही नया है, जितना पहले था, और तब तक नया रहेगा, जब तक कि विस्थापितों की समस्या विश्व मे रहेगी, जब तक स्थापितो को उखाड़कर साम्प्रदायिक और प्रतिगामी शक्तियाँ उन्हें मुसाफिर बना देंगी, और जब तक ये मुसाफिर अपनी बस्ती को लौटते रहेंगे।[1]

विभाजन के सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण :

इन लौटे हुए मुसाफिरो के माध्यम से लेखक ने विभाजन की कृत्रिमता को ही प्रमाणित करने की कोशिश की है। विभाजन के नाम पर सामान्य लोगों का जो शोषण हुआ, उसकी ओर भी उन्होने संकेत किया है। विभाजन का लाभ किस वर्ग को हुआ? विभाजन के बाद पाकिस्तान जाने में किस वर्ग को सफलता मिली? विभाजन के बाद निम्नवर्ग की क्या स्थिति हुई? ये प्रश्न कथानक के माध्यम से उभरकर सामने आते हैं। विभाजन जिस आर्थिक व्यवस्था के कारण हुआ, इसकी अपेक्षा विभाजन के बाद आम आदमी की जो स्थिति हुई, उसे लेखक ने अधिक महत्व

---

1. लौटे हुए मुसाफिर : नफरत की आग में झुलसता आम आदमी - दुर्गानारायण रणसुभे : हिन्दी उपन्यास : विविध आयाम, पृ० 146.

दिया है। पाकिस्तान के प्रति सामान्य मुसलमानों में इतनी आशाएँ उत्पन्न करा दी गई थीं कि सत्तार भी कभी-कभी सोचता है—' शायद पाकिस्तान बनने से एक नयी जिन्दगी की हदें खुल जायें।'[1] इतिहासकार इस घटना की ओर अधिक व्यावहारिक दृष्टि से देखता है। उसे शंका है कि नया राष्ट्र बनने के बाद भी सामान्य मनुष्य की स्थिति में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं होने वाला है।[2] उधर यासीन जैसे लोग पाकिस्तान की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करते हुए गरीबों को सब्जबाग दिखा रहे हैं।[3] सभी गरीब मुसलमानों की निगाहें अमीर लोगों पर लगी है—जो वे करेंगे, वही ठीक होगा। किन्तु अमीर जल्दी-जल्दी अपना प्रबन्ध करके चले जाते हैं। यासीन ने इन गरीब मुसलमानों से यह वादा किया था कि वह उन्हें हवाई जहाज से पाकिस्तान पहुँचाएगा। अनेक सुनहरे सपने देखते चिकवों की बस्ती के ये मुसलमान अपनी सारी पूँजी बेचकर घर से निकल पड़ते हैं। किन्तु उनमें से कोई दिल्ली तक भी नहीं पहुँच पाता, पाकिस्तान की कौन कहे।[4] स्पष्टतः विभाजन के समय समाज का निम्नवर्ग और भी शोषित तथा पीड़ित हुआ।

इस बस्ती में जीने वाले प्रत्येक पात्र का अपना महत्व है। अपनी ममतामयी दृष्टि के कारण नसीबन, भावुक प्रेमी के रूप में सत्तार तथा साम्प्रदायिक बहकावे में आकर बस्ती को उजाड़ने वाला साईं—बरबस प्रभावित करते हैं।

जगदीश चन्द्र

'मुट्ठी भर कांकर' : विस्थापित और स्थापित होने वाले लोक समूहों की कहानी :

'मुट्ठी भर कांकर' 1976 की रचना है; जब विभाजन को अर्सा बीत चुका

---

1. लौटे हुए मुसाफिर, पृ० 32-33
2. "···अगर पाकिस्तान बना भी जो अपने किसी काम नहीं आयेगा। पाकिस्ताने में भी हमें तो इक्का ही हाँकना पड़ेगा।"—वही, पृ० 35
3. "पाकिस्तान बना ही इसलिए है कि हर मुसलमान वहाँ आराम और चैन से रहे। ··पाकिस्तान की सरहद पर···जमीनें और जायदादें बँट रही हैं—काम-धन्धे शुरू करने के लिए जिन्ना साहब की सरकार नकद रुपये दे रही है। अंगूर आठ आने सेर बिक रहा है···।"—वही, पृ० 99
4. " सब इधर-उधर बिखर गये। सुबराती मोची आगरा में राजामण्डी के चौराहे पर बैठता है···और चमन वहीं की चुंगी में चपरासी लग गया है···रमजानी का हाल बहुत बुरा बता रहे हैं; वह बेचारा भूखों मर रहा है···"
   "भई जो कुछ धेला-कौड़ी पास थी, वह तो जाने में खर्च कर दी थी···वह भी पूरी नहीं पड़ी, नहीं तो पाकिस्तान नहीं पहुँच जाते···अब रोटियों के लाले पड़ गये हैं।"—वही, पृ० 105.

था और विभाजन के दुष्परिणामों तथा भारतीय समाज मे शरणार्थी समस्या के भयानक यथार्थ पर काफी कुछ लिखा जा चुका था। इस स्थिति का एक उपेक्षित पक्ष था—विस्थापितों को स्थापित करने के लिए मूल निवासियों को उनकी ज़मीन से, उनकी जीवन-प्रणाली से उखाड़ दिये जाने का! 'मुट्ठी भर काँकर' उन विस्थापित और स्थापित होने वाले लोक समूहों की कहानी है।

पंजाबी शरणार्थियो के पुनर्वास के लिये दिल्ली के आसपास के गाँवों की जमीन लेने का सरकार ने निर्णय लिया। इससे वहाँ के लोग एक तरह से अपने ही गाँवों में विस्थापित हो जाते है।[1] दूसरी ओर वे शरणार्थी है, जो विभाजन के बाद पश्चिमी पंजाब, सीमा प्रान्त और बलूचिस्तान से उठकर दिल्ली पहुँच गये थे और अपने पाँवो पर खड़े होने के लिए कड़ी मेहनत और घोर संघर्ष कर रहे थे। लेखक जगदीशचन्द्र ने दोनों प्रकार के विस्थापितों के पुनर्वास की प्रक्रिया को बहुत निकट से देखा है, उनके दुःखान्त और सुखान्त को महसूस किया है। यह उपन्यास उसी प्रक्रिया की कहानी है।

अपने मूल रूप मे यह उपन्यास उन लोगो के ध्वस्त जीवन की कहानी है, पजाबी शरणार्थियो के पुनर्वास के लिये जिनकी जमीनें सरकार द्वारा ले ली जाती है। यद्यपि उन्हें उचित मुआवजा मिलता है, फिर भी इन गाँवो के कतिपय घर विस्थापित ही नही होते, उखड जाते हैं क्योकि उनकी पूरी जीवन-प्रणाली ही बदल जाती है। उनकी वर्षों की स्थिर स्थितिप्रिय, रूढिजजर जीवन प्रणाली का यह परिणाम है कि वे और कोई काम करने लायक नहीं रहे है। दूसरे स्तर पर यह उपन्यास उन शरणार्थियो के परिश्रम तथा विलक्षण जिजीविषा की कहानी भी है जो अपने वैभवपूर्ण अतीत से टूट कर दुःखी तो हुए है, किन्तु उस दुःख को वर्तमान की गति और चेतना के बीच बेड़ी नही बनने देते। इन दोनो के अतिरिक्त उपन्यास मे एक तीसरा वर्ग भी है जो धन को ही सर्वस्व समझता है और स्थितियो से हर प्रकार से लाभ उठाकर सम्पन्न परन्तु संस्कृतिविहीन होता जा रहा है। मुट्ठी भर

---

1. "पंजाबी शरणार्थियो के पुनर्वास के लिए नयी कालोनियाँ बनायी जा रही थी। नयी कालोनियाँ बसाने के लिए दिल्ली के आसपास के गाँवो की ज़मीनें ऐक्वायर की गयी। वे लोग एक तरह से अपने ही घरो और गाँवों में विस्थापित हो गये और उनकी पीढ़ियों से बँधी हुई चली आयी जीवन-प्रणाली तेज़ी से टूटने लगी थी...ज़मीनें ऐक्वायर हो जाने के बाद इन लोगों को उचित मुआवज़ा मिला। इससे उनकी निजी आर्थिक व्यवस्था का एकदम मुद्रीकरण हो गया। पुश्तैनी व्यवसाय ज़मीनें ऐक्वायर होने के साथ ही खत्म हो गये थे। अब वे नयी जीवन प्रणाली के लिये भटक रहे थे।"—मेरी ओर से : मुट्ठीभर काँकर—जगदीशचन्द्र।

काँकर' की कहानी एक प्रकार से स्वातन्त्र्योत्तर भारत में भ्रष्ट होने वाले जीवन मूल्यों की कहानी भी है।[1]

गाँवों की जमीन एक्वायर करने का सरकारी निर्णय सुनकर दिल्ली के समीप के ग्रामवासियों पर मुर्दनी-सी छा जाती है। उन्हें लगता है कि सारे-के-सारे शरणार्थी विदेशी, आक्रमणकारी हैं जो उनकी जीवन-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने आये हैं। पंजाबी शरणार्थियों के प्रति गाँव वालों के मन का विरोध धीरे-धीरे बढ़ता है। दुनीचन्द पहली बार चालाकी से अतरसिंह को कपड़ा बेचने के लिये गाँव के अन्दर नहीं घुसने देता।[2] अतर सिंह उसको चुनौती देकर वापस लौटता है कि अगली बार वह फिर आएगा और देखेगा कि वे लोग उसे गाँव में कैसे नहीं घुसने देते। अगली बार वह अपनी पत्नी के साथ साइकिल पर कपड़े का गट्ठर लाद कर आता है। पत्नी को वह गाँव के अन्दर भेज देता है और थोड़ी देर में ही अनाज, घी, गुड़, यहाँ तक कि मुर्गियों के बदले में अच्छी खासी बिक्री करके लौटता है। अपनी जिजीविषा और मनोबल से वह बहुत जल्दी बाजार में एक दूकान की व्यवस्था करने में सफल होता है। सारे अभावों और कष्टों के बीच अपने लोगों के प्रति उनमें किस कदर हमदर्दी और सद्भाव है, इसका उदाहरण अतर सिंह द्वारा रामदयाल को दी गयी सहायता में मिलता है, जिससे रामदयाल मन्दिर के खण्डहर में अपनी चाय की दूकान खोल सकने में सफल होता है जो धीरे-धीरे पकौड़े, मिठाई से लेकर शराब के अड्डे तक बढ़ती जाती है। इधर गाँव वाले जमीन छिन जाने की आशंका मात्र से त्रस्त हैं। वे समझ नहीं पाते कि जमीन नहीं रही तो वे क्या करेंगे, कहाँ जायेंगे। जब यह बात निश्चित हो जाती है कि सरकार जमीनें ले लेगी, गाँव वाले और भी दुःखी और चिन्तित हो जाते हैं। उन्हें लगता है कि "गाय बच्छिया अपना थान नहीं छोड़ना चाहती। हम तो आदमी हैं। कैसे अपना घर छोड़ सकेंगे।"[3] गाँव की मुखिया की तो "भगवान से यही प्रार्थना है कि जमीनें जाने से पहले मैं चला जाऊँ। जिस भूमि में जनम हुआ उसी भूमि में किरिया भी हो जाय।' किन्तु ऐसा होता नहीं। कुछ जमीन सरकार ले लेती है और कुछ उत्तम प्रकाश और रणजीत जैसे लोगों की चतुराई के कारण बिक जाती है। इस प्रकार एक को बसाने की प्रक्रिया में दूसरे शरणार्थी हो जाते हैं, और उनकी जमीनों का मोल जो रुपया उन्हें मिलता है, उसकी हैसियत मुट्ठी भर काँकरों से अधिक नहीं होती जो साइकिल,

1. समीक्षा, वर्ष 10 : अंक 10-12, फरवरी-अप्रैल 1977, पृ० 39. चन्द्रकान्त बाँदिवडेकर.
2. मुट्ठी भर काँकर, पृ० 20.
3. वही, पृ० 105.
4. वही, पृ० 105.

शराब, कपड़ा, सिनेमा और तफ़रीह कही भी खर्च किया जा सकता है, होता भी है और जिसके बाद उनकी अपनी हालत और हैसियत भी मुट्ठी भर कॉकरों से अधिक नही रह जाती ।

विस्थापित होने को विवश चौधरियों की व्यथा का चित्रांकन :

अपनी जमीन से उखड़ने का मजबूर चौधरियों की पीड़ा और व्यथा का मर्मस्पर्शी चित्रण लेखक ने बडी सूक्ष्मता से किया है । पौ फटने पर जब गॉव वाले अपने खेतो मे जाते हैं, अपनी ही ज़मीन उन्हें परायी-सी लगती है ।[1] ताऊ को लगता है "... सरकार हमे बरबाद कर देगी, फकीर बना देगी, दर-दर की ठोकरें खाने को लाचार कर देगी ।...जमीन तो गयी, इज्जत भी जाती रहेगी । मान-मरजादा सब खतम हो जायेगी ।"[2] जमीन न रही तो चौधरियो और कम्मियों मे क्या फर्क रह जायेगा ? हैसियत तो जमीन-जायदाद से बनती है । "अच्छी आज़ादी आयी है; पुश्तों से बसे-रसे लोगों को उजाड़ा जा रहा है । इससे तो फिरंगी का राज अच्छा था ।"[3] लेकिन आखिरकार लोगो को परिस्थिति से समझौता करना ही पड़ता है । जमीन बिक जाने के बाद वे लोग फ़सल काटकर समेट लेते है, फिर खाली ज़मीन पर हल नही चलाते । फ़सल काटने के बाद वे पेड़ो की ओर ध्यान देते हैं ।"[4] जब से यह ख़बर फैली है कि ज़मीनें बिक गयी, सारा गाँव एक मण्डी-सी बन गया है । हल-कुदाल, फावड़ा-गेती और ईंटो दरवाज़ों तक के ग्राहक वहाँ हरदम बने रहते है । गाँव में सारे दिन एक अजीब तरह की हलचल मची रहती है । ईंट, लकड़ी और रहट, हल और कुदाल तक बेचने मे लोगो को कोई बहुत मानसिक कष्ट नही होता, लेकिन जब पास-पड़ोस के गाँवों और मण्डियो से आकर लोग-बाग ढोरो का मोल करने लगते है, स्थिति उनके लिये असहनीय हो जाती है । दो-एक दिन टालने के बाद अन्त में उन्हे मवेशियो का भी सौदा करने पर मजबूर होना पड़ता है ।[5]

---

1. मुट्ठी भर कॉकर, पृ० 70
2. वही, पृ० 70-71.
3. वही, पृ० 75.
4. "जिन पेड़ों को उन्होने दो-दो अंगुल मापकर बड़ा किया था, जिनकी छाँव मे जेठ-बैसाख की तपती दोपहरिए बिताया करते थे, उन्ही पेड़ो को अब काटकर लकड़ी संभाल ली थी । रेहट उखाड लिये गये थे और जहाँ तक बना कुओं की मुण्डेरो की ईंटें भी निकाल ली थी । किसी-किसी खेत मे जो कोठे बनाये गये थे वे भी अब कही नही रह गये थे, शदतीर, दरवाजे और सारा सामान ढोकर ले जाया गया था ।"—वही, पृ० 173.
5. वही, पृ० 173.

जब माल-मवेशी का व्यापारी करमसिंह ढोर मवेशी खरीद लेता है, वहाँ अत्यन्त मार्मिक दृश्य उपस्थित हो जाता है।[1] ढोर जाना नहीं चाहते। रस्सी तुड़ाने की करते या इधर-उधर को भागते हैं तो उनपर डण्डों की बारिश होती है। उस दिन कई घरों में खाना तक नहीं बनता। थान देख-देखकर बच्चों तक को भय महसूस होता है। वे इस बात से डरते हैं कि अब तो उन्हें करने के लिये कोई काम ही नहीं रह गया।[2]

जमीन के रुपये मिलने के बाद जब रघुनाथसिंह नई साइकिल, कपड़े और खिलौने लेकर घर पहुँचता है, उसकी पत्नी अंगूरी की आँखों में आँसू छलक आते हैं। रुंधी हुई आवाज में वह कहती है "पितर-पुरखों की दी हुई जमीन बिक गयी है, मैं कैसे खुश हो सकती हूँ। जिस तरह बेटे से घर का नाम चलता है, इसी तरह जमीन से खानदान का नाम चलता है। अब हमारे खेतों का कोई नहीं कहता कि ये खेत तेरे बेटे रघुबीर सिंह की मलकियत हैं।[3]

गाँव का बदलता माहौल :

जमीन बिक जाने की सूचना गाँव के माहौल में धीरे-धीरे जो बदलाव लाती है, वह बड़ी सूक्ष्मता से अंकित हुआ है। गाँव के कम्मियों की रोजी-रोटी भी चौधरियों के जमीन के भरोसे चलती है। जमीन छिन जाने की बात सुनकर उनकी आँखों के आगे भी अंधेरा छा जाता है। उन्हें भी इसी बात की चिन्ता है कि उन्हें तो खुरपा कुदाल चलाने और बोझ ढोने को छोड़ कोई दूसरा काम ही नहीं आता। उनकी गुजर-बसर कैसे होगी। "चौधरी जी, हमारी आपसे एक ही अरज से। हम आपके आसरे ही गाँव मे बैठे हैं ... हमें धक्का मत ना दीजो।"[4] उनके इस आग्रह पर मुखिया उन्हे आश्वस्त करता है "अगर हम पहले एक साथ रहे हैं तो आगे भी एक साथ ही रहेंगे। अगर भूखो मरना पड़ा तो पहले हम मरेंगे। जीते-जी तुम लोगों पर आंच नही आने देंगे।"[5] किन्तु शकूर बस्ती में मजदूरी का काम मिल जाने पर कम्मियों का व्यवहार बिल्कुल बदल जाता है। ताऊ को लगता है कि "कम्मियों का तो इब दिमाग ही खराब हो गया से। जो लोग देखते ही राह छोड़ देते थे इब वे खाट पर बैठे-बैठे बात करें से।"[6] दुनीचन्द ताऊ को समझाता है कि शकूरबस्ती में इन्हें अच्छी मजदूरी मिल जाती है; तब वे सारे-सारे दिन खेतों में जानवरो की तरह

1. मुट्ठी भर कांकर, पृ० 177.
2. वही, पृ० 178.
3. वही, पृ० 201.
4. वही, पृ० 71.
5. वही, पृ० 72.
6. वही, पृ० 104.

काम क्यो करें ? ताऊ को लगता है "दुनिया, लिहाज भी कोई चीज होवे से। कई-कई पुश्तो से ये लोग हम लोगो के भरोसे रहते आये है। एक कम्मी बंशीलाल खेत मे बछिया हाँक देता है और मना करने पर कहता है कि अब ये जमीनें सरकार की हैं। यह सुनकर ताऊ आग-बबूला हो उठता है। "अभी तक तो हम जमीन के मालिक हैं। कल को सरकार संभाल लेगी तब इन कम्मियों के दिमाग क्य होगे ?"[2]

शरणार्थियों की पीड़ा तथा जिजीविषा का चित्रण :

अपनी जमीन से हटने को मजबूर चौधरियो की व्यथा के साथ-साथ लेखक ने शरणार्थियों के मन मे दर्द को भी उतनी ही सफलता से अभिव्यक्ति दी है। जब दुनीचन्द अतर सिंह को गाँव की गलियों मे जाने से रोकता है, उसका सारा क्षोभ इन शब्दों मे फूट पड़ता है "लाला तुझे बातें फुरती हैं क्योंकि तू अपने घर मे बैठ सा। तेरे घर पर हजार-हजार बार आदमी ने मिलकर हमला नही किया। तेरी बहू-बेटियों को तीन कपड़ों में घर नही छोड़ना पड़ा। खून और आग का दरिया पार नही करना पड़ा। हम लुट-लुटाकर आये है, इसीलिये तेरी नजर में इज्जतदार नही सा।"[3] जब गाँव वाले अपने निश्चय पर दृढ रहते है, तब वह खिन्न स्वर में कहता है "अच्छा आप लोगो की मर्जी, आजादी तो आप लोगों के लिए आयी है ··· हमारे लिये तो बरबादी है।[4] सरकार दिल्ली के पास की पहाड़ियों को बारूद से उड़ाकर शरणार्थियो के रहने के लिये मकान बनाने की व्यवस्था कर रही है। अतर सिंह को लगता है "सरकार लाख क्वाटर बना दे लेकिन हम लोगों ने जो नुकसान उठाया है वह पूरा न हो सा। जो लोग उधर पाकिस्तान मे महलबाड़िया छोड़ आये ने उन्हे सरकार टीन की छतों वाले पिंजरपोल दे रही ने।[5] फिर भी वह सन्तोष करना चाहता है "चलो अच्छा वक्त गुजर गया तो बुरा भी गुजर जा सा। वाह गुरु दी मेहर चाहिये।"[6] स्थानीय निवासियो के सहानुभूतिहीन, उपेक्षापूर्ण व्यवहार ने उन्हे बुरी तरह आहत किया है।[7] अपना वतन तो छूटा ही, वतन की बोली भी छूट रही है।[8] अतर सिंह और रामदयाल जैसे लोगों का वतन और वैभवपूर्ण अतीत ही नही

1. मुट्ठी भर कांकर, पृ० 104.
2. वही, पृ० 104.
3. वही, पृ० 21.
4. वही, पृ० 21
5. वही, पृ० 27.
6. वही, पृ० 27.
7. वही, पृ० 40.
8. "केह पुछन्ने ओ कही बोली ते केहा मुलख। मुलख छुट गया ने ··· बोली भी छुट जा सी ··· हुन सब हिन्दुस्तानी ने।" —वही, पृ० 37.

छूटा सारी मर्यादा भी उन्हीं के साथ चली गयी। अब तो वे केवल पंजाबी शरणार्थी हैं, जो यहाँ के वासियों का हक छीनने आये हैं। किन्तु सारी बाधाओं, उपेक्षा और अपमान के बावजूद ये शरणार्थी अपने जीवट, श्रम और चातुर्य के बल पर आगे बढ़ते जाते हैं। अतर सिंह की पत्नी अचिन्तकौर ही नहीं, उनके बच्चे भी पैर जमाने के प्रयास में माँ-बाप का पूरा साथ देते हैं।[1] एक ओर गाँव वाले कीर्तन-भजन और यज्ञ करते हैं, दूसरी ओर शरणार्थी अपने अतीत को याद करते-करते ऊपर उठने को संघर्ष करते हैं। उपन्यास के अन्त में जमीन से जुड़े किसान और जमींदार अनिश्चित भविष्य में अपने को छोड़ देते हैं—प्रवाह में गिरे पत्ते की तरह। रामदयाल और अतर सिंह छोटी बड़ी दुकानें बनाकर अच्छी तरह स्थिर हो गये हैं, जिन्दगी पर उनकी पकड़ अधिक मजबूत हो गयी है। इस स्थिति के अन्तर्विरोध को लेखक ने कलात्मक चतुराई से प्रस्तुत किया है।

शरणार्थियों को इस आकस्मिक आमद से भिन्न-भिन्न लोगों पर भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियायें होती हैं। गाँव का बनिया दुनीचन्द लड़के के पतलून के शौक से लेकर छुरेबाजी और औरतों के जेवरों की लूट तक हर बुराई की जिम्मेदारी पंजाबियों के ही मत्थे मढ़ना चाहता है क्योंकि उनकी आमद और गाँव में अतरसिंह और अचिन्त कौर की फेरी से उसके हितों और दुकानदारी में अन्तर पड़ता है और इससे अब उसे मनमाने दामों में चीजें बेचने की सुविधा नहीं रह गयी है।[2] सरकार द्वारा जमीन लिये जाने की जिम्मेदारी भी वह पंजाबियों के सिर पर मढ़ देता है।[3] उसके अनुसार "हर पंजाबी खोट से भरा हुआ है। खुद सोचो, अगर इनमे खोट न होता तो मुसलमान इन्हें पाकिस्तान से क्यों निकालते?"[4]

बदलते जीवन मूल्य :

शरणार्थियों के आने, स्थानीय आबादी से उनके सम्पर्क तथा इस प्रकार दो संस्कृतियों के पारस्परिक द्वन्द्व के तौर-तरीकों में जो खुलापन आया है, वह पुरानी पीढ़ी के लोगों के लिए असहनीय है। चौधरी नारायण सिंह जब अपनी साली

---

1. "... आप सोचो जेहड़े बच्चे बग्घी विच बैठ के स्कूला जा सा, हुन ओ धुप होवे या छा, मेहं या झक्खड़ पैरा टुर के जान्दे ने। फिर केलिया दी टोकरी लय के बैठने ने। शाम ताई रुपया—सवा रुपया कमा लायदे ने।"
मुट्ठी भर कांकर, पृ० 41.
2. वही, पृ० 76.
3. वही, पृ० 52.
4. वही, पृ० 54.

रुक्मिणी से मिलते हैं, उसके बदले हुए तौर-तरीके देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। "मैं तो उस रुक्मिणी को जानता था जो घाघरा पहनती थी और पराये मर्द को देखते ही लम्बा घूँघट निकाल लेती थी। इब वह रेशम की धोती पहने से। मेमों की तरह बाल रखे से। यों चपड़-चपड़ बोले से जैसे इंगरेजी पढ़ी हो।"... "बूढ़ी हो गयी तो क्या सरीफ घर की बहू नहीं रही। इस घर की औरतें तो घर के अन्दर भी घूँघट निकालकर बैठती थीं। ..."[1]

गाँव वाले जब कनाट प्लेस में तितलियों की तरह बनी-ठनी स्त्रियों को घूमते देखते हैं, उन्हें लगता है कि वे इन्द्रपुरी में पहुँच गये हैं। उत्तम प्रकाश के आफिस में एक बनी-ठनी युवती को देखकर ताऊ की प्रतिक्रिया है "पंजाबन होगी। हमारे देश की छोरियाँ ऐसा पहनावा न करें।"[2] रेस्तराँ में स्त्रियों और पुरुषों को एक साथ बैठे हुए खुशगप्पियाँ करते और चाय पीते देखकर वे बेहद हैरान होते हैं "देखो इन लुगाइयों को कितनी नदीदी बने से। मरद इनके अपने भी हों तो भी यह कोई तरीका नहीं है।"[3] "ताऊ पंजाबी है!" दुनीचन्द दो स्त्रियों के साथ बैठे सिख की ओर संकेत कर कहता है "अपने देस के लोग ऐसी बेसरमी कभी न करें।"[4] भड़कीली रेशमी साड़ियाँ और ऊँची ऐड़ी के सैण्डल पहने, हाथ में बड़े-बड़े लेडीज पर्स लिये खुले सिर जब उत्तमप्रकाश और रणजीत की पत्नियाँ गाँव पहुँचती हैं, गाँव के लोग उन्हें हैरानी और दिलचस्पी के साथ देखने लगते हैं। ताऊ बंसीलाल से कहता है "शहर की औरतें कैसी बेसरम होवे है। मर्दों के बीच में यूँ मुह उठाये खड़ी हैं जैसे बैलों के बाड़े मे बड़ी बैठ।"[5]

विभाजन ने पुरानी मर्यादाएँ समाप्त कर दी हैं, जीवन-मूल्य बदल डाले हैं। जब अचिन्तकौर कपडे बेचने के लिये अतरसिंह से साथ गाँव पहुँचती है, बंसीलाल उसे सामने घर मे भेज देने का आग्रह करता है, क्योंकि "मर्दों के बीच में अकेली औरत का बैठना अच्छा नहीं लगता।" अतरसिंह उसकी बात से सहमत है। "लालाजी, आप ठीक आख सो। हमारी औरतें भी परदेदार सा। लेकिन पाकिस्तान बनने से सब खत्म हो गया। सारी मरजादा टूट गयी। ऊँचे घरों की सुआनियाँ (स्त्रियाँ) जो पीढ़ी और पलंग से नीचे पाँव न धर सा, कहारिनों महरियो पर हुक्म चला साँ, अब सिरो पर सब्जी-तरकारी के टोकरे रखे गली-गली घुम दिया पैया

1. मुट्ठी भर कांकर, पृ० 83.
2. वही, पृ० 120.
3. वही, पृ० 124.
4. वही, पृ० 124.
5. वही, पृ० 167.

ने।"[1] गाँव के लोगों को यह बहुत अजीब महसूस होता है कि सरदार की पत्नी कपड़ा बेचेगी। "उनका यह अनुभव तो था कि गाँव की स्त्रियाँ पशुओं के पानी-सानी का काम करती हैं। खेतों में हलवाहों के लिए रोटी ले जाती हैं। साग तोड़ती और कपास चुनती हैं। खेती के और कामों में हाथ बँटाती हैं। मगर यह समझ में नहीं आ रहा था कि औरतें वणिज-व्यापार कैसे कर सकती हैं।"[2]

शरणार्थियों के आने से एक ओर समाज-व्यवस्था परिवर्तित हो रही है तो दूसरी ओर साधारण पटवारी से लेकर बड़े-बड़े हाकिम-हुक्काम तक, जमीनों के सौदे को लेकर अपने खातों में झूठी-सच्ची खतौनी के बल पर अपनी जेबें भरने का प्रयास कर रहे हैं। पटवारी और गिर्दावर जैसे कर्मचारी बातों का जाल फैलाकर सीधे-सादे गाँव वालों को बेवकूफ बनाते हैं। इन सरकारी कर्मचारियों का व्यवहार स्वतन्त्र देश के यथार्थ का एक पहलू प्रकट करता है।

देश में पनपता नव-धनाढ्य वर्ग :

परिवर्तित परिस्थितियों में उत्तमप्रकाश और रणजीत जैसे लोगों का गठ-बन्धन, हिकमत, रसूख और वाक्चातुरी देश में एक नव धनाढ्य और सम्पन्न वर्ग के पनपने का संकेत है जो मौके का फायदा उठाकर लाखों का वारा-न्यारा करने में सफल होते हैं। उत्तमप्रकाश और रणजीत की कुशल पैतरेबाजी अन्त में गाँव वालों को अपनी जमीन बेचने को बाध्य कर देती है। उत्तमप्रकाश बड़े अपनत्व से उन्हें समझाता है—"अब हुक्म जारी हो गया है तो कोशिश यह करनी चाहिए कि जमीनें मलबे के मोल न जायें। आपको ज्यादा-से-ज्यादा मुआवजा मिले।"[3]...ज्यादा मुआवजा लेने का एक ही तरीका है कि पेशतर इसके कि सरकार मुआवजा तय करे, आसपास की जमीन बेचकर ऊँची दर से रजिस्टरी करा लें। इस तरह सरकार को भी ज्यादा मुआवजा देना पड़ेगा।"[4] जमीन बेचने के नाम से सीधे-सादे ग्रामवासी सिहर उठते हैं। उन्हें चुप देख उत्तमप्रकाश निर्णयात्मक स्वर में कहता है "यही एक तरीका रह गया है। और कोई सूरत नहीं है। आप सोच-विचार कर लें। लेकिन वक्त बहुत कम है। एक-बार यह वक्त और मौका हाथ से निकल गया तो फिर कुछ नहीं किया जा सकेगा।"[5] रणजीत बड़ी चतुराई से माहूसिंह के विरोध को समाप्त करता है "हम जो कुछ कर रहे हैं सिर्फ आपके फायदे के लिए। बाकी रहा 'टैम'

1. मुट्ठी भर कांकर, पृ० 27.
2. वही, पृ० 28,
3. वही, पृ० 128.
4. वही, पृ० 130
5. वही, पृ० 130

का सवाल —तो हम दो-चार-छह महीने भी रुकने के लिए तैयार हैं, लेकिन उसमें आपका ही नुकसान है। आप यह समझो कि दुश्मन सिर पर खड़ा है।"[1] "आप ही बतायें, पहला वार उसे करने देना है या खुद करना है"[1] सूबेदार रणजीत की चाल मे आ जाता है "हम करेंगे। जो पहल करता है, वह आधी लड़ाई जीत लेता है।"[2] उत्तमप्रकाश और रणजीत की विनम्रता और वाक्चातुरी से सब प्रभावित हो जाते है। मुखिया को भी लगता है कि "उत्तमप्रकाश अपना अजीज है। हमारा हित ही सोचे है।"[3] उसके सरल विश्वास का लाभ उठाकर उत्तम प्रकाश और रणजीत उसे बेवकूफ बनाते हैं जब मुखिया जमीन का एक टुकड़ा बचाने की अपनी योजना उनके सामने रखता है।[4] रणजीत को लगता है कि यह जगह बहुत अच्छी सिनेमा साइट है। जमीन के इस टुकड़े को किसी भी तरह से हासिल करने का निश्चय वह कर लेता है। अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिये वह बड़ी चालाकी से एक ट्रस्ट निर्माण की योजना बनाता है। रणजीत और उत्तमप्रकाश जैसे नवरईस वर्ग की चतुराई और दोमुँहे व्यवहार को लेखक ने विलक्षण कुशलता से सामने रखा है।

कुछ व्यक्तियो को प्रमुखता देकर उपन्यासकार ने गाँव की सामूहिक मानसिकता का चित्रण किया है, किन्तु ये व्यक्ति केवल प्रतिनिधि नहीं हैं, उन्हें स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। जमीन से जुड़े ये लोग रूढ़ियों और परम्पराओं के पालन मे ही जीवन की सार्थकता देखते हैं। अपने श्रमशील जीवन मे व्यस्त सीधे-सादे लोग राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की लहर से तब तक अपरिचित रहते है। जब तक वह उनको सीधे लीलने नही आती। भोले होने पर भी ये बेवकूफ नही हैं। सामूहिक निर्णय लेने और मानने की इनकी प्रवृत्ति है। इसी कारण विरोध और आशंका के बावजूद बहुत से लोग जमीन बेचने के सामूहिक निर्णय को स्वीकार कर लेते है।

अपने मूल रूप में यह उपन्यास बहुसंख्यक दुःखी लोगों की जीवनगाथा है। सम्पूर्ण उपन्यास मे लेखक ने मानवीय जीवन के भावात्मक उद्वेलन को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। उसने केवल जीवन की उलझनें सामने रखी हैं, समस्या के समाधान का कोई बना बनाया रास्ता नही दिखाया। अपने सुझावों को आरोपित करने या विशिष्ट दिशा के आग्रह को थोपने की उसकी इच्छा नहीं है।

फणीश्वरनाथ रेणु :

फणीश्वरनाथ रेणु ग्राम्य जीवन के अद्भुत चितेरे हैं। आंचलिक जीवन की

---

1. मुट्ठी भर कांकर, पृ० 141.
2. वही, पृ० 141
3. वही, पृ० 151.
4. वही पृ० 160.

मार्मिक अनुभूतियों को गहरी संवेदना के साथ परिवेश की समग्रता में उन्होंने अभिव्यक्त किया है। उनकी कृतियाँ आजादी के पश्चात् गाँवों में आने वाले परिवर्तनों की सूक्ष्म झाँकियाँ हैं। गाँवों के प्रति गहरी आत्मीयता होते हुए भी उन्होंने यथार्थ ग्राम जीवन का तटस्थ चित्र प्रस्तुत किया है।

जुलूस :

श्री फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास 'जुलूस' (1965) विभाजन से सम्बद्ध उपन्यासों की शृंखला में उपलब्ध ऐसा पहला उपन्यास है, जिसकी कथा पूर्व पाकिस्तान (वर्तमान बंगलादेश) के शरणार्थियों को आधार बनाकर चलती है। सन् 1947 के विभाजन के परिणामस्वरूप विस्थापित लोगों और परम्परा से पूर्णिया जिले के गोड़ियर गाँव में बसने वाले लोगों के संक्रमण की कथा रेणु के इस उपन्यास से कही गई है। जिला मैमनसिंह (वर्तमान बंगला देश) के गाँव कुमापुर के विस्थापितों को बिहार के पूर्णिया जिले में बसाया गया है। इस बस्ती को विस्थापित बंगाली 'नौबीन नगर' कहते हैं। चूँकि इस बस्ती का उद्घाटन राज्य के पुनर्वास उपमन्त्री मुहम्मद इस्माइल नबी ने किया था अतः इसे 'नबी नगर' भी कहा जाता है। वैसे पड़ोसी गाँव गोड़ियर के बिहारी लोग इसे पाकिस्तानी टोला कहते हैं। सबसे बड़े अफसर से पवित्रा ने कैम्प में कहा था "कुमापुरी शरणार्थियों को ऐसी जगह भेजो जहाँ के मछली-भात पेट भर खा सकें, धान उपजा सकें, पाट की खेती कर सकें।"[1] इसलिये इलाके के सर्वोत्तम स्थान पर बंगाली शरणार्थियों की यह कालोनी बसायी गई जहाँ की धरा उर्वरा और सरिताएँ मछलियों से भरी हैं।

जिस तरह 'झूठा सच' में यशपाल ने एक विशाल फलक पर 'वतन और देश' की समस्या का अंकन किया है, उसी को बहुत छोटे किन्तु अत्यन्त सशक्त ढंग से रेणु ने इस उपन्यास में रूपायित किया है। कथा का प्रारम्भ 'वतन' (कुमापुर गाँव, वर्तमान बंगला देश) को छोड़कर 'देश' (हिन्दुस्तान) में बसने वाली पवित्रा से होता है जो 'का कस्य परिवेदना' की पुकार लगाने वाली 'हल्दी चिरैया' को देखकर सोचने लगती है "यही एक पखेरू है जो उसके देश में नहीं होता। या होता भी हो तो पवित्रा ने कभी नहीं देखा। सचमुच इस 'देश' में कुछ भी ऐसा नहीं जो पवित्रा के 'देश' में नहीं था।"[2] फिर भी "....'आपना' देश फिर 'आपना' देश।...पर-भूमि कैसी भी हो आखिर पर-भूमि ही है।' शरणार्थी अपनी भूमि को भूल नहीं पाये हैं, इस भूमि को अपना समझना उनके लिये आसान नहीं है। इसी कारण पवित्रा के यह समझाने पर कि 'हम लोगों का भाग्य अच्छा है कि इस जिले मे हमे बसाया

1. जुलूस—फणीश्वरनाथ रेणु, पृ० 120
2 वही, पृ० 1

गया। यहाँ धान और पाट की खेती होती है, हम भी अपने देश में धान और पाट की खेती करते हैं। यहाँ के लोग भी मछली-भात खाते हैं। गाँव-घर, बाग-बगीचे, पोखरे और नदी—सब कुछ अपने देश जैसा "...।" सूखी देह वाला हरलाल साहा तीखी आवाज मे विरोध कर उठता है "...कहाँ अपना देश और अपने देश की मिट्टी और अपने देश का चावल, और कहाँ इस अद्भुत देश का सब 'आजगुबी व्यापार'।...पता नहीं तुमने क्या देखा है पोत्रादी। यहाँ की मछली मे क्या वही स्वाद है जो 'पद्दा के इलिच' मे...?" हरलाल साहा की बात पर सभी इसी तरह मुस्कराये मानो यह सबके मन की बात कह रहा हो।

अपना वतन छोड़कर पूर्णिया जिले में बसने वाले इन विस्थापितों को पड़ोसी गाँव के लोग सहजता से स्वीकार नही पाते। हिकारत से वे विस्थापित बस्ती के 'नवीन-नगर' जैसे नाम को छोड़ उसे 'पाकिस्तानी टोला' की संज्ञा दे देते हैं। टोले के नाम की तख्ती को गोड़ियर टोले के चरवाहे उखाड़कर फेंक देते हैं, गरवाल विश्वास के बेटे अन्दू को गो-मांस खाने वाला कहकर अपमानित किया जाता है। लेकिन यह सब अपरिचय का भेद है। पवित्रा के प्रयासो से जब यह अपरिचय दूर होता है, तब लगता है कि जिला मैमन सिंह और जिला पूर्णिया के गाँव जुमापुर या नोबीन नगर मे कोई भेद नही। जुमापुर का टेढ़ा पेड़, उस पेड़ से दूर का काला जंगल, टाइल खपड़े के घर, खजूर के दोनों पेड़[1] सभी इस नोबीन नगर के हैं। वैसे ही मछली-भात उपजाने वाली धरती, वैसा ही शैतानों का जुलूस। आश्चर्य है जब एक दिन काला चाँद की माँ ने पवित्रा से पूछा कि "दीदी ठाकरून, एक बात पूछूँ ?—बुरा न मानिएगा। आप पढवा पण्डित हैं। भूल-चूक हो, माफ कर दीजिएगा।—पूछती हूँ, सब कुछ तो मिला। अपने देश का अन्न, घास-पास, माछ तरी-तरकारी सब कुछ अपने जुमापुर गाँव जैसा मिलता था—यहाँ भी मिलता है। हवा-पानी भी वही है।...लेकिन...'मन के मानुस' के जैसा—कोई यहाँ नही ?... तुमने एक बार कहा था—यहाँ भी सैंकड़ो कासिम है। सैकड़ों कासिम हैं, एक भी 'विनोद' नहीं ?'[2] तो पवित्रा ने अपने हृदय के सबसे स्पर्श–कातर स्थल को छुए जाने की पीड़ा को सम्हाल कर कहा था, "काला की माँ, यहाँ 'मन का मानुस' भी मिला है।"[3] जुमापुर में उसने एक जुलूस देखा था—शैतानों का जुलूस जिसमें "कासिम भाले की नोक पर विनोद का कटा हुआ सिर लेकर सबसे आगे था।"[4] नोबीन

1. जुलूस : फणीश्वरनाथ रेणु, पृ० 170.

2. वही, पृ० 182.

3. वही, पृ० 183.

4 वही, पृ० 181

नगर में भी वह शैतानों का जुलूस है और पवित्रा जानती है कि नरेश के रूप में विनोद दुबारा मिल तो गया है पर कासिम उसे जिन्दा नहीं छोड़ेगा। देश और वतन की इस गाथा को रेणु ने बड़े मर्मस्पर्शी ढंग से जीवन्त बनाया है। कथांचल की अन्य विशेषताओं के साथ वहाँ की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक स्थितियों का चित्रण उन्होंने निर्लिप्त किन्तु सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से किया है। विभाजन के बाद पनपने वाले भाई भतीजावाद, रिश्वत, खुशामदगिरी और अवसरवादिता का भी उन्होंने बड़ा व्यंग्यपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। रेणु की इस कृति से ऐसा आभास मिलता है कि अंचल की अधिकांश समस्याएँ राष्ट्र-प्रेम तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना से सुलझ सकती हैं। उपन्यास की नायिका पवित्रा को दुःख इसी बात का है कि इन लोगों को अपने गाँव की मिट्टी से मोह क्यों नहीं है। वह उनके द्वार की कौन-सी कुंडी खटकावे ताकि उनका अपने-अपने कामों में जी लगे। वे यहाँ के अन्य लोगों और पशु-पक्षियों से प्यार करें। वह उन्हें विश्व-बन्धुत्व की भावना से परिचित कराती है—"जानते हो! —ठाकुर (भगवान) का आदेश है यहाँ की मिट्टी को प्यार दो—कुमापुर और नवीन नगर एक ही हैं।"[1] उपन्यास के अन्त का उसका स्वागत वक्तव्य भी इन्हीं भावों से पूर्ण है—"मैं अकेली नहीं। मैं निस्संग नहीं। मैं कहीं निर्जन में नहीं। मैं एक विशाल परिवार की बेटी हूँ।··· इन आत्मीय स्वजनों के बीच पारस्परिक सहानुभूति और सहयोगिता को फिर से पनपाऊँगी—अपरिचय, अजनबीपन, उदासीनता, अकेलापन, आत्मकेन्द्रिता, विच्छिन्नता को दूर करके भूले-भटके लोगों को, अपने लोगों को पास लौटाकर लाना होगा।···मैं अपनी सत्ता को इस समाज में विलीन कर रही हूँ···लोक संस्कृतिमूलक समाज के गठन के लिए।"[2]

राही मासूम रज़ा :

विभाजन की पृष्ठभूमि पर रचित राही मासूम रज़ा के तीनों उपन्यास विभाजन के बाद की भावद परिस्थितियों, बदलते जीवन-मूल्यों तथा अपनी ही भूमि पर अजनबी होते जा रहे भारतीय मुसलमान के पीड़ा और अकेलेपन की कथा है। सन् 1947 के विभाजन के बाद इस देश के आगे लूटपाट, हत्या, बर्बरता, हिंसा और अमानवीयता से जुड़े जो नये जीवन-मूल्य उभरे, उनकी सही स्थितियों के विषय में कुछ कहने की दिशा में हम यशपाल, कर्तारसिंह दुग्गल और भीष्म साहनी आदि की अपेक्षा सही जगह पर खड़े होकर राही मासूम रज़ा को कुछ कहते पाते हैं। भारत के बँटवारे के प्रश्न पर सही दृष्टि से उत्तर देना एक साहस की बात है और अपनी संस्कृति के भीतर से नवोदित पाकिस्तानपरस्ती की वास्तविकता को खोलना तो साहस के साथ जोखिम का काम भी है। जिस सीमा तक यह साहस राही में दृष्टि-

1. जुलूस—फणीश्वरनाथ रेणु, पृ० 76
2. वही, पृ० 186–187

गोचर होता है, वह कम नहीं है। अपनी जमीन की राष्ट्रीयपीड़ा का यह साक्षात्कार जितना प्रखर, तेज और ताजा है उतना ही क्रान्तिकारी भी है।[1]

आधा गाँव :

राही मासूम रजा की रचना 'आधा गाँव' (1966 ई०) विभाजन की पृष्ठ-भूमि में कतिपय ऐसे प्रश्न और सन्दर्भ सामने लाती है, जिनका हमारे सामयिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमें राही ने आधे गाँव की कहानी को ही आधार बनाया है—'मैंने पूरे गाँव को नहीं चुना, बल्कि केवल गाँव के उस टुकड़े को चुना, जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। कथाकार के लिये यह जरूरी है कि वह उन लोगों को अच्छी तरह जानता हो जिनकी कहानी वह सुना रहा है।' अपनी मिट्टी, अपने लोगों, अपनी परम्पराओं की समस्त दुर्बलताओं को जानने के बावजूद प्यार करने वाले भारतीय मुसलमान की गहन पीड़ा एवं तीव्र व्यथा को जो सशक्त वाणी इस उपन्यास में मिली है, वह इसे मानवीय दृष्टि से ऊंचा उठाती है। राही की व्यथा यह है कि राजनीति की फांस ने गंगौली के सरल निवासियों को इस प्रकार भ्रमित किया कि अपने अनकिए गुनाहों के लिये उन्हें प्राणांतक सजाएँ मिल गयीं।

आज के भारतीय मुसलमान की व्यथा यह है कि उसकी आत्मीयता, उसके प्यार, उसकी देशभक्ति को शक की निगाह से देखा जा रहा है; उसे बाहर से आया हुआ, अतएव पराया माना जाता रहा है; इतिहास-चक्र के नीचे उसकी मानवीयता को कुचला जा रहा है। वह इस बात से भी व्यथित है कि शक की निगाह से उसे देखा जाए, ऐसी स्थितियाँ भी जाने या अनजाने निर्मित हो गयी हैं।

जब तक पाकिस्तान के नारे बुलन्द नहीं हो रहे थे, गंगौली गाँव के हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे की चीजों को भले ही छूते या खाते-पीते न थे, किन्तु एक दूसरे के प्रति नफ़रत का भाव उनके मन में न था। मियाँ लोग दशहरे के लिये चन्दा देते थे। जहीर मियाँ ने मठ के बाबा को पाँच बीघे जमीन की माफी दे दी थी तो फुन्नन मियाँ ने भी मन्दिर बनवाने के लिए जमीन दी थी। किन्तु पाकिस्तान के सपने अलीगढ़ विश्वविद्यालय से गंगौली में पार्सल होने शुरू हुए कि हिन्दू-मुसलमानों के सदियों के हार्दिक सम्बन्धों में दरार आने लगी। मुसलमानों के ध्यान में नहीं आया कि अचानक मुसलमानों के लिये अलग पनाहगाह की जरूरत क्यों आ गई। बाद में गंगौली के लोगों की यह उम्मीद भी मिट्टी में मिल गई कि मुसलमानों के इस पनाहगाह में अधिक जी-जान से नमाज पढ़े जाते हों, इबादतें की जाती हों, मर्सिए और नौहें लगन से पढ़े जाते हों। पाकिस्तान से भारत

---

1. सृजन की साहसिकता : आधा गाँव—डॉ० विवेकी राय : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ० 496–497.

आने वाला अपनी तनख्वाह हजार-बारह सौ बताता है, किन्तु भारत में कुछ नहीं आता। फुन्नन मियाँ की समझ में यह बात नहीं आती कि चार सौ वर्ष पहले हिन्दुओं को तकलीफ देने वाला बादशाह के करतूत की सजा आज के मुसलमानों को क्यों मिल रही है। वह भी उनकी समझ से परे है कि गुनाह कलकत्ता के मुसलमानों ने किया तो बारिखपुर के मुसलमानों को उसका दण्ड क्यों? पाकिस्तान का जहर फैलने के बावजूद ठाकुर जयपाल सिंह बारिखपुर के मुसलमानों को बचाने के लिये तैयार हैं तो फुन्नन मियाँ भी सैयदों के खिलाफ ठाकुरों को समर्थन देकर अपनी बिरादरी से बाहर हो जाना स्वीकार कर लेते हैं। वर्षों के बने बनाये सम्बन्ध बदल रहे हैं और अपने-अपने स्थान पर हिन्दू और मुसलमान दोनों व्यथित हैं। किन्तु देश का दुर्भाग्य रहा कि पाकिस्तान का निर्माण सामान्य मुस्लिम जनता का सजग निर्णय नहीं, बल्कि धर्म के नाम पर उत्पन्न तूफान का परिणाम था। इस बात का साक्षी था कि इतिहास-चक्र किसी नैतिक, तार्किक गणितीय नियमों के अनुसार नहीं चलता बल्कि वह अंध गति से परिचालित रहता है। राही ने इस स्थिति को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। तन्नू पाकिस्तान का विरोध करता है, परन्तु सईदा को न भूल सकने के कारण पाकिस्तान चला जाता है। अब्बास पाकिस्तान का समर्थन करता है, परन्तु पाकिस्तान नहीं जाता। फुन्नन मियाँ के दामाद और सद्दन तीन-तीन बच्चों का भार बूढ़ों पर छोड़कर पाकिस्तान चले जाते हैं। पाकिस्तान समर्थकों के इस नारे ने कि कांग्रेस जमीन्दारी तोड़ देगी क्योंकि ज्यादातर जमीन्दार मुसलमान हैं, अपना काम किया। पाकिस्तान बनने के माहौल को मद्देनज़र रखा जाए तो महसूस होता है कि यह एक दुःस्वप्न था जो खरा उतर आया। तन्नू ने कहा था "नफ़रत और खौफ़ की बुनियाद पर बनने वाली कोई चीज मुबारक नहीं हो सकती। पाकिस्तान बन जाने के बाद भी गंगौली यहीं हिन्दुस्तान में रहेगा और गंगौली फिर भी गंगौली है।" नफ़रत और भय की यह फसल भारत में रहने वालों को काटनी पड़ती है। एक अजीब तनहाई का दर्द सबको घेर लेता है। जमींदारी खत्म होना, पाकिस्तान का निर्माण, जवान लड़कों का अपने बीबी-बच्चों को बूढ़ों के कन्धों पर छोड़कर कैरियर बनाने के लिये पाकिस्तान चला जाना, इस तनहाई के लिये जिम्मेदार हैं। एक ओर अपनी मिट्टी न छोड़ने का निश्चय, दूसरी ओर अपनी ही मिट्टी अपने पैरों तले खिसकती देखने के एहसास के बीच मायूस करने वाला तनाव पूरी सच्चाई से चित्रित हुआ है। स्वयं राही मासूम रजा के शब्दों में "हमारे देश के इतिहास की सबसे बड़ी ट्रेजडी यही है कि सन् 1947 के अगस्त की पंद्रहवीं से फौरन पहले अगस्त की चौदहवीं भी आई। मेरा उपन्यास 'आधा गाँव' उसी चौदह अगस्त के जहरीले समुद्र को बिलो कर अमृत

निकालने की एक कोशिश है।"[1] " यह उपन्यास लिखने के बाद मैंने जो सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बात जानी वह यह है कि यहाँ का मुसलमान पाकिस्तान नही गया। और यदि गया भी तो हिन्दुओ से डरके नहीं गया। वह कराची गया। वह लाहौर गया। वह ढाका गया.. हमे शहर और देश में फर्क करना चाहिए। गंगौली में तो हिन्दू-मुसलमान दंगे नहीं हुए थे। पर जमीन्दारी गंगौली में भी खत्म हुई...गंगौली का जमीन्दार गाजीपुर मे पान की दूकान नही खोल सकता था। पर कराची में उसे कौन जानता है...जमीन्दार गया तो उसके साथ जीने वाले भी गए..."[2] गंगौली गाँव इस पीड़ा से गुजर रहा है कि स्वराज्य उसे सहा नही। बड़े फाटक की शान और पाँच से बारह मुहर्रम तक के जलसे-जशन सब बीते युग की कहानी बन गये। अब एक निरन्तर और क्रमिक पतनशीलता का दौर है जिसमें आदमी भीतर-बाहर से मर रहा है। सैयद लोगो की अभिजात-भावना चरमरा रही है। गंगौली में गंगौली वालो की संख्या कम होती जा रही है और सुन्नियो, शियो और हिन्दुओं की संख्या बढती जा रही है। उपन्यास का उत्तरार्द्ध गांव की टूटती-बिखरती, विरूप जिन्दगी की अन्तरकथा है। अर्थहीनता और अकेलेपन के पतनशील मूल्य गाँव मे पनप रहे हैं। जलसे-जशन और कथा-कीर्तन की इतिश्री के बाद घोर उदासी और मनहूसी में डूबा आत्मलिप्त गाँव आत्मपीड़न की अनजानी स्थितियों से गुजरता है। मन्दिर और इमाम बाड़े दोनों जगह एक-सा सन्नाटा है। गाँव वाले शहरों की ओर भाग रहे हैं। गंगौली की मजलिस, मरसिया, नौहा, ताजिया, सोजखानी और सारा उल्लास अचानक लुप्त हो जाता है और कुछ नये शब्दो, जैसे जमीन्दारी बाण्ड, भूमिधरी, पंचायत, एलेक्शन, भ्रष्टाचार और फिल्मी गीत आदि की गूंज गलियो मे भर जाती है। संक्रमणकालोत्तर मोहभंग पूरी गहराई के साथ इस रचना में अभिव्यक्त हुआ है और पाठक को यह सोचने के लिये विवश करता है कि सद्दन और मासूम की तरह देश के कोटि-कोटि युवको के मन में अगाध ग्राम-प्रेम है पर यह क्या है कि वे एकदम विवश हैं।

'आधा गाँव' का क्षोभ, बिखराव और मनोल्लास विराट जन-समुदाय से जुड़ा है। किसी व्यक्ति या चरित्र को नहीं, अपितु समग्र गाँव को एक सी चारित्रिक इकाई बनकर कृति में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रस्तुतीकरण मे राही की मुद्रा क्रोध, ग्लानि, क्षोभ और कचोट की होती है। वह जैसे कड़वाहट की एक झोंक मे होता है। उसमें स्वातन्त्र्योत्तर राजनीति के प्रति एक विशेष चौकन्नापन होता है

---

1. 'आधा गाँव' संस्मरण—राही मासूम रजा : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ० 492.
2. वही, पृ० 493-494.

और 'आधा गाँव' गुजरते हुए समय से अधिक ऐतिहासिक दृष्टि से एक ठहरे हुए समय का गतिशील दस्तावेज बन जाता है।

टोपी शुक्ला :

विभाजन को विषय-वस्तु बनाकर लिखा गया राही मासूम रजा का दूसरा उपन्यास 'टोपी शुक्ला' आज के हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों को पूरी सच्चाई के साथ पेश करता है। व्यक्ति के मन मे साम्प्रदायिकता की भावना किस प्रकार पनपती है और किस प्रकार यह भावना इन्सान-इन्सान के बीच दूरी पैदा कर उसे एक दूसरे से नफरत करना सिखाती है 'टोपी शुक्ला' में इसका सशक्त चित्रण हुआ है। इस चित्रण के लिये कथाकार ने आधार बनाया है टोपी अर्थात् बलभद्र नारायण शुक्ला तथा उसके मित्र इफ्फ़न अर्थात् सैयद ज़रगाम मुरतुजा को। दोनो का चारित्रिक विकास स्वतन्त्र रूप मे हुआ है, दोनों दो तरह की घरेलू परम्पराओं के बीच पले-बढे हैं, फिर भी दोनो एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। घर मे उपेक्षित टोपी को इफ्फ़न की मित्रता और उसकी दादी का स्नेह अपनत्व का बोध कराते हैं। यद्यपि टोपी बचपन से ही सुनता रहा है कि मियाँ लोग बहुत बुरे होते हैं। अपने सस्कारों के कारण वह कभी इफ्फ़न के घर की कोई चीज़ नही खाता, फिर भी इफ्फ़न की दादी के मरने के बाद वह अकेला हो जाता है।[1] यह पता चलने पर कि एक मुसलमान लड़के से टोपी ने दोस्ती कर ली है, घर में उसकी खूब लानत-मलामत होती है। लेकिन टोपी किसी कीमत पर अपनी दोस्ती तोड़ने को तैयार नही होता। इफ्फ़न के पिता का तबादला हो जाने पर वह और भी अकेला हो जाता है। इसी बीच वह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में आता है और तब पहले-पहल उसे यह पता चलता है कि मुसलमानों ने किस तरह देश का सत्यानाश किया है। ये जब तक है, देश का कल्याण नही हो सकता। इन बातों के बीच उसे कई बार इफ्फ़न की याद आती है, लेकिन जब उसके क्लास का वहीद फर्स्ट आ जाता है, टोपी को यकीन हो जाता है कि जब तक मुसलमान हैं, हिन्दू चैन की साँस नही ले सकने। और तब एक सच्चे भारतीय और सच्चे हिन्दू की तरह वह मुसलमानों से नफ़रत करने लगता है।[2]

---

1. "...एक दादी के न होने से टोपी के लिए घर खाली हो चुका था—जबकि उसे दादी का नाम तक नही मालुम था। उसने दादी के हज़ार कहने के बाद भी उनके हाथ की कोई चीज़ नहीं खायी थी। प्रेम इन बातो का पाबन्द नही होता। टोपी और दादी में एक ऐसा सम्बन्ध हो चुका था जो मुस्लिम लीग, कांग्रेस और जनसंघ से बड़ा था।"—टोपी शुक्ला—राही मासूम रजा, पृ० 40.

2 वही, पृ० 47

यही स्थिति इफ्फन की भी है। विभाजन के समय उसने जो कुछ सुना और पढ़ा है, वह रोंगटे खड़े कर देने के लिये काफी है। उसकी आत्मा सवालों के जंगल मे भटकने लगती है और उसे लगता है कि हिन्दू और सिख बहुत जलील है। दूसरे दिन स्कूल जाने पर उसे स्कूल के लोग अजीब-अजीब दिखायी देने लगते है। "उसे लगा कि बाबू त्रिवेणी नारायण से उसे जोर से मारा और लक्ष्मण को धीरे-से—जबकि दोनों की खता एक थी। उसे लगा कि चौधरीजी ने उसके मुकाबले मे रामदास को एक सवाल ज्यादा जी लगाकर समझाया।...स्कूल के सारे दोस्त उसे अजनबी दिखायी देने लगे। उसने अपने-आपको बिल्कुल अकेला पाया।[1] पिता के समझाने पर भी उसका बेनाम डर नहीं मिटता। "वह स्कूल जाता रहा। परन्तु धीरे-धीरे अपने हिन्दू दोस्तों से बिछुड़ता रहा।...इस परिवर्तन को किसी ने महसूस नही किया। मास्टर पढाते रहे। लड़के पढ़ते रहे। मास्टरों ने यह जानने की जरूरत ही नही समझी कि यह देखें कि अब लड़कों की दोस्ती का आधार क्या है।"[2] उर्दू के मौलवी साहब अलबत्ता महसूस करते हैं कि उर्दू का क्लास छोटा हो गया है और अब कोई हिन्दू लड़का उर्दू नहीं पढता। वे हिन्दी के उन पण्डितजी से जलने लगते हैं जिन्होंने उनका खजाना हथिया लिया है। इसलिए वे हिन्दी की बुराई करने लगते हैं। प्रतिक्रियास्वरूप उर्दू, फारसी के जानकार पण्डितजी उर्दू बोलना छोड़ देते हैं, यद्यपि हिन्दी बोलने मे उन्हें कठिनाई होती है।[3] शक और नफरत की परछाइयों के बीच जवान होता हुआ इफ्फन पाकिस्तान नही जाता, क्योंकि वह अपने डर को जीतना चाहता है। एक डिगरी कॉलेज मे उसे इतिहास पढाने की नौकरी मिल जाती है। पढाते समय उसे लगता है कि "हिन्दुस्तान की किसमत मे हिस्ट्री है ही नहीं। मुझे अंग्रेजो की लिखी हुई हिस्ट्री पढायी गयी। चन्द्रबली को हिन्दुओं की बनायी हुई हिस्ट्री पढायी जा रही है। यही हाल पाकिस्तान मे होगा। वहाँ इसलामी छाप होगी तारीख पर।"[4] उसी साल मैनेजिंग कमेटी के सेक्रेटरी का लड़का हिस्ट्री में एम० ए० कर लेता है। उसके लिये एक जगह की जरूरत होती है। तब शहर के हिन्दी समाचार-पत्रों मे लिखा जाने लगता है कि इफ्फन मुस्लिम लीगी है। औरंगजेब की तारीफ और शिवाजी की बुराई करता है। उसी समय मुस्लिम यूनिवर्सिटी में इफ्फन को जगह मिल जाती है। वही दुबारा उसकी भेंट टोपी से होती है, जो हिन्दी में एम० ए० कर रहा है। अलीगढ़ पहुँचने के बाद टोपी की विचारधारा बिल्कुल परिवर्तित हो चुकी है। उसके भाई ने उसे चलते-चलते होशियार कर दिया था कि वहाँ

1. टोपी शुक्ला, पृ० 51-52.
2. वही, पृ० 53.
3 वही, पृ० 55.
4 वही, पृ० 60.

मुसलमानो से ज्यादा कम्युनिस्टो का डर है। लेकिन टोपी अपने आपको इन लोगों से बचा नहीं पाता। "वह उस इक़्तिदार आलम का मुँह कैसे बन्द करता जो पाकिस्तान का उतना ही बड़ा विरोधी था जितना कि खुद टोपा था। वह उस हामिद रिजवी को अपने पास से कैसे हटा देना जिसे कुछ मुसलमान लड़को ने इसलिए पीटा था कि वह यह माँग कर रहा था कि मुशायरे के साथ कवि-सम्मेलन भी होना चाहिए और यूनियन की तरफ से केवल लेक्चर्ज औन इसलाम की जगह तमाम धर्मों पर लेक्चर कराना चाहिए। मीलाद-ए-नबी के साथ-साथ जन्माष्टमी भी मनानी चाहिए ..यही वे लोग थे जो यूनियन के चुनाव में हिन्दू लड़को को खड़ा करते थे और उनके चुनाव का काम करते थे, मार खाते थे, चुनाव हारते थे, परन्तु हिम्मत नही हारते थे।"[1] इफ्फन और टोपी एक दूसरे से मिलते हैं तब कई दीवारें गिर जाती हैं, कई डर खत्म हो जाते हैं, कई प्रकार के अकेलेपन दूर हो जाते है।[2] टोपी अपना सारा समय इफ्फन के घर गुजारने लगता है। नतीजा यह होता हैं कि चारों ओर टोपी तथा इफ्फन की पत्नी सकीना को लेकर अनेक प्रकार की अफवाहें फैलने लगती हैं। इन अफवाहों से घिरा टोपी जब पाँच दिन बाद अपने घर बनारस से लौटता है, उस सलीमा का विवाह हो चुका है; जिससे विवाह के सपने वह देखा करता था। अपने माहौल और लोगों की साम्प्रदायिक मनोवृत्तियों से समझौता करने मे असमर्थ होकर वह अन्त मे आत्महत्या कर लेता है। लेखक के शब्दों मे आत्महत्या सभ्यता की हार है। परन्तु टोपी के सामने कोई और रास्ता नही था। यह टोपी मैं भी हूँऔर मेरे ही जैसे और बहुत-से लोग भी हैं।""हम लोग कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी अवसर पर 'कम्प्रोमाइज' कर लेते हैं। और इसीलिए हम लोग जी रहे हैं। टोपी कोई देवता या पैगम्बर नही था। किन्तु उसने 'कम्प्रोमाइज' नहीं किया और इसी-लिए उसने आत्महत्या कर ली।[3]

'आधा गाँव' की तरह राही मासूम रजा 'टोपी शुक्ला' को किसी एक आदमी या कई आदमियों की कहानी न मानकर समय की कहानी मानते हैं। 'समय के सिवा कोई इस लायक नही होता कि उसे किसी कहानी का हीरो बनाया जाय।'[4] 'टोपी शुक्ला' इसी गुजरते हुए समय और बदलते हुए परिवेश की कहानी है।

आजादी के बाद की परिस्थितियों का चित्रण करते हुए कथाकार की व्यंग्य-प्रधान शैली हमारे सामने अनेक प्रश्न-चिह्न खड़े करती है। विभाजन और विभाजन के बाद के माहौल ने मनुष्य को मनुष्य नही रहने दिया है "यह प्रश्न वास्तव मे

---

1 टोपी शुक्ला, पृ० 63

2. वही, पृ० 68.

3. वही, भूमिका, पृ० 5.

4 वही, पृ० 5

महत्वपूर्ण है कि बलभद्र नारायण शुक्ला और उन्हीं के जोड़ीदार किसी अनवर हुसैन जैसे लोगो के लिए इस देश में कोई जगह है या नही। यहाँ कुजड़ो, कसाइयो, सैय्यदों, जुलाहों, राजपूतो, मुसलिम राजपूतों, बारहसेनियो, अगरवालो, कायस्थो, ईसाइयो, सिक्खो'''गरज कि सभी के लिए कम या अधिक गुजाइश है। परन्तु हिन्दुस्तानी कहाँ जायें ? लगता ऐसा है कि ईमानदार लोगो को हिन्दू-मुसलमान बनाने में बेरोजगारी का हाथ भी है।[1]

आजादी के बाद भारत मे बचे हुए मुसलमानो की पीड़ा को भी लेखक ने बड़ ईमानदारी से अभिव्यक्त किया है। भारतीय मुसलमानो के लिये पाकिस्तान एक बेनाम डर का नाम बन गया है। और हर मुसलमान डरा हुआ है। उसकी समझ में नहीं आता कि यह डर क्या है ? यह डर क्यो है ? हिन्दू-मुसलमान पर शक क्यो करता है ? और मुसलमान हिन्दू से खौफ क्यों खाता है।[2] सच तो यह है कि अपने राष्ट्रीय आन्दोलन के फल के रूप मे हमें एक अकेला शब्द—नफ़रत—मिला है। 'बंगाल, पंजाब और उत्तर प्रदेश के इन्कलाबियों की लाशो की कीमत केवल एक शब्द है—नफरत। नफ़रत ! शक ! डर !'''इन्ही तीन डोगियों पर हम नदी पार कर रहे हैं। यही तीन शब्द बोये और काटे जा रहे हैं। तीन शब्द'''तीन राक्षस।[3]

'ओस की बूंद' :

'ओस की बूंद' (1970) भी राही मासूम रजा की उसी परम्परा का उपन्यास है, जिसमे उन्होने विभाजन के बाद अपनी ही भूमि पर अजनबी होते जा रहे भारतीय मुसलमान की पीड़ा एवं व्यथा को अभिव्यक्ति दी है। कथा का केन्द्र गाजीपुर है, जहाँ सन 1932 के बाद से कोई बलवा नही हुआ, लेकिन कथाकार ने वहाँ दो-दो बलवे दिखा दिये है। उसके अपने शब्दों में "...हर वह शहर और क़स्बा और गाँव गाजीपुर है जहाँ बलवा हो। मै हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के हर शहर का बेटा हूँ। जो घर जलता है वह मेरा घर है।...गाजीपुर मेरे दिल में है और हिन्दुस्तान (पाकिस्तान समेत) गाजीपुर मे।'[4]

विभाजन के परिणामों को झेलते हुए पात्रों के जीवन की त्रासदी :

कथा अनेक मानवीय सन्दर्भों से जूझती हुई आगे बढ़ती है। विभाजन ने भारतीय मुसलमानो के सामने जाने-अनजाने अनेक ज्वलन्त प्रश्न खड़े कर दिये है।

1. टोपी शुक्ला, पृ० 12-13.
2. वही, पृ० 154.
3. वही, पृ० 76-77.
4. ओस की बूंद, राही मासूम रजा, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 1976, पृ० 127.

मुस्लिम-लीग में शामिल मुसलमान अब किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। श्री हयातुल्लाह अंसारी जैसे अनेक लीगियों ने यह सोचा भी न था कि पाकिस्तान वाकई बन जायेगा।[1] श्री अंसारी के नाम से लिखे हुए वजीर हसन के अनगिनत बयानों के तराशे जिनमें कांग्रेस, गांधी और नेहरू को कोसा गया था, श्री अंसारी ने अपने स्क्रैप-बुक में चिपका रखे थे। उन्हें पढ़कर वे आराम से सो जाया करते थे। 'परन्तु जब पाकिस्तान बन गया तो सवाल यह उन्हें भिड़ की तरह चिमट गया कि पाकिस्तान बहुत दूर बना है, और उन्हें गांधी और नेहरू के हिन्दुस्तान में ही रहना है। उनकी स्क्रैप-बुक उन्हें डरावने सपने दिखाने लगी।'[2] इसलिये पाकिस्तान बनने के बाद खड़े चाव से खरीदी गयी जिन्ना टोपी वे अपने नौकर को दे देते हैं और गांधी टोपी पहनना शुरू करते हैं। दो-चार दिन बाद ही उनका बयान छपता है कि भारत के मुसलमानों को कांग्रेस में चला जाना चाहिए। पाकिस्तान एक गलती है ..'[3] खादी के कपड़े पहनने में उन्हें बड़ी तकलीफ़ होती है। किन्तु कोई चारा नहीं; वजीर हसन के लिखे हुए बयानों पर दस्तखत करने की सज़ा उन्हें भुगतनी ही है।[4] विभाजन के बाद देश की अवसरवादी राजनीति के झटके में वे भी कांग्रेसी बन जाते हैं[5], और अपने स्कूल का नाम 'ऐंग्लो वर्नाक्युलर' से बदलकर 'ऐंग्लो हिन्दुस्तानी' रख देते है, साथ ही हिन्दी के पण्डित श्री गोबरधन 'बेकल' चिरैय्या-कोठी की तनख़ाह भी बढ़ा देते हैं।

वजीर हसन और श्री हयातुल्लाह अंसारी दोनों मुस्लिम लीगी थे, लेकिन दोनों में बड़ा फर्क है। श्री अंसारी पाकिस्तान बनवाकर पछता रहे हैं, जबकि वजीर हसन पाकिस्तान बनवाकर झल्ला रहे हैं। 'इसलिए नहीं कि बलवों में बहुत मुसलमान मारे गए। क्योंकि बलवों में हिन्दू भी बहुत से कुछ कम नहीं मारे गए थे।

1. "सर सैयद अहमद खाँ से लेकर श्री हयातुल्लाह अंसारी तक बहुत-से मुसलमान बुद्धि-जीवियों का यही खयाल था कि ब्रिटिश सरकार का सूर्य अस्त होने के लिए नहीं निकला है। और इसीलिए उनके तमाम सपनों का आधार यही झूठा सच था। जो श्री हयातुल्लाह अंसारी को ज़रा भी यकीन होता कि पाकिस्तान बन जायेगा तो वह उन बयानों पर कभी दस्तखत न करते जो उनके नाम से लीग की अंग्रेजी और उर्दू की पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे। ओस की बूँद पृ० 14.
2. वही, पृ० 15.
3. वही, पृ० 15.
4. वही, पृ० 15.
5. वही पृ० 15-16

पाकिस्तान उनके लिए कोई सियासी चाल नहीं था बल्कि उनका विश्वास था। उन्होंने पाकिस्तान जाने के बारे में कभी नहीं सोचा। इसलिए नहीं कि वह श्री अंसारी की तरह नेशनलिस्ट हो गए थे। इसलिए भी नहीं कि उन्हें इसका डर नहीं था कि बलवे में वह भी मारे जा सकते हैं। उनकी टेक यह थी कि वह अपना घर छोड़ कर क्यों जायें।'[1] अपनी जमीन से उनको जोड़ने वाली ऐसी सैकड़ों चीजें हैं जो ऊपर से देखने में महत्वहीन लगती हैं, लेकिन जिनके बिना उनका जीवन अधूरा है।[2] ये बातें वे अपने बेटे को नहीं समझा पाते। न समझा पाने का कुसूर भी उन्हीं का है। क्योंकि उन्हें अपने बुजुर्गों से कुछ रवायतें मिली थी। और उनके बेटे को अपने बुजुर्गों से सिर्फ सियासी नारे मिले। बेटा पाकिस्तान चला जाता है। वजीर हसन नहीं गये तो उसका कारण यह नहीं था कि वे पाकिस्तान के विरोधी हो गए थे या हिन्दुस्तान से उन्हें प्यार हो गया था। बल्कि इसलिए कि हिन्दुस्तान उनका घर था। और घर नफरत और मुहब्बत दोनों ही से ऊँचा होता है।[3] वजीर हसन का घर लगभग चार हजार बरस पुराना था।[4] अपनी परम्पराओं को, अपने घर को छोड़ने

1. ओस की बूँद, पृ० 20.
2. "वह दीनदयाल जो अब बाबू दीनदयाल हो गया है ना, और जो मुसलमानों को हर वक्त गालियाँ दिया करता है ना, मेरा लंगोटिया यार है। हम दोनों साथ अमरूद चुराने जाया करते थे। हम दोनों ने एक साथ कुँजड़ों की गालियाँ खाई है। जो मै चला जाऊँगा तो उसके बिना मै वहाँ अधूरा रहूँगा और मेरे बिना वह यहाँ।—वही, पृ० 21.
3. "मुहब्बत एक बहुत छोटा शब्द है। इतना छोटा कि उसमें आँगन का एक कोना भी नहीं समा सकता।...परेशानी यह है कि भाषा के पास मुहब्बत से बड़ा कोई शब्द नहीं है।...इबरानी भाषा मे शायद कोई शब्द ही मनुष्य और घर के सम्बन्ध की गहराई या ऊँचाई नापने वाला! क्योंकि घर छूटने का अर्थ केवल वही भाषा जानती है। अब पंजाबी, बंगला, आसामी, उर्दू और सिन्धी भाषाओं में भी अवश्य घर और मनुष्य का सम्बन्ध बताने वाला शब्द बन जाएगा क्योंकि इन भाषाओं के सामने यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है"—वही, पृ० 21-22
4. "आप इस पर आश्चर्य न करें। घर दीवारों का नाम नहीं बल्कि एक कल्पना का नाम है। वजीर हसन के पुरखों में से किसी ने पिछली शताब्दियों की धुंध में इस्लाम स्वीकार किया था। परन्तु इस्लाम स्वीकार करने से पहले भी तो घर रहा होगा।··· अब तो दूरी की वजह से कुछ दिखाई भी नहीं दे रहा है। परन्तु वजीर हसन की आत्मा की आवाज आ रही है। क्षणों, दिनों, महीनों और शताब्दियों का एक अटूट सिलसिला है जो इतिहास के उस पार चला गया है।···कैसी अयोध्या, कैसी काशी और कैसा पाटलिपुत्र, तक्षशिला, वैशाली ···एक अकेले वजीर हसन की आत्मा इन सबसे पुरानी है और इन सबसे बड़ी है।"—वही, पृ० 22–23.

के लिये वे किसी कीमत पर तैयार नहीं होंगे। उनके घर से मिला हुआ स्कूल था, जिसके लिये उन्होंने वह जमीन दे दी थी जिस पर वे इकलौते पुत्र के लिये मकान बनवाना चाहते थे। स्कूल उनका आदर्श था। उन्होंने स्कूल की इमारत को बनते यों देखा था जैसे कोई सपना देखना हो या जैसे माँ बच्चों को जवान होता देखती है। "वास्तव में वजीर हसन के दो बेटे थे। बड़े बेटे का नाम था मुस्लिम ऐंग्लो वर्नाक्युलर स्कूल और छोटे बेटे का नाम था अली बाकर खाँ। बड़े बेटे ने अपना नाम बदल लिया। छोटा बेटा पाकिस्तान चला गया। वजीर हसन अपनी आत्मा की पुरानी बस्ती में अकेले रह गये।"[1] अकेलेपन का यह जहर उनकी रगों में दौड़ रहा है और दीनदयाल तथा वजीर के बीच अलगाव की दीवार उठती जा रही है। वजीर हसन को अब लग रहा है कि यह जो पाकिस्तान बना है यह हिन्दुओं की एक बड़ी साजिश है।[2] उनकी यह तकलीफ तब और बढ़ जाती है, जब वे देखते हैं कि 'बेकल' चिरैय्याकोठी तो फारसी का शेर पढ़ रहे हैं और घर में उनकी पोती शहला मीराबाई का भजन गुनगुना रही है। वे सोचते हैं "हम अपनी जबान पढ़ के काहे न जी सकते अपने मुलुक में? हम का दीनदयाल से कम हिन्दुस्तानी हैं। दसवीं सदी में हमहूँ हिन्दू रहे।"[3] उनकी पुरानी हवेली के एक हिस्से में पुराना मन्दिर आज तक है, हर साल वे उसकी मरम्मत कराते हैं और पुजारी को तनखाह देते हैं। फर्साही मौलवी के विरोध के उत्तर में वे बड़ी दृढ़ता से कहते हैं "अब हम आपकी तरह जनरल तारिक या मुहम्मद बिन कासिम के साथ तो रहे ना कि हमें उनके लश्कर की गिनती याद होय। बाकी कोई माई का लाल ई नहीं कह सकता कि ठाकुर वजीर हसन खाँ बुजदिल हैं। अरे जब हम ई मन्दिर के वास्ते अल्लाह मियाँ से ना डराने तो दीनदयाल या आपकी क्या हैसीयत है! ऊ मन्दिर हमरे घर में है और हम कह रहें कि पूजा होगी।"[4] अब वजीर हसन को पाकिस्तान के बन जाने का गहरा पश्चाताप है। उनके कमरे की दीवार पर टंगी हुई कायदे-आजम की तस्वीर ने

1. ओस की बूँद, पृ० 24.
2. "मैं तो पाकिस्तान को ठीक समझता था दीनदयाल! इसलिए मैंने उसके लिए कोशिश की। लेकिन तुम तो पाकिस्तान को गलत समझते थे ना? फिर तुमने क्यों बनने दिया पाकिस्तान?"—वही, पृ० 31.
3. वही, पृ० 33.
4. वही, पृ० 53

दीवार के दो रंग बना दिये हैं, वजीर हसन के जीवन के भी दो रंग हो गये हैं।[1] लेकिन वे अली बाकर नहीं है, वजीर हसन हैं—वक्फ-अल्लाह के मोतवल्ली; और इसीलिये कुएँ मे फेंक दिये गये शंख को निकालकर वे मन्दिर में ले जाते हैं।[2] वहाँ सुबह की नमाज पढने के बाद वे शंख फूंकने लगते हैं। दूसरे दिन के समाचार-पत्रों मे यह समाचार निकलता है कि मन्दिर की मूर्ति को तोड़ने की कोशिश करता हुआ एक मुसलमान पी० ए० सी० की गोलियों से मारा गया। शहर और आस-पास के गाँवों में दंगा हो गया। तीस आदमी मारे गए। दो सौ अस्पताल मे है।[3] बलवा खत्म होने के बाद लोग उस शंख के दर्शन के लिए आने लगते है तो खुद-ब-खुद कुएँ से निकला और जब उसने देखा कि एक मलेच्छ मूर्ति को तोड़ रहा है तो वह खुद-ब-खुद बजने लगा कि पी० ए० सी० के जवान जाग जाएँ।......[4]

पूरे उपन्यास मे हाजरा, आबेदा, वहशत अन्सारी, अकबरी बीबी, दीनदयाल, राम अवतार जैसे पात्र विभाजन की बेबसी और भयावहता को झेलते नजर आते है। वजीर हसन की पत्नी हाजरा दिन-रात अपने आपसे सवाल किया करती है। उसका एकलौता बेटा पाकिस्तान के खिलाफ था और वह पाकिस्तान मे है, और वजीर हसन पाकिस्तान बनवाने मे जी-जान से लगे हुए थे तो यह यही हैं। ऐसा क्यों है ?[5] इन निरीह औरतों को राजनीति से कोई मतलब नही। उसके लिये पाकिस्तान का अर्थ अपने इकलौते बेटे से जुदा हो जाना है। बेटा पत्नी आबेदा को तलाक देकर अलग हो गया है, पाकिस्तान में उसने दूसरी शादी भी कर ली है। अब

1. वजीर हसन थोड़ी देर तक उस तस्वीर के सामने खड़े रहे। उन्हें अपनी की हुई तमाम तकरीरें और अल्लन से होने वाली तमाम बहसें और दीनदयाल के साथ खेले हुए तमाम खेल याद आ रहे थे। वह उन खेलो से आँखें नही मिला पा रहे थे।—उन्होने हाथ बढाकर वह तस्वीर उतारी और दीवार पर पड़ जाने वाले उस दाग को देखने लगे जो तस्वीर के कारण दीवार पर पड़ा था और अब तक तस्वीर ही से छिपा हुआ था। सारी दीवार का रंग कुछ और कह रहा था—तस्वीर ने एक ही रंग के दो बना दिये थे। क्या यह रंग एक हो सकेगा ? वजीर हसन के पास इस भयानक सवाल का कोई जवाब नहीं था। —ओस की बूँद पृ० 54.
2. मन्दिर मे एक दिया जल रहा था, वजीर हसन ने महसूस किया कि हिन्दुस्तान का इतिहास और उसका भविष्य दोनो ही मन्दिर मे खड़े उन्हें गौर से देख रहे है।—वही, पृ० 56.
3. वही, पृ० 57.
4. वही, पृ० 57.
5. वही, पृ० 28.

इस आबेदा का क्या होगा ? क्या इसकी तकदीर में कोई न कथ्य नहीं है ?[1] आबेदा की समझ में भी नहीं आता कि उसका कसूर क्या है ? उसकी बेटी बाप के जीते-जी यतीम क्यों बन गई है ?[2] अकबरी बीबी जैसे सकड़ों औरतें समझ नहीं पाती कि उनका निकाह शेख फिरासत अली से हुआ था तो उन मेहर का दावा कस्टोडियन पर क्यों हो रहा है ।[3] हर घर में कस्टोडियन का प्रेत जमा हुआ है और अकबरियाँ और फातमाएँ, और गफूरनें···खूँट में अपने मूल के नोट बाँधे चली आ रही हैं। ताँता बँधा हुआ है। कहानी एक ही है। नाम अलग-अलग हैं।[5] पाकिस्तान बन चुका है। 'अब लाखों-लाख अली बाकर और वकारुल्लाह, वहशत अंसारी, सईद और जुबैर··· क्या करें। अब जीवन का आधार क्या हो ? सपने कहाँ से आएँ, क्योंकि सपनों के बिना जीना तो असम्भव है'' पाकिस्तान के पक्ष में भाषण देने वाला वहशत अंसारी अब अपने आप से पूछ रहा है " मैं कौन हूँ ? मेरी पहचान क्या है ? मेरी जड़ें कहाँ हैं ? मुस्लिम लीगी होने का अर्थ क्या है आखिर···"[6] वह देख रहा है कि हक, कानून, इन्साफ, धर्म, प्यार, जिन्दगी और मौत जैसे शब्द बिल्कुल धुंधले हो गये हैं। इनकी जगह डर का एक नया तजरबा जन्म ले रहा है, जिसने हमारी चेतना, समझ, ज्ञान को बिल्कुल ढंक लिया है।[7] मुसलमानों से नफरत करने वाली नयी हिन्दू पीढ़ी का बचपन किसी दीनदयाल की तरह वजीर हसन के साथ नहीं गुजरा है। उसे खेलने के लिये परम्पराओं का आँगन नहीं मिला, इसलिये यह पीढ़ी केवल नफरत कर सकती है।[8] इसके दिमाग आँकड़ों से भरे हुए हैं। जले हुए

1. ओस की बूँद, पृ० 30.
2. वही, पृ० 38.
3. वही, पृ० 34.
4. वही, पृ० 36.
5. वही, पृ० 22.
6. वही
7. "यह शब्द, जिनसे आत्मा की किताब भरी हुई थी, अब ठीक से पढ़े नहीं जाते। दिल के कोने-कोने में एक डर रेंग रहा है, केंचुए की तरह। यह डर एक नया तजरबा है।···हमारी चेतना, हमारी समझ, हमारी सोच और हमारे ज्ञान के कन्धों पर डर की सलीब है···डर। यही सत्य है। डर के सिवा जो जो कुछ है वह झूठ है।—वही, पृ० 60.
8. "यही पीढ़ी जो मुस्लिम लीग की जवानी में पैदा हुई, बड़ी बेचारी है। नफरत, शक और खौफ की जमीन पर इसका अंखुआ फूटा है। माजी अतीत से इसका नाता कट गया है। नाम वहशत अन्सारी हो या शिवनारायण, दोनों ही के लिए इतिहास महमूद गजनवी पर रुक जाता है। इन दोनों ने कुंजड़ों की गालियाँ साथ-साथ नहीं खाई हैं। परछाइयों के जंगल में पैदा होने वाली यह पीढ़ी केवल नफरत कर सकती है। वही, पृ० 73-74.

बाजारों, घरों-स्कूलों और अस्पतालों के मैले कागज पर लाशों के अक्षरो से जो इतिहास लिखा गया उसमे प्यार की महक कहाँ से आयेगी।[1] इस पीढी ने अनार परियो और गुल-बकावली की कहानियो के साथ-साथ दिल्ली, लाहौर, जालन्धर, कलकत्ता और नोआखाली की कहानियाँ सुनी है। इन कहानियो में पलकर जवान होने वाला नफरत और शक के सिवा क्या कर सकता है? आजादी के बाद आपसी सम्बन्धों में पनपने वाले नफरत और सन्देह का चित्रण ही राही के उपन्यासों का मूल स्वर है।

राही के उपन्यासों के इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि ये उपन्यास विभाजन के बाद पतनशील जीवन-मूल्यों, अविश्वास और सन्देह के माहौल में सच्चे, ईमानदार लोगों की मनोव्यथा का चित्रांकन करते है। मुस्लिम परिवारों का अन्तरंग इनमे खुलकर सामने आया है, साथ ही भारतीय मुसलमान की पीड़ा का मार्मिक चित्र भी इनमें प्रस्तुत है। स्वयं लेखक के शब्दों मे "देवनागरी-हिन्दी मे भारतीय मुसलमानों के बारे में कुछ नही लिखा गया है। हिन्दी क्षेत्र की नई पीढी केवल देवनागरी जानती है। मतलब यह हुआ कि इस क्षेत्र के गैर-मुस्लिम लोग मुसलमानो के बारे मे कुछ जान ही न पायेगे। और यदि इस देश को दुनिया के इतिहास में अपनी तरफ से कुछ घटाना-बढाना है तो मुसलमानों को समझना पड़ेगा तो मैंने 'आधा गाँव' के दरवाजे खोल दिये है कि पढने वालो को मुसलमान जीवन की एक झलक मिल जाये और हिन्दू पाठक यह देख सकें कि यह मुसलमान तो अपने दुःख-दर्द, हंसी-खुशी समेत बिल्कुल उन्हो जैसे है।"[2] इन रचनाओं में मुस्लिम लीग, पाकिस्तान और दिग्भ्रमित कट्टरपंथी साम्प्रदायिकता के प्रति लेखक का राष्ट्रवादी दृष्टिकोण कही धुँधला पड़ता दिखाई नहीं देता।

बदीउज्जमा :

'छाको की वापसी' :

बदीउज्जमा का उपन्यास 'छाको की वापसी'[3] (1975) सर्वथा नवीन विषय-वस्तु को लेकर चला है और इसमें नये दर्द की नये अन्दाज मे पकड़ है। उपन्यास की यह विशिष्टता है कि एक सामान्य घटना के चारो ओर परिवेश की बुनावट होती चलती है। घटना अन्ततः पीछे छूट जाती है और उपन्यास का समग्र प्रभाव जो मन पर शेष रह जाता है, वह मात्र परिवेश के अन्तर्विरोध की कसक होती है।

1. ओस की बूंद, पृ० 74.
2. 'आधा गाँव' सस्मरण—राही मासूम रजा : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, पृ० 494.
3 छाको की वापसी , राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम सस्करण, 1975.

पाकिस्तान बन जाने पर गया शहर का निवासी छाको भटक कर पूर्वी पाकिस्तान चला गया और भारत में उसका बाल सहचर, उपन्यास का 'मैं' उसके पत्र के माध्यम से नयी-पुरानी स्थितियों, स्मृतियों का जायजा लेते हुए, कभी कसमसाता है, कभी झुंझलाता है और कभी खो जाता है। सामाजिक राजनैतिक स्थितियों को राष्ट्रीय दृष्टि से देखने और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को झकझोरने के लिये कथाकार घिसे-पिटे हिन्दू-मुसलिम एकता के सन्दर्भों को बहुत विस्तार न देकर समस्या को नव परिवर्तित स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उठाता है। भारत से मुस्लिम भ्रातृत्व की कट्टरता और साम्प्रदायिक राष्ट्र पाकिस्तान के नशे मे जो लोग पूर्वी पाकिस्तान गये उन्हें वहाँ के बंगला भाषा-भाषी मुसलमानों के असाम्प्रदायिक जीवन-कोण से टकराना पड़ा और तब उनका सारा भ्रम टूट गया। वे न तो वहाँ की जमीन से जुड़ सके और न अपनी भूमि से पूरी तरह कट सके। अपने वतन के प्यार की कीमत उन्हे पराये मुल्क में जाकर मालूम होती है। साम्प्रदायिकता और पृथक्ता की दीवारें स्वयमेव ढहती नजर आती हैं। स्थिति यहाँ तक मर्मस्पर्शी हो जाती है कि अपने वतन में रहने के लिये, अपने लोगों के साथ जीने के लिये कटे लोग तड़पते है, छटपटाते हैं, रोते और सिर पटकते हैं। परन्तु कानून उन्हें बराबर निराश करता है। एक विचित्र संवेदनीय स्थिति उभरती है और अपने ही मुल्क में अपना आदमी पराया बन जाता है। कथा की सारी बुनावट इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द है। पाकिस्तान गये अब्दुश्शकूर टेलर का खत लेकर उसकी बुआ जनवा आती है और नेरेटर से पढ़ने का आग्रह करती है। इसके बाद फ्लैश बैक शैली का सहारा लेकर लेखक तमाम पुरानी कोमल बालस्मृतियों और एक मोहक मुस्लिम संस्कृति की परम्पराओं में भटकता है, उसके साथ उपन्यास का पाठक भी भटकता है। छाको के हर पत्र के साथ अतीत की परिवेशगत बुनावट और सघन होकर फ्लैश होती है।

बिहार के गया नगर में मुसलमानों का एक मुहल्ला है, जिसमें इस उपन्यास का नायक 'खाजे बाबू' रहता है, जो सैयद खानदान का है। मुहल्ले में दो-चार घर ही सैयदों के हैं। बाकी लोग जुलाहे, कसाई या दर्जी हैं। खाजे बाबू के पिता सरकारी दफ्तर में क्लर्क थे, जिन्हें अपने खानदान के बड़प्पन का गर्व था। उसके चाचा डाकखाने में अफसर थे। उनका पुत्र भी ग्रेजुएट है और वह भी सरकारी नौकर है। वह विचारधारा से मुस्लिम लीगी है। पाकिस्तान बनने के बाद चाचा और उनका पुत्र हबीब परिवार के विरोध करने पर भी पूर्वी पाकिस्तान (ढाका) चले जाते है।

खाजे के घर के पास ही उसके बालमित्र छाको (अब्दुश्शकूर) का घर है जिसका पिता महम्दू (महमूद) खलीफा दर्जी का काम करता है। छाको की विधवा बुआ जनवा (जैनब) अपने बच्चों के साथ वहीं रहती है।

छाको पिता की दुकान छोड़कर इलाही मास्टर के पास नये डिजाइन के

सूटों की सिलाई सीखने के लिये चला जाता है। बाद में वह काम की तलाश में बिहार के अनेक नगरों में घूमता है। एक दिन जतवा खाजे बाबू के पास पत्र पढ़वाने के लिये आती है, जिससे पता चलता है कि छाको इलाही मास्टर के बहकावे में आकर ढाका चला गया है। वहाँ उसका दिल नहीं लगता और अब उसे वतन छोड़ने का पछतावा हो रहा है।

ढाका से हबीब भाई लिखते है कि इन बंगाली मुसलमानों से तो बिहार के हिन्दू ही अच्छे थे। जलवायु अनुकूल न होने से हबीब के पिता रुग्ण होकर मर जाते हैं। हबीब के अन्तिम पत्र से ज्ञात होता है कि वहाँ के हालात नाकाबिले-बरदाश्त होने के कारण हबीब ने भी तबादले के लिये दरख्वास्त दे दी है। उम्मीद है कि करांची तबादला हो जायेगा।

इसी बीच खाजे बाबू के पिता का देहान्त हो जाता है। माता अपने जेवर बेचकर पुत्र को कालेज की शिक्षा दिलाती है। वकालत की पढ़ाई वह पटना जाकर ट्यूशन करके पूरी करता है। अनेक दिन बेकार रहने के बाद उसे मुंसफी की नौकरी मिल जाती है। चार साल बाद दो महीने की छुट्टी लेकर जब वह घर आता है, पास-पड़ोस के लोग मिलने आते हैं। उन्ही में छाको भी है जो एक महीने का वीसा लेकर आया था और उसकी अवधि उसने एक महीना और बढ़ाई है। वह खाजे बाबू से पूछता है कि क्या वह फिर से यहाँ का नागरिक नहीं बन सकता ? खाजे बाबू इसमे अपनी असमर्थता प्रकट करता है। पुलिस उसे जबरदस्ती पूर्वी पाकिस्तान भेज देती है।

समय बीतता है। माँ की अन्तिम दशा का समाचार सुनकर खाजे बाबू जमशेदपुर से आये है। माँ का देहान्त हुए चार दिन हो चुके हैं। इसी बीच स्वतन्त्र बंगला देश का निर्माण हो गया है। छाको फिर सामने खड़ा है। वह पूछता है "बाबू क्या हम यहाँ नही रह सकते ?" खाजे बाबू कहते है, "नही छाको, तुम यहाँ के नागरिक नहीं हो। कानूनी तौर पर तुम यहाँ नहीं रह सकते।" छाको कहता है, "चाहे जेल दे दे या फाँसी। हम तो अपने घर को छोडकर नही जाएँगे।" यह कहते हुए वह तेजी से कमरे से निकल जाता है।

'छाको की वापसी' आंचलिक उपन्यास है, जिसमें बिहारी मुसलमानों के आंचलिक जीवन का मार्मिक चित्रांकन हुआ है। सैयद खानदान के पारिवारिक जीवन के अतिरिक्त पास-पड़ोस के लोगों की प्रासंगिक कथाएँ रोचक और यथार्थवादी ढंग से चित्रित हैं। छाको के परिवार की गिरती हालत, डल्लन सिंह नामक नव दीक्षित मुसलमान की कथा, वली अहमद उर्फ गाँधी भाई की दुःखान्त कथा के अतिरिक्त मुहर्रम आदि पर हिन्दुओ के सम्मिलित होने तथा धीरे-धीरे वैमनस्य के पनपने की कथा रोचक और तटस्थ ढंग से प्रस्तुत है।

उपन्यास का मुख्य पात्र छाजे बाबू आत्मकथात्मक शैली में आस-पास के वातावरण का यथातथ्य वर्णन करता है। भाई हबीब मुस्लिम लीगी विचारधारा का प्रतिनिधि है। वली अहमद उर्फ 'गाँधी भाई' का चरित्र राष्ट्रवादी मुसलमानो की दृढता के साथ ही उनकी दुर्दशा के चित्र भी प्रस्तुत करता है। महमूद खलीफा और उसके पडोसी मुसलमानो की दिन-प्रतिदिन बिगड़ती हुई दशा का यथार्थ अंकन हुआ है। बडे पंज नद्‌फोफो बाबू का बिगड़ता हुआ ठाटबाट और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये किया गया उनका प्रयास और अन्त मे उनकी असफलता बड़े ही रोचक ढग से वर्णि है। नायक के बाल्य-मित्र छाको का चित्र इसमें बचपन के बाद थोड़ी देर के लिए आता है। उसके वतन छोडने और फिर वापस लोटने की छटपटाहट और व्याकुलत का अत्यन्त मार्मिक चित्राकन हुआ है।

इस उपन्यास मे भारत विभाजन से लेकर बंगला देश के निर्माण तक के युग का चित्रण है। विभाजन पूर्व का हिन्दू-मुस्लिम सद्‌भाव और धीरे-धीरे बढता हुअ अलगाव तथा विरोध नायक के बचपन की पूर्वपीठिका के रूप मे वर्णित है। मुस्लिम लीग के बढ़ते हुए प्रभाव तथा मुसलमानों का पाकिस्तान को पलायन, यथार्थ रूप मे चित्रित हुए हैं। बदीउज्जमा का यह उपन्यास हिन्दू-मुस्लिम अन्तराल के साथ नयी राजनीतिक स्थितियों के दबाव से उभरे मुस्लिम-मुस्लिम अन्तर्विरोध, बिहारे और बंगाली मुसलमानों के पारस्परिक विभेद आदि समस्याओं पर नये सिरे से पुर्नविचार हेतु प्रेरित करता है। मगर राजनीतिक उद्देश्यों के कारण नहीं, सामाजिक परिप्रेक्ष्यो के कोमल अन्दाज मे प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से इस कृति का महत्व है। अपनी धरती से टूटे हुए लोगों के सास्कृतिक उखड़ेपन और आत्मपरायेपन को इ उपन्यास मे सशक्त ढंग से अभिव्यक्त किया गया है।

ख्वाजा अहमद अब्बास :

कांच की दीवारें[1] :

'कांच की दीवारें' में ख्वाजा अहमद अब्बास ने तीन कथाएँ दी हैं जो एक दूसरी से भिन्न होती हुई भी अपने स्वर, प्रतिपाद्य और प्रभाव मे एक-सी हैं। पहली 'काच की दीवार' मे लेखक ने विभाजन के प्रभाव एवं परिणाम को मार्मिक अभि-व्यक्ति दी है। मिस महमूदा अकबर अली अलीगढ़ विश्वविद्यालय की छात्रा एवं असिस्टेन्ट लायब्रेरियन है। सलीम भी अलीगढ निवासी है किन्तु नौकरी की विवशताओ के कारण उसे पाकिस्तान का वासी बनने को मजबूर होना पड़ा है और उन दोनों के सम्बन्धो के बीच देश की विभाजक रेखा की कांच की दीवार आ गई है। महमूदा प्रयत्न करके अपनी माँ-बहिनों को पाकिस्तान जाने के लिये तैयार भी कर

1. काच की दीवारें—ख्वाजा अहमद अब्बास : पंजाबी पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 1976

लेती है, किन्तु सभी भारतीय मुसलमानों की रक्षा मे महात्मा गांधी के बलिदान के कारण उसे पाकिस्तान जाने का अपना निश्चय महात्मा गाँधी के साथ गद्दारी जैसे लगता है और वह अपना निश्चय त्याग देती है। 15 वर्ष तक महमूदा की प्रतीक्षा करने के बाद सलीम उसे मिलने के लिये लन्दन के एयरपोर्ट पर बुलाता है, जहाँ से वह अपने मेडिकल चेकअप के लिये अमरीका जाने वाला है। लन्दन मे सलीम से मिलने पर महमूदा को सलीम की घातक बीमारी के विषय मे पता चलता है। लन्दन से सलीम के अमरीका जाते समय जहाँ उसे इस आखिरी मुलाकात का दुःख है, वही अपने अन्दर अंकुरित हो गये उसके अंश का सुख और गर्व भी है।

श्री अब्बास साम्यवादी प्रतिबद्धता के लेखक हैं। प्रस्तुत कृति में वे प्रतिबद्धता से नितान्त अछूते रहकर केवल साम्यवाद के मूल सिद्धान्त मानव-मानव की मौलिक एकता का प्रश्न उठा रहे है। मनुष्य की प्रकृति मे एक अजीब दोहरापन है। एक ओर वह स्वतन्त्रता—स्वच्छन्दता चाहता है, तो दूसरी ओर दूसरो के लिये जाति, देश, धर्म, राजनीति, वर्ण, वर्ग आदि की अनेक दीवारे खड़ी करता जाता है। उन दीवारो के आर-पार बेवश मनुष्य तड़पते रहते है। ये दीवारें अभेद्य नही, मात्र काच की है—पारदर्शी—जिन्हे तोड़ने के लिए केवल साहस, दृढ निश्चय और हाथ मे टूटा काच चुभने के दर्द को सहने की शक्ति होनी चाहिये। ये दीवारें अटूट नहीं हैं—फिर भी सदियो से भूमण्डल मे ऐसी अनेक दीवारे खड़ी की जाती रही है, जिनको तोड़ना सम्भव नही हुआ। कही कोई एक दीवार टूटती भी है, तो अनेकों नई बन जाती है।

रामानन्द सागर :

'और इन्सान मर गया ...' :

रामानन्द सागर का उपन्यास 'और इन्सान मर गया' भी उन्ही उपन्यासों की श्रेणी में रखा जा सकता है, जो पूर्णतः विभाजन के घटनाक्रम पर आधारित हैं। विभाजन का तात्कालिक घटनाचक्र ही उपन्यास का विषय है। विभाजन के शिकार निरीह लोगो की पीड़ा और वेदना के सहारे कथानक आगे बढता है। आजादी के समय की भयावह परिस्थितियों के बीच उपन्यास का प्रारम्भ होता है। वर्षों की गुलामी के बाद स्वतन्त्र हो रहे भारत ने बहुत-सी कुर्बानियाँ दी हैं, जिनमे सबसे बहुमूल्य वस्तु है—इन्सानियत।[1] इतिहास बहुत तेजी से लिखा जा रहा है; विभाजन की घोषणा के साथ हिन्दू और मुसलमान फसादी दंगे की आग तेज करते जा रहे है। दोनो सम्प्रदायों की यह कोशिश है कि बंटवारे का एलान होने से पहले अपने-अपने

1. और इन्सान मर गया—रामानन्द सागर, स्टार पब्लिकेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1977 पृ० 5

क्षेत्र में से दूसरी जाति को नष्ट कर दें। 'बड़े-बड़े शहर, गाँव, खेत सब जल रहे थे। उनके साथ जल रहे थे शरीफ इन्सान "उनकी औरतें, उनके बच्चे उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनका प्यार, सदियों की रिश्तेदारियाँ और दोस्ती, यहाँ तक कि उनके अन्दर की इन्सानियत, घृणा, नफरत और डर भी इस विराट आग में, जैसे सब कुछ एक साथ जल कर स्वाहा हो रहा था।'[1] लाहौर शहर के विषय में दोनों जातियों का विश्वास है कि यह शहर उनके हिस्से में आयेगा। इसलिये दोनों जाति के लोग उसे छोड़ना नहीं चाहते, दोनों इस प्रयास में हैं कि दूसरा भाग जाये। हिन्दू और मुसलमान साहूकार अपनी-अपनी जाति के मासूम युवको को जातीयता के नारों के जोश मे भड़का कर दंगे की आग में शहीद करवा रहे हैं, ताकि उनकी जमीन-जायदाद सही-सलामत रहे, और दूसरो के मकान तथा जायदाद नष्ट हो। लाहौर के सबसे बड़े सेठ किशोरीलाल भी इनमें एक हैं, जो आजकल अपने मोहल्ले के युवको से बड़े प्यार और दोस्ती का प्रदर्शन कर रहे हैं, क्योंकि वही लोग उनके मोहल्ले को, जिनमें आधे से ज्यादा मकान सेठ जी के हैं, मुसलमानो के हमले से बचाने के लिये जान की बाजी लगाये हुए हैं। इन युवकों में मुफलिस कवि आनन्द भी है, जो सेठ जी की पुत्री उषा से प्रेम करता है। सेठजी उस अवसरवादी, धनलोलुप साहूकार वर्ग के प्रतिनिधि हैं, जो अपने स्वार्थ और सम्पत्ति की रक्षा के लिये कुछ भी कर सकते हैं। इसी कारण जिस आनन्द की वे एक दिन हत्या कराना चाहते थे, आज उसको बड़े प्यार से रोज अपने घर में खाना खिलाने लगे हैं।[2] ये उस कौम के लोग हैं, जो उस समय तक नौजवानों को अच्छे-अच्छे खाने खिलाते हैं, जब तक उनकी जायदाद को खतरा नजर आता है, जो हिन्दू पुलिस की पिकेट बैठाने के लिए हजारो रुपये खर्च कर सकते हैं, लेकिन जिनकी आँखों के सामने आग बुझाने की कोशिश मे शहीद होने वाले अजीत की पत्नी नौकरानी का जीवन बिताने को विवश है।[3] अपने नोट बचाने के चिन्ता में वे पत्नी और पुत्री की भी चिन्ता नहीं करते।[4] वह समझते हैं कि 'दुनिया का सारा प्रपंच आखिर रुपये ही से तो है। जेब ठोस हो तो पत्नियो की क्या कमी है।'[5]

सन्देह, अविश्वास और हिंसा के इस माहौल मे अभी भी कुछ लोग इन्सानियत को बचाये रखने के लिये प्रयत्नशील हैं। उन्हें इस बात का अफसोस नही कि इन्सान

---

1. और इन्सान मर गया, पृ० 6.
2. वही, पृ० 7.
3. वही, पृ० 9.
4. वही, पृ० 47-48
5. वही पृ० 48

मर रहा है, अफसोस है तो इस बात का कि इन्सानियत मर रही है।[1] आनन्द, मौलाना, किशनचन्द जैसे अनेक पात्र इस उपन्यास में मरती हुई इन्सानियत को जीवित रखने को यत्नशील दीखते हैं। अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख की चिंता न कर वे विभाजन की मार से पीड़ित मनुष्यों का दुःख बंटाने मे लगे रहते हैं।

नष्ट होती मानवता के प्रति करुणा का स्वर :

उपन्यास का मूल स्वर नष्ट होती मानवता के प्रति वेदना का है। लेखक को चिंता हिन्दुओं और मुसलमानों के मरने की नहीं, उनके जीवन से नष्ट होती उदात्त भावनाओं—मनुष्यता, संस्कृति और सदाचार की है।[2] लाहौर की सबसे खूबसूरत सड़क मालरोड पर छाये मौत के सन्नाटे को देखकर उसे इस सत्य का आभास होता है कि 'मालरोड भी मनुष्य की तरह हमेशा से ऐसी न थी। आदि काल मे केवल जंगल की एक पथरीली राह थी और इन्सान एक पत्थर दिल वहशी। इसके जीवन मे भी रौनक और प्रकाश उसी दिन आया जब सभ्यता ने मनुष्य को अपनी सबसे बड़ी देन 'प्रेम' के रूप मे प्रदान की।'[3] जंगल की उस घुमावदार पगडण्डी को एक सभ्य शहर की आम सड़क बनाने के लिये इन्सान ने हजारों साल भरसक कोशिश की। और आज हजारों वर्षों के प्रयास के बाद कुछ ही दिनों में सब कुछ बदल गया था—इन्सान फिर वहशी हो गया था। तब क्या इन्सान हजारों वर्ष केवल रेत के महल तैयार करने मे लगा रहा ? क्या आज से हजारो वर्ष बाद भी गाँधी जैसे इन्सान को इसी तरह बिहार और नोआखाली के कांटे भरे जगलो और दरियाओ मे नंगे पांव घूम-घूम कर वहशियो को समझाना पड़ेगा ?[4] लेकिन इस निराशा मे भी आशा का रंग है। लेखक को विश्वास है कि छुरे का खूनी रंग एक अस्थायी वस्तु है, पुण्य और शान्ति ही अनादि और अनन्त है।[5] किन्तु उस प्रलयंकर नरमेध मे, जहाँ मनुष्य के पास बची रह गयी है केवल श्मशान की-सी-वीरानगी, नश्वरता, श्रीहीनता और अशक्त सी कराहना, आशा का यह स्वर स्थायी नहीं रह पाता। इस भयानक हत्याकाण्ड को देख वह अपने देशवासियो के भविष्य के विषय में सोचकर काँप उठता है 'जब एक निर्दोष के कत्ल पर उसे मारने वाले की कई पीढ़ियाँ उसकी

1. "लोगो को यह फिकर है कि हिन्दू मर रहा है, मुसलमान मर रहा है, और मुझे ये गम है कि हिन्दुस्तान मर रहा है, मानवता मर रही है और वह सभ्य भावनाएँ मर रही हैं जो सहस्रो वर्षों के विकास के बाद मनुष्य ने पैदा की थी।"—सुहैल अजीमाबादी का कथन : और इन्सान मर गया, पृ० 11.
2. वही, पृ० 11.
3. वही, पृ० 19.
4. वही, पृ० 20.
5. वही, पृ० 27.

सजा से बरी नहीं हो सकती तो यहाँ जहाँ हजारों नहीं, लाखों मासूमों का खून बहाया गया है, इसकी सजा कितनी भयंकर होगी।[1] उसे भय है कि खुदाई कहर तीनों मजहबों को सिरे से ही न मिटा डाले और फिर यह जातियाँ भी बाबल और नेनवा की सभ्यताओं की तरह सिर्फ पुरातत्व विभाग के कागजों पर ही रह जाएं...[2] मानवता पर से, उसकी स्वतन्त्रता पर से उसका विश्वास उठने लगता है "आजादी कहाँ है, आजादी का सच्चा अधिकारी इन्सान कहाँ है? इन्सान को आजादी दो तो वह उसे दूसरों को अपना दास बनाने के लिए उपयोग में लेता है। अहिंसा दिखाओ तो वह कायर और बुजदिल हो जाता है। उसे बहादुरी सिखाओ तो वह जालिम बन जाता है और अगर उसे ईसामसीह दो तो वह उसे क्रास पर टाँगने के बाद उसी अहिंसा के पैगम्बर के नाम पर क्रूसेड की खूनी लड़ाइयों में मसरूफ हो जाता है—इन लाखों-करोड़ों अर्ध मानवों को बर्बरता और भूख से आजादी दिलाने वाला इन्सान कहाँ है—?[3] यह इन्सान जो इस धरती के नन्हें-नन्हे टुकड़ों के लिये हड्डी पर लड़ने वाले कुत्तों की तरह लड़ रहा है, न जाने किस कानून के अधिकार पर चाँद और सितारों तक राकेट पहुँचाने की कोशिश कर रहा है।[4] न जाने वह समय कब आयेगा, जब इन्सान और इन्सान के बीच से भेदभाव की दीवारें तोड़ दी जायेंगी, जब एक देश और दूसरे देश के इन्सान के बीच हथियार बन्द सिपाही न रहेंगे।[5] शरणार्थियों की कतार अपनी जान बचाने के लिए उस भूमि से भाग रही हैं, 'जिस पर विदेशियों को पैर तक रखने से रोकने की खातिर उनके पूर्वजों ने अपना लहू बहाया था। जिन पूर्वजों ने बड़े-बड़े खतरनाक पहाड़ों की प्राकृतिक सीमाओं को भी न मानकर काबुल, कंधार बल्कि मध्य एशिया तक एक ही देश बना दिया था, उन्हीं के रक्त से रंगी हुई भूमि पर आज दो भाइयों ने नकली सरहदें, कृत्रिम सीमाएँ खड़ी कर दी हैं। जो दूसरों की तलवारों से भी न दबे, उनकी औलाद आज भाइयों की राजनीति का मुकाबला न कर सकी—और आज कुछ गिनती के नेताओं ने इतने लाख इन्सानों को भेड़ों के रेवड़ की भाँति इधर से उधर हाँकना शुरू कर दिया है।[6] इस नरमेध में न हिन्दू का कुछ बिगड़ा है, न मुसलमान का, अगर नुकसान हुआ तो केवल इन्सान का और लुट गई तो केवल मानवता।[7] इस भयानक हिंसा के बावजूद इन्सान ने अभी हथियार नहीं डाले, निराशा और

1. और इन्सान मर गया, पृ० 144.
2. वही, पृ० 144.
3. वही, पृ० 149-150.
4. वही, पृ० 152.
5. वही, पृ० 152.
6. वही, पृ० 171.
7. वही, पृ० 195

आशा की मिली-जुली सीमा पर खड़ा वह अपनी शक्ति के अन्तिम कणों को भी इकट्ठा कर मुकाबले में जूझता दिखाई दे रहा है।[1] किन्तु अंत में वह पराजित और विक्षिप्त दीखता है। मौलाना जब आज के इन्सान के हाथों में आने वाले कल के इन्सान को सौंपते हैं, उसे लगता है "आज के इन्सान के साथ जो तुमने किया, क्या वह काफी नहीं था ? तुम इतने जालिम क्यों हो गये हो मौलाना। आज की नस्ल का खून करने के बाद इस आने वाली नस्ल पर भी क्यों जुल्म तोड़ रहे हो—तुमने इसे मार क्यों न डाला ?"[2] जीवन के भयावह यथार्थ से बचने की खातिर वह इस आने वाली नस्ल को अपने हाथों दरिया में डुबो देता है। मौलाना इतना ही कह पाते हैं "अफसोस, आखिर इन्सान खुदकशी कर रहा है।"[3] हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के जिन्दाबाद के खोखले नारों के ऊपर कोई आसुरी अट्टहास मानो पुकार उठता है—इन्सान मुर्दाबाद।[4] "नारो से गूँजती हुई इस फिजा मे कौन जिन्दा रहा—कौन मर गया, किसी को यह पता भी न चला और ...... इन्सान मर गया......"[5]

इस प्रकार विभाजन के क्रूर और हिंसक परिवेश मे नष्ट होती मानवता के प्रति करुणा का स्वर ही इस उपन्यास में मुखर हुआ है।

रघुवीर शरण मित्र :

'बलिदान' :

'बलिदान' (1955) विभाजन की पृष्ठभूमि मे देश की स्वतन्त्रता हेतु सन्नद्ध वीर युवको की गाथा है। कथानक 1946 ई० के दंगों से प्रारम्भ होकर विभाजन के काल तक चलता है। शेखर, दमन, नलिन, रागिनी, अरुणा, पूर्णिमा जैसे क्रान्तिकारी पात्रों के स्वतन्त्रता तथा साम्प्रदायिक सद्भाव हेतु किये जाने वाले प्रयत्नों के सहारे कथा आगे बढ़ती है। लेखक ने अंग्रेजों की कूटनीति तथा मुस्लिम-लीग की पृथक्तावादी नीतियों को विभाजन के लिये जिम्मेदार माना है। उसके मत से '... सिर्फ कांग्रेस ईमानदारी से स्वतन्त्रता के लिये लड़ रही है। मुस्लिम-लीग उसके रास्ते मे जबरदस्त रोड़ा है, जिसके साथ अंग्रेजों की नीति काम कर रही है। लीगी नेता मिस्टर जिन्ना पाकिस्तान का राग अलाप रहे है, भारत के अंग-भंग करना

1. और इन्सान मर गया, पृ० 195-196.
2. वही, पृ० 198.
3. वही, पृ० 199.
4. वही, पृ० 200.
5. वही, पृ० 200.

चाहते हैं। पाकिस्तान के नाम पर बेगुनाहों का खून बह रहा है।"[1] 16 अगस्त 1946 के दिन लीग की 'सीधी कार्यवाही' के नतृत्व होने वाले हत्याकाण्ड का विस्तृत चित्र प्रस्तुत किया गया है। साम्प्रदायिक घृणा और हिंसा के साथ-साथ साम्प्रदायिक सद्भाव का चित्रण है। उस समय की ऐतिहासिक घटनाओं कांग्रेस और मुस्लिम-लीग के विरोध, ब्रिटिश शासन के निर्मम अत्याचार, साम्प्रदायिक दंगों आदि के विवरणात्मक चित्र विस्तारपूर्वक अंकित किये गए हैं। कथा के अन्त में क्रान्ति की योजना में असफल क्रान्तिकारी पात्रों—नलिन, रागिनी और शेखर का कथाकार ने एक महामुनि के आश्रम में शान्ति पाते दिखाया है। विभाजन के समय की जघन्य अमानवीयता को वह कलियुग के अत्याचारों की पराकाष्ठा मानता है। "मजहब के पागलों ने भारत माता के टुकड़े कर डाले, कहीं से हाथ काट दिये कहीं से पैर। नेताओं को छाती पर पत्थर रखकर अखण्ड भारत के खण्ड-खण्ड देखने पड़े।...... बस, अब वसुन्धरा करवट लेने ही वाली है।"[2] भारत की स्वाधीनता के चित्र तथा नये युग के आगमन की आशावादी कल्पनाओं के साथ उपन्यास का अन्त हुआ है।

यज्ञदत्त शर्मा :

इन्सान :

यज्ञदत्त शर्मा का उपन्यास 'इन्सान' (1951) का कथानक राष्ट्र-विभाजन तथा उसके परिणामस्वरूप होने वाले भयंकर उत्पात और नरमेध की पृष्ठभूमि पर आधारित है। वर्तमान की समस्याओं का चित्रण करते हुए लेखक ने इस दुःखक घटना में भी उज्ज्वल भविष्य के दर्शन कर मानवता का संदेश देने का प्रयास किया है।

सन् 1947 ई० के साम्प्रदायिक दंगों में हुए अमानवीय कृत्यों के सजीव चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत हैं। साथ ही देश की विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के कार्य-प्रणाली की प्रसंगानुकूल समीक्षा भी की गयी है। उपन्यास का कलात्मक पक्ष शिथिल है तथा भारतीय राजनीति के स्वरूप का चित्रण ही प्रमुख हो गया है। उपन्यास का आरम्भ हिन्दू-मुस्लिम दंगे के वातावरण से किया गया है और उपन्यास में उसका आवेश और उद्वेग सर्वत्र छाया हुआ है। वस्तुतः पाशविक अत्याचारों को कला का रूप देने की कठिन प्रक्रिया में यज्ञदत्त शर्मा सफल नहीं हो पाये हैं। 'इन्सान' में सन्तुलन और तर्क दोनों का निर्वाह भली-भांति नहीं हो सका है। क्रोधावेश में किये गये निर्लज्ज नृशंसता के ताण्डव की आलोचना इसी कारण प्रभावोत्पादक नहीं बन सकी है। राजनीतिक दलों से परे मानव की स्वतन्त्र सत्ता को लेखक नहीं देख पाया।

---

1. 'बलिदान' : रघुवीर शरण 'मित्र', भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, पंचम संस्करण, 1972, पृ० 20?
2. वही, पृ० 284

फिर भी देश के निर्माण एवं पारस्परिक सहयोग तथा स्नेह के साथ राष्ट्रोत्थान और मानवता के प्रतिष्ठापन का जो सन्देश इस उपन्यास मे ध्वनित है, उसे सराहनीय ही कहा जायेगा।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री :

'ढहती हुई दीवार' :

आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत "ढहती हुई दीवार" एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें देश-विभाजन को प्रधान घटना के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने विभाजन के लिये अंग्रेजो की कूटनीति तथा जिन्ना के मूर्खतापूर्ण हठ को उत्तरदायी माना है। उसके मतानुसार अंग्रेज देश को खण्डित तो कर ही गये; जाते-जाते पं० नेहरू के साथ विश्वासघात करके कश्मीर के प्रश्न के रूप मे कभी न सुलझने वाली उलझन पैदा कर गये। इन अपकृत्यो के लिये उन्होने जिन्ना को नायक बनाया। जिन्ना ने मूर्खतापूर्ण ढंग से अपना हठ पूरा किया। साम्प्रदायिक दंगों मे लाखों लोग हताहत हुए, लाखों विस्थापित हुए। इस कथानक का सौन्दर्य दृष्टिगत नही होता। चौबीस से तीस और इकहत्तर से चौरासी पृष्ठो तक ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपन्यास नहीं, प्रत्युत इतिहास है। किन्तु केशव, उसकी माँ, हमीदन, हमीद, रतन और रीता आदि से सम्बन्धित कथानक काल्पनिक है और इसी कथानक के कारण इसे औपन्यासिक रूप प्राप्त हुआ है। ऐतिहासिक प्रसंगों मे कल्पना का रंग नही है और काल्पनिक प्रसगो मे ऐतिहासिक नीरसता नही है। उपन्यास की रचना का मुख्य उद्देश्य ऐतिहासिक ज्ञान और देशभक्ति की शिक्षा देना है।

मन्मथनाथ गुप्त के उपन्यास .

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी-समाजवादी लेखक श्री मन्मथनाथ गुप्त के उपन्यास उस कोटि के हैं जिनमे विभाजन के कारणो तथा घटनाक्रम का चित्रण किया गया है। श्री गुप्त हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासकारो की उस शृंखला से सम्बद्ध है, जिनका सक्रिय राजनीतिक से निकट सम्बन्ध रहा है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की पृष्ठभूमि पर रचित उनके उपन्यास हिन्दी राजनीतिक उपन्यास साहित्य मे इस दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस विराट् उपन्यासमाला के अन्तर्गत सन् 1921 से लेकर 1947 तक के भारत का चित्रण किया गया है। अपने 'जययात्रा' शीर्षक उपन्यास में उन्होंने कानपुर मे हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगे को उपन्यास का मुख्य कथानक बनाया है। इस दंगे की पृष्ठभूमि मे प्रोफेसर मजूमदार, उनकी पत्नी सुरमा तथा एक मुसलमान युवक जुल्फिकार के मनोवैज्ञानिक संघर्ष का चित्रांकन हुआ है। दंगे से प्रभावित हिन्दू-स्त्री की दयनीय दशा के चित्रण द्वारा लेखक ने हिन्दू-धर्म की उन कुरीतियो तथा रूढ़ियो पर आघात किया है जिनके कारण हिन्दू समाज के द्वार स्त्री के लिये बन्द हो जाते हैं और वह चाहकर भी वापस नही लौट पाती। इस

उपन्यास मे लेखक सामाजिक क्रान्ति की आवाज बुलन्द करता है। हिंसा और क्रूरता का सहारा लेकर जब कोई धर्म जययात्रा के लिये निकलता है, तब देवता उस पर हँसते है, मानवता के सम्मुख यह धर्म लांछित होता है। लेखक ने साम्प्रदायिक संस्थाओं की पोल खोलने के साथ-साथ दंगो के तथा धर्मपरिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है।

'रैन अंधेरी' शीर्षक उपन्यास में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के कारणो का विश्लेषण किया है। सन् 1921 के खिलाफत आन्दोलन में हिन्दू-मुस्लिम कन्धे-से कन्धा मिलाकर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध खड़े हुए थे। इस मध्यान्तर मे दोनो सम्प्रदायों मे फूट डालने के ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सारे प्रयत्न निष्फल रहे। किन्तु असहयोग आन्दोलन के स्थगन के बाद आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने वाले अनेक व्यक्ति निराश और किंकर्तव्यविमूढ से हो गये। इस समय ब्रिटिश अधिकारियो द्वारा हिन्दू-मुसलमानो में धार्मिक एवं स्वार्थगत आधार पर फूट डालने की साजिश भी सफल होने लगी। प्रस्तुत उपन्यास का आरम्भ कुछ ऐसे ही राजनीतिक वातावरण मे हुआ है। खान बहादुर, इबादत हुसैन, खान साहिब मंजर अली, स्मिथ आदि के द्वारा साम्प्रदायिकता का उभारने के प्रयासों का उद्घाटन हुआ है।

इसी क्रम मे 'प्रतिक्रिया' शीर्षक उपन्यास में मुसलमानो की पाकिस्तान निर्माण सम्बन्धी प्रबल साम्प्रदायिक भावनाओं का चित्रण है। 'अछूत समस्या' शीर्षक उपन्यास में सन् 1935 के ऐक्ट के अनुसार देश मे निर्वाचन की तैयारियों तथा चुनाव की पृष्ठभूमि में आनन्दकुमार के माध्यम से लीग एवं कांग्रेस की विचारधाराओं को अभिव्यक्ति दी गई है। किन्तु पात्रो तथा उनकी समस्याओं की विभिन्नता के कारण कथानक में एकसूत्रता का अभाव है। कथानक तथा पात्रो का चारित्रिक विकास बिखरा हुआ है।

'प्रतिक्रिया' से आगे की कथा 'सागर-संगम' में वर्णित है। उपन्यास का मूल प्रतिपाद्य 1939 तक के भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन की अनेक घटनाओं का विशद चित्रण है, जिन्हें सामयिक अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और परिस्थितियों के परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। सन् 1937 से लेकर 1939 तक की संक्रान्ति बेला में भारतीय राष्ट्रीय संग्राम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक मोहरा बन गया था। 1921 में कांग्रेस का साथ देने वाले अलीबन्धु सन् 1939 तक भारत विभाजन की नीति पर दृढ हो गये थे। इसके मूल कारणों पर विचार करते हुए लेखक ने समस्या को राष्ट्रीय भूमिका से आगे बढ़ अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका पर नये दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है। उनके मत से हमारा यह राष्ट्रीय आन्दोलन जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी धारा से प्रभावित हो आगे आया था, वहीं अनेक राष्ट्रीय न्यूनताओं से वह देश-विभाजन का सूत्रधार भी बना। उपन्यास की भूमिका में

उन्होंने इस ओर संकेत किया है "मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि जहाँ हिन्दुओं की यह गलती थी कि राष्ट्रीयता पर हिन्दू रंग जरूरत से ज्यादा चढ़ गया, वहीं भारतीय मुसलमानों में भी कुछ कमी थी। अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में जब मैंने इस प्रश्न को और विस्तार के साथ देखा तो ज्ञात हुआ कि समाजवादी रूस में भी यहूदियों और मुसलमानों को समाजवादी विचारधारा में लाने में अपेक्षाकृत अधिक दिक्कतों का सामना करना पड़ा।" साम्प्रदायिकता के विष ने क्रांतिवादी राष्ट्रीय चेतना का अत्यधिक अहित किया, ऐसा लेखक का मन्तव्य है। इस उपन्यास में राजनैतिक दृष्टिकोण ही प्रमुख है। काल्पनिक पात्रों और प्रेम-प्रसंगों के बीच कहीं-कहीं तो ठेठ आन्दोलन की कहानी ही दुहरा दी गयी है, जो पाठकों को इसे उपन्यास से कुछ भिन्न समझने के लिये विवश कर देती है और समग्रतः पाठक के औत्सुक्य को आघात पहुँचाती है।

'गृहयुद्ध' शीर्षक उपन्यास में एक बार फिर हिन्दू-मुस्लिम झगड़े को केन्द्र बनाकर यह दिखलाने की चेष्टा की गयी है कि धर्म एक प्रतिक्रियावादी शक्ति है और धार्मिक बन्धनों से छुटकारा पाये बिना केवल ऊपर से समन्वयवादी बातें करने से साम्प्रदायिकता का अन्त असम्भव है। 'तूफान के बादल' शीर्षक उपन्यास में लेखक ने उन कलुषित राजनीतिक स्थितियों पर व्यंग्यप्रहार किया है, जो भारत विभाजन में कार्यरत थीं। 'चक्की' नामक उपन्यास में लेखक ने यह दिखलाया है कि साम्प्रदायिकता के पीछे साम्राज्यवादी के खूनी पंजे किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर क्रियाशील थे। लेखक संगठित साम्प्रदायिक पागलपन के विरुद्ध अहिंसा को बेकार समझता है। इस उपन्यास का भी मूल प्रतिपाद्य यह है कि धर्म अनेक जघन्य कृत्यों की जड़ है, जो मानव को दानव बना देता है, इस कारण धर्म से छुटकारा पाकर ही मानवता का कल्याण संभव है। 'दो दुनिया' उपन्यास में लेखक ने यह दिखलाया है कि पाकिस्तान के सब्जबाग से भारत या पाकिस्तान, किसी देश का भला नहीं हुआ। असली दुनिया तो गरीबों और अमीरों की है, जो पहले की तरह कायम है। अफसर वर्ग की लूट और बेईमानी का भी इसमें पर्दाफाश है।

ओंकार राही :

शवयात्रा :

'शवयात्रा' (1972) सन् 1946-47 की पृष्ठभूमि पर आधारित है। आवरण पृष्ठ पर 'शवयात्रा' को समकालीन राजनीति का ऐतिहासिक उपन्यास कहा गया है। आवरण पृष्ठ के अनुसार 'उन्माद स्वतन्त्रता संग्राम का ऐसा गवाह है जिसने सेनानियों के बीच रहकर लड़ाई लड़ी है और अब वह एक अन्धी गली के सिरे पर आकर थक गया है। मिना उसके अतीत को कुरेदती है। उसे अपनी थीसीस लिखानी

है और बार-बार वह उसे उन राजनैतिक स्थितियों में लौटा देती है। वह मुह से मशीन की तरह बड़ी-बड़ी राजनैतिक घटनाओं के बारे में बोलता रहता है, उनके एक-एक रेशे का उधेड़ना जाता है—लेकिन देश का इतिहास उसके अपने अतीत का ही एक भाग है और अनचाहे ही अतीत उसके सामने खुलता चला जाता है··· देश-विभाजन के कारण राजनीतिज्ञ और राजनीति के विश्लेषणों के द्वारा और उनके पीछे अनदेखे चलने वाला भावनाओं के उभार-चढ़ाव का यह नाटक उन्माद को अनेक स्तरों पर मोह भंग के किनारे पर ला छोड़ता है एक दूसरे अन्धे सिरे पर और वहां से उन्माद को अपनी नयी यात्रा का प्रारम्भ करना है।'

आवरण पृष्ठ के इस वक्तव्य के साथ लेखक का स्पष्टीकरण है ''अंग्रेज इतिहासकारों, जीवनी लेखकों तथा समकालीन लेखकों ने भ्रान्तियाँ फैलाई हैं—उन सबका अध्ययन किया है—इतिहास और रोमांस दोनो का सहारा लेकर! —शुद्ध साहित्यिक स्तर पर इतिहास को परखा है मैंने।''

भारत विभाजन और भारत की आजादी को लेकर तत्कालीन राजनीतिज्ञों तथा अंग्रेजो के बीच जो कुछ घटा था उसी का पूरा विवरण उपन्यास में बिखरा पड़ा है। शिवा भारत की आजादी के विषय को लेकर थीसीस लिखा रही है। वह अंग्रेजो के बारे मे गहराई से जानना चाहती है। उन्माद उसे बीस दिन में थीसिस की पूरी सामग्री दे देता है। वह बोलता चलता है—शिवा लिखती चलती है। बीच में प्रश्न और अभिमत भी प्रकट करती है। उन्माद प्रश्नों के उत्तर देता है, अपना अभिमत भी प्रकट करता है। इस क्रम मे उन्माद भारत-विभाजन के मूल कारणों तथा तत्कालीन राजनीति पर प्रकाश डालता है। लेखक द्वारा गहन अध्ययन के बाद विभाजन के सम्बन्ध मे फैली भ्रान्तियो के निराकरण की चेष्टा की गया है किन्तु उसका यह प्रयास घटनाओं का विवरण मात्र बनकर रह गया है। 'शवयात्रा' में घटनाएँ अधिक है, किन्तु ये घटनाएँ जिन पात्रों के माध्यम से घटी है, वे पात्र कथित है—प्रत्यक्ष क्रियाशील नही। 'शवयात्रा' मे स्पष्टतः दो कथाएँ है—एक उन्माद के अतीत की, दूसरी उसके वर्तमान की। उसका अतीत राजनीति से सम्बन्धित है। वर्तमान मे वह उस अतीत को शिवा के सामने दोहराता है। अतीत की कथा मे केवल घटनाएँ हैं और उस पर प्रकट उन्माद का अभिमत है। एक वर्ष की अवधि मे सीमित उपन्यास की ये घटनाएँ देश व्यापी हैं, किन्तु इन देशव्यापी घटनाओं से प्रभावित देश की जनता अपने वास्तविक रूप मे कही नही है। देश की राजनीति कुछ लोगों के हाथों मे रहती है –पर उसको स्वरूप प्रदान करती हैं युगीन परिस्थितियाँ और युग चेतना, जिसका 'शवयात्रा' मे अभाव है। देशकाल अपनी सजीवता के साथ ऐतिहासिक उपन्यासो मे आता है, विशेषकर जहाँ घटनाएँ प्रधान हो, किन्तु 'शवयात्रा' मे ऐसा नहीं हुआ है। इस विषय पर लेखक यदि इतिहास को

पुस्तक लिखता तो वह भ्रान्तियों के साथ-साथ उन पात्रों के साथ भी न्याय कर पाता जिनके साथ उसने महसूस किया कि अन्याय हुआ है।

विभाजन की पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यासो का एक वर्ग ऐसा है जिसमे विभाजनकालीन हिंसक परिवेश की शिकार असहाय नारी की विवशता और करुणा का चित्र अंकित है। परिवेश के दबाव ने जिस तरह उन्हे तोडा, जो नयी तरह की समस्याएँ और उलझनें उनके जीवन मे पैदा की, उन्ही का यथार्थ चित्र ऐसे उपन्यासो मे प्रस्तुत किया गया है।

भगवती चरण वर्मा :

'वह फिर नहीं आई' :

'वह फिर नही आई' (1960) विभाजन के बाद उत्पन्न नारी जीवन की समस्या पर आधारित एक लघु उपन्यास है। इसमे रानी श्यामला के चरित्र के माध्यम से नारी की ऐसी विवशतापूर्ण स्थिति का चित्रण है जिसे अपने पति जीवनराम के संरक्षण के लिये अपने शरीर का व्यापार करना पड़ता है। रावलपिन्डी के सबसे धनी और प्रतिष्ठित व्यक्ति खुशीराम का पुत्र जीवनराम मुल्क के बंटवारे मे तबाह होकर पत्नी सहित मित्र शहबाज के यहाँ शरण लेता है। धोखेबाज शहबाज रानी श्यामला को अपने पास रखकर बीस हजार रुपये की शर्त पर जीवनराम को सुरक्षित वहाँ से भेज देता है। एक सम्बन्धी के यहाँ से रुपये चुराकर जीवनराम पत्नी को छुड़ा लाता है और सम्बन्धी के रुपये अदा करने के लिये एक बार फिर वह ज्ञानचन्द के यहाँ चोरी करता है। बाद में दुःखद परिस्थितियों में उसकी मृत्यु होती है। रानी श्यामला अपने आप को वेचकर पति का कर्ज चुकाती है "ज्ञानचन्द्र जी, जीवन राम ने आपका बीस हजार रुपया लिया था, और उन रुपयो के बदले वह मुझे आपके हाथ मे धरोहर के तौर पर सौंप गया था। इस अटेची केस मे वह बीस हजार रुपया है, इसे संभाल लीजिए।...मैं जीवनराम की थी ज्ञानचन्द जी, मै जीवनराम की हूँ और मैं जीवनराम की हमेशा रहूँगी।" रानी श्यामला फिर लौटकर नही आती।

उपन्यास मे संस्मरण, पृष्ठावलोकन की पद्धति पर पूरी कथा प्रस्तुत की गयी है। विभाजन तथा साम्प्रदायिक दंगो के परिणामस्वरूप उखड़े परिवार तथा नारी जीवन की विडम्बना का चित्र खीचना ही इस उपन्यास का लक्ष्य है।

विष्णु प्रभाकर :

'तट के बन्धन' :

'तट के बन्धन' (1955 ई०) उपन्यास मे विष्णु प्रभाकर ने देश के विभाजन को आधार बनाकर आधुनिक नारी की विविध समस्याओ को उठाया है। कथानक भारत और पाकिस्तान मे फंसी नारियो की शारीरिक और मानसिक यातनाओ को केन्द्र में रखकर चलता है।

श्रीमती ऊषादेवी मित्रा :

'नष्ट नीड़' :

नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं का चित्रण श्रीमती ऊषादेवी मित्रा के उपन्यासों की सामान्य प्रवृत्ति है। प्रस्तुत उपन्यास 'नष्ट नीड़' (1955 ई०) में भी विभाजनकालीन परिवेश से प्रभावित नारी-जीवन की विडम्बना का चित्र अंकित है।

उपन्यास की नायिका सुनन्दा समस्त घटनाओं का केन्द्र-बिन्दु है। विभाजन-जन्य परिस्थितियाँ उसे अपने पति रवीन्द्र से अलग कर देती हैं। सुनन्दा का सहपाठी सुप्रकाश उसे भारत ले जाता है और दोनों मित्रवत् साथ रहने लगते हैं। वहीं सुनन्दा को एला के वर के रूप मे रवीन्द्र के दर्शन होते हैं। जब सुप्रकाश को यह आभास मिलता है कि सुनन्दा अब भी हृदय से अपने पति को ही चाहती है, वह उसे त्याग-कर चला जाता है। रवीन्द्र एला से विवाह करके सन्तुष्ट नहीं है, वह हृदय से अब भी सुनन्दा को ही चाहता है। समाज के भय से वह उसे घर नहीं ला पाता। रवीन्द्र और एला मे विवाद होते हैं, फलतः रवीन्द्र उसे त्याग देता है। सुनन्दा एला को आश्रय देती है। अन्त मे रवीन्द्र का प्रेम समाज एवं धर्म पर विजय प्राप्त करता है। वह सुनन्दा को लेने आता है, किन्तु तबतक सुनन्दा मृत्यु-शैया पर पहुँच चुकी है।

इसप्रकार विभाजन की पृष्ठभूमि में नारी जीवन की त्रासदी का चित्रण ही उपन्यास का मुख्य प्रतिपाद्य है।

ऊषा बाला :

"कुन्ती के बेटे' :

ऊषा बाला का उपन्यास 'कुन्ती के बेटे' विभाजन से प्रारम्भ होकर भारत-पाक युद्ध के बाद की परिस्थितियों में समाप्त होता है। इसमें लेखिका विभाजन की त्रासदी का शिकार एक मुस्लिम स्त्री को केन्द्र में रखकर सहज मानवीय सम्बन्धों की व्याख्या करती चलती हैं। इस सुखान्त कथा के माध्यम से लेखिका ने जीवन की विभीषिकाओं, प्रपंचों और दुर्घटनाओं के बीच मनुष्य को आश्वस्त करने वाले तथा जीवन मे उसकी आस्था जगाने वाले चरित्र प्रस्तुत किये हैं।

मलेर कोटला की जुबेदा पति अख्तर मियाँ तथा पुत्र अनवर के साथ लुधियाने में बड़े आनन्द से दिन बिता रही है, तभी विभाजन का तूफान घिर आता है। पति और पुत्र की अनुपस्थिति में दंगाई उसके बंगले पर हमला करते हैं और बहादुर जुगिन्दर सिंह की सहायता से उसे शैतानों से मुक्ति मिलती है। पाँच वर्षों तक पति की प्रतीक्षा के उपरान्त जुगिन्दर सिंह की सज्जनता से प्रभावित हो वह उससे विवाह कर लेती है। अब वह सतवन्त कौर है किन्तु पति के स्नेह तथा परद्युम्न और बलवन्त जैसे पुत्रों की ममता के बावजूद वह पुराने दिनों को भूल नहीं पाती अजमेर

शरीक जानेवाली आबिदा से उसे अख्तर मियाँ और अनवर के जीवित रहने की सूचना मिलती है। उनकी खोज में वह पाकिस्तान भी जाती है। अन्त में काफी उतार-चढ़ाव के बाद वह अख्तर मियाँ और अनवर से मिलने मे सफल हो जाती है। पाकिस्तान से लौटते समय वह अनवर को कुन्ती की कहानी सुनाकर वादा लेती है कि विपरीत परिस्थितियों मे भी अनवर परदुमन और जसवन्त को अपना सगा भाई समझेगा।"[1] उसे अनुभव होता है कि "मैं इस दौर की खुशनसीब कुन्ती हूँ बेटे। मेरे भी पाँच पाण्डव है। अनवर, परदुमन, जसवन्त, अलताफ और शबीर।"

इस प्रकार विभाजन के परिवेश से प्रभावित नारी की सुखान्त जीवन गाथा इस उपन्यास मे अंकित है।

प्रमोद बंसल :

'अन्धे युग के बुत' :

प्रमोद बसल का उपन्यास "अंधे युग के बुत" विभाजन के पृष्ठभूमि मे एक असहाय नारी की गाथा है। इसे पत्रात्मक शैली मे लिखा गया है। उपन्यास की नायिका लहर अपनी सखी संधिका को पत्र लिखती हुई अपनी जीवन गाथा का वर्णन करती है।

नायिका पश्चिमी पंजाब के किसी नगर की है। उसने अपने प्रारम्भिक पत्रो में पाकिस्तान बनते समय हिन्दू-मुस्लिम दंगों की क्रूरता और भयावहता का चित्र खींचा है। नायिका विस्थापित होकर हिन्दुस्तान पहुँचते-पहुँचते अपने पिता को खो देती है। अगले पत्रों में हिन्दुस्तान के शरणार्थी शिविरो की चर्चा करते हुए उसने अच्छे और बुरे सभी प्रकार के स्वयंसेवकों और कार्यकर्ताओं का वर्णन किया है। इन्ही शिविरों में से एक मे उसे अपनी रुग्णा माता से अलग कर दिया जाता है, शिविर में आग लगाकर अन्य नवयुवतियो के साथ लहर का भी अपहरण कर लिया जाता है। वह गर्भवती भी हो जाती है। अपने गर्भस्थ शिशु के लिये मोह होने पर भी वह उसे जन्म देते ही जंगल मे छोड़कर आगे चल देती है। लहर जहाँ भी जाती है उसे निराशा ही हाथ लगती है। उसका अन्तिम पत्र टी० बी० सैनिटोरियम से लिखा गया है, जिसमे वह लिखती है कि यदि वह जीवित रही तो शेष फिर लिखेगी।

उपन्यास का कथानक न तो ठीक से उभर पाया है, न कही उसका तारतम्य बैठ पाया है। पीड़ित नायिका के प्रति पाठकों की संवेदना भी लखक जागृत नहीं कर सका। इसकी कथा में औपन्यासिकता का अभाव है, कथा अवास्तविक सी प्रतीत

1. "वादा करो अनवर, कि मेरा मुकद्दर उस कुन्ती से बेहतर है। अगर कभी वतन का भी तकाजा तुम्हारे ऊपर दबाव डाले फिर भी तुम मेरे बेटों को अपना सगा भाई मानोगे।"—कुन्ती के बेटे : ऊषाबाला, पृ० 176

होती है। पाठक अन्त तक सोच भी नहीं पाता कि इस कथा के पीछे लेखक का वास्तविक उद्देश्य क्या है। जिस परिवेश को लेखक ने अपने उपन्यास के लिये चुना उस पर अनेक व्यक्तियों ने अनेक सफल और तथ्यपूर्ण उपन्यास लिखे हैं। इतने बड़े महत्व के विषय को यों ही अतिशय पात्रों के माध्यम से फैला डाला गया है।

कर्त्तार सिंह दुग्गल :

'मन परदेसी' :

'मन परदेसी' शीर्षक उपन्यास विभाजन के कारण बदलते नारी जीवन के द्वन्द्व, दुविधाओं तथा उनकी विडम्बना का चित्र है। कुदसिया बेगम को ईश्वर ने सब कुछ दिया है; एक बेटा, दो बेटियाँ, भरा-पूरा परिवार, जमीन जायदाद, इसी कारण पति की मृत्यु के बाद वे अपने मन को समझा लेती हैं। शेख मुजीब ने सारी उम्र कांग्रेस का साथ दिया। सारी उम्र वे देश की आजादी के लिए लड़ते रहे, हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये जान देते रहे। विभाजन के बाद रिश्तेदारों के समझाने पर भी बेगम मुजीब पाकिस्तान जाने को तैयार नहीं हुईं। लेकिन बड़ी बेटी सीमा द्वारा एक सिख से विवाह का समाचार बेगम मुजीब को हिला देता है। वे समझ नहीं पातीं कि विभाजन के बाद की परिस्थितियों में उनकी बेटी कैसे एक सिख के पीछे चलने और अपना धर्म बदलने को तैयार हो गई है।[1] वे छोटी बेटी को लेकर पाकिस्तान चली जाना चाहती हैं, लेकिन उनका बड़ा बेटा जाहिद, जो लन्दन में डाक्टरी पढ़ रहा है, पाकिस्तानी बनने को तैयार नहीं है। बेगम मुजीब के आस-पास का माहौल बदल रहा है और छोटी पुत्री जेबा महमूद जैसे साम्प्रदायिकता-वादियों के प्रभाव से भारत के विरुद्ध जहर उगलने लगी है। बेगम मुजीब समझ नहीं पातीं कि वे क्या करें। वे देख रही हैं कि सीमा ने इस्लाम छोड़ा, जेबा अपने देश से बेवफाई कर रही है।[2] वे पाकिस्तान जाने का निश्चय कर लेती हैं, लेकिन तभी महात्मा गांधी की हत्या का समाचार माँ-बेटी की विचारधारा को बिल्कुल परिवर्तित कर देता है और वे पाकिस्तान जाने का इरादा छोड़ देती हैं। जेबा धीरे-धीरे साम्प्रदायिक विचारों से मुक्त होती है। बेगम मुजीब पुत्री का विवाह महमूद से करना चाहती हैं, लेकिन जेबा उस व्यक्ति से विवाह करने को तैयार नहीं, जो इस देश में परदेसी की तरह रहता है, जिसकी नजरें हमेशा सरहद के पार लगी रहती हैं। वह राजीव से विवाह करना चाहती है यद्यपि उसे मालूम है कि उसकी माँ कभी इस विवाह की अनुमति नहीं देगी। इसी समय भारत और पाकिस्तान का युद्ध प्रारम्भ होता है। जाहिद और राजीव डाक्टरों के जत्थे के साथ युद्ध के मोर्चे पर चले जाते हैं। जाहिद वहाँ से घायल होकर लौटता है। राजीव जेबा को पाने के लिये मुसलमान

1. 'मन परदेसी'—कर्त्तारसिंह दुग्गल, पृ० 18.

2. वही, पृ० 47.

बनने को तैयार हो जाता है। बेगम मुजीब किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती हैं। उनसे अपनी बेटी का दुःख देखा नहीं जाता। इसी अवस्था में बेहाल होकर वे अपने शौहर के मजार की ओर चल पड़ती हैं। आँसू बहाती हुई वे अपने पति से प्रश्न करने लगती हैं "मेरे सिरताज ! मैं क्या करूँ ? मैं कहाँ जाऊँ ?"[1]

यह उपन्यास नारी जीवन की विडम्बना के साथ-साथ बँटवारे के बाद भारत में रह गये मुसलमानों के द्वन्द्व, दुविधा तथा व्यथा का सशक्त चित्रांकन भी करता है। आजादी के बाद भारतीय मुसलमानों के जीवन में परस्पर विरोधी वफादारियों का जो संघर्ष पैदा हुआ, उसने उन्हें अपने ही देश में अजनबी बना दिया है। उपन्यास के प्रारम्भ में उद्धृत गुरुनानक की एक पंक्ति द्वारा लेखक ने इस मनः स्थिति को अभिव्यक्ति दी है "मन परदेसी जे थीये सब देस पराया" (यदि मन परदेसी हो तो सब देश पराया हो जाता है।)[2] कुदसिया बेगम के पति कौमपरस्त थे, आजादी के दीवाने। उनके साथ रह कर बेगम मुजीब भी संकीर्ण साम्प्रदायिकता से मुक्त हो गयी थीं। लेकिन विभाजन के कारण बदलते माहौल ने बेगम मुजीब को दुविधा में डाल दिया है। वे देखती हैं कि "हिन्दुस्तानी मुसलमानों में जैसे एकदम भाई-चारा बढ़ गया था।''' ''जो कोई भी जाता, घण्टों अपने हिन्दू पड़ोसियों की बुराई करता रहता। लोगों ने अजीब-अजीब मंसूबे बनाये हुए थे। हर किसी की नजर जैसे पाकिस्तान पर लगी हो '' जैसे जिस्म इधर हो और रूह उधर।"[3] और तब उन्हें लगने लगा "जैसे उसका शौहर सारी उम्र अपने-आपको धोखा देता रहा था; जैसे सारी उम्र अँधेरे में भटकता रहा था; जैसे रेत की दीवारें खड़ी करता रहा हो, एक झटका लगा और सब-की-सब ढह गई।"[4] बेगम मुजीब के रिश्तेदार अपना वतन छोड़ने के लिये उन पर दबाव डालते हैं, लेकिन बेगम कोई निश्चय नहीं कर पाती। समुद्र की लहरों पर हिचकोले खाने वाली खोखली शहतीर की भाँति उनका मन डावाँडोल रहता है। खिड़की में खड़ी बेगम मुजीब को ध्यान आता है, कि उसी खिड़की में खड़ी होकर वह अपने शौहर की राह देखा करती थी। "उसका जीवन तो एक लम्बी प्रतीक्षा थी। इन्तजार के लमहों की जैसे एक माला पिरोई हो।"[5] जिस खिड़की से वे अपने अतीत और वर्तमान का आकलन करती हैं, उसी खिड़की से उनका मन एक देश से दूसरे देश को उड़ जाता है, जहाँ उनकी ननद इस्मत है, जिसे

1. 'मन परदेसी'—कर्तारसिंह दुग्गल, पृ० 188.
2. वही, पृ० 5
3. वही, पृ० 29.
4. वही, पृ० 29-30.
5. वही, पृ० 73.

उन्होंने बेटी से बढ़कर प्यार दिया था; उसका पति इरफान है; उनके जेठ का परिवार है, जो उन्हें बहुत प्रिय था। जीवन का यह करुण विरोधाभास है कि तन तो रहे एक देश में और मन उड़ जाये दूसरे देश को। युद्ध प्रारम्भ होने पर बेगम मुजीब का अन्तर्द्वन्द्व और बढ़ जाता है। "हिन्दुस्तान की जीत में उसे लगता, जैसे उसका शौहर शेख मुजीब जीत रहा था। पाकिस्तान की हार में उसे महसूस होता, जैसे उसके मियाँ का भाई शेख शब्बीर हार रहा था। किसकी जीत वह माँगे ? किसकी हार के लिये दुआ करे ?"[1] "बेगम मुजीब की ननद इस्मत के मियाँ ब्रिगेडियर इरफान ने सैकड़ों भारतीय फौजियों को गोलियों का निशाना बनाया था...... बेगम मुजीब की समझ में नहीं आ रहा था कि इस सब कुछ के लिये वह खुश हो या नहीं। उसके देश की हार हो रही थी। उसकी ननद का शौहर जीत रहा था।"[2] खबरें सुनने वाले इस तरह के लोग भी हैं, इधर हिन्दुस्तान में भी, उधर पाकिस्तान में भी जो हाथ जोड़ते रहते हैं कि हिन्दुस्तान भी जीते, पाकिस्तान भी जीते।"[3] भारतीय मुसलमानों की पीड़ा और द्वन्द्व को अभिव्यक्ति देने में लेखक सफल रहा है।

दूसरे वर्ग के उपन्यास—

प्रतापनारायण श्रीवास्तव :

बयालीस :

प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'बयालीस' (1948) बयालीस के भारत छोड़ो आन्दोलन और भारत विभाजन की चर्चा की पृष्ठभूमि में लिखा गया उपन्यास है, जिसमें कथाकार ने गाँधीवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। भारत विभाजन की चर्चा ने जिस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम मानस को प्रभावित किया, स्वार्थी तत्व जिस तरह हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष को बढावा दे रहे थे, इन सबको इस उपन्यास का प्रतिपाद्य बनाया गया है। भारत विभाजन के सन्दर्भ में इस उपन्यास से दो बातें स्पष्ट होती हैं—पहला राजनैतिक स्तर पर भारत विभाजन की चर्चा के बावजूद हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों की आपसी एकता और भाई-चारे में उस समय तक कोई कमी नहीं आयी थी। विशेष कर गाँवों में दोनों सम्प्रदायों के बीच किसी प्रकार का द्वेषभाव न था। दूसरी बात यह कि साम्प्रदायिक दंगे अंग्रेजों के पिट्ठू चन्द स्वार्थी लोगों के उकसाने पर बढ़े। अंग्रेजों की नीति को आदर्श मानने वाला ऐसा वर्ग इन दंगों के द्वारा अंग्रेजों को खुश करना चाहता था। इस उपन्यास में ऐसा ही एक प्रमुख चरित्र सर भगवानदास का है, जो जिन्हें अंग्रेजों से काफी सुविधाएँ और मान-सम्मान प्राप्त है।

1. 'मन परदेसी', पृ० 176.
2. वही, पृ० 177
3. वही, पृ० 180

हिन्दू-मुस्लिम दंगे करवाने के लिये ये सज्जन हिन्दू और मुसलमान गुण्डों को पैसे बाँटते हैं। अपने स्वार्थ मे ये इस तरह अन्धे हो जाते है कि अपने पुत्र के घायल होने पर भी उन्हें खुशी होती है, क्योंकि पुत्र उनके विचारो का विरोधी है।

लेखक ने रमईपुर गाँव को केन्द्र बनाकर वहाँ साम्प्रदायिक एकता को नष्ट करने वाले प्रयत्नो की गाथा कही है। उपन्यास के प्रारम्भ मे वह आपसी भाई-चारे और एकता के सूत्र में बंधे ग्रामवासियो के सुख-शान्तिपूर्ण जीवन के अनेक दृश्य उपस्थित करता है। इस गाँव के हिन्दू-मुसलमानो में किसी प्रकार का वैमनस्य नही है। उपन्यास के एक प्रमुख पात्र रहीम के शब्दो मे 'हमारे गाँव मे हिन्दू-मुसलमान मे कोई भेद नही है। हम एक दूसरे की शादी-गमी मे कन्धे-से कन्धा मिलाकर साथ देते है।'[1] रहीम की पुत्री नसीम भी दोनों धर्मों में किसी प्रकार का भेद नहीं मानती। अपनी सहेली गुलाब से वह कहती है 'बहन गुलाबी, धर्म सब एक है, शिक्षा सब एक है, मनुष्य सब एक है, केवल जलवायु के अन्तर और पृथ्वी तल की विशालता के कारण मनुष्यों के रूप-रंग, रहन-सहन और शिक्षा तथा ज्ञान के विकास मे भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।'[2] गुलाब भी उसके विचारो से सहमत है। समझती है कि 'कोई तीसरा व्यक्ति हमे साथ रहने नही देना चाहता।...अंग्रेज हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाकर अपना राज्य जमाये रहना चाहते हैं। वे हिन्दुओ के खिलाफ मुसलमानों को भड़काते हैं और मुसलमानो के विरुद्ध हिन्दुओ को जोश दिलाते है।' अखिया, रहीम और नसीम सभी साम्प्रदायिक विद्वेष को मानवता तथा राष्ट्रीय एकता के लिए अहितकर मानते हैं। रहीम के अनुसार 'हिन्दू और मुसलमान, एक ही जिस्म के दो अजो हैं, एक ही माँ के दो बेटे हैं। मुझे तो दोनों मे कोई अन्तर दिखाई नही पड़ता। हिन्दू अगर सूर्य को मानते है तो मुसलमान चाँद को, लेकिन चाँद और सूरज दोनो खुदा के नूर है।'[4] अखिया के शब्दों म 'हिन्दू-मुसलमान धर्म अल्लाह की दोनो आँखें हैं—एक दाहिनी और एक बायी।'[5] साम्प्रदायिक एकता का ही फल है कि रमईपुर के निवासी महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक आन्दोलन में भाग ले देश की स्वतन्त्रता हेतु अपना बलिदान देते है।

सर भगवानसिंह उन लोगो का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनका हित भारत मे अंग्रेजी राज्य के कायम रहने मे है, इसलिये अंग्रेजों की गद्दी बचाये रखने को के

---

1. बयालीस—प्रतापनारायण श्रीवास्तव, पृ० 25-26.
2. वही, पृ० 32.
3. वही, पृ० 33.
4. वही, पृ० 328.
5 वही, पृ० 244

हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों को आपस में लड़ाने का प्रयास करते हैं। इस उद्देश्य से वे रमईपुर गाँव में गुण्डों को पैसे देकर भेजते हैं। ये गुर्गे दोनों सम्प्रदायों की धार्मिकता उभारकर मुहर्रम के अवसर पर दंगे की स्थिति उत्पन्न करने में सफल भी हो जाते हैं। एक ओर अनवर मुसलमानों को और दूसरी ओर जागेश्वर हिन्दुओं को भड़काता है, किन्तु सर भगवानसिंह के पुत्र दिवाकर के प्रयास से यह दंगा रुक जाता है। वह आहत होता है, पर पूरा गाँव एकजुट हो अंग्रेजों से लोहा लेने का संकल्प करता है। अनवर की धर्मान्धता दूर होती है और वह इस तथ्य से परिचित हो जाता है 'अंग्रेज हुक्काम के लिये हिन्दू और मुसलमान दोनों दुश्मन हैं, दोनों से खतरा है, इसलिये वे काटे से काटा निकाल रहे हैं। हिन्दुओं से मुसलमानों को लड़ाकर दोनों की ताकत जाया कर रहे हैं, मगर जब वे गाँव तबाह करते हैं, तब उनके सारे बाशिन्दों पर गोलियाँ चलाते हैं, वहाँ वे हिन्दू-मुसलमान का लिहाज नहीं करते।'[1] इस दंगे के रुक जाने से सर भगवानसिंह को काफी निराशा होती है। क्रोधावेश में वे पुत्र का त्याग कर देते हैं। अंग्रेज आकाओं को खुश करने के लिये व रमईपुर गाँव के सभी विद्रोहियों अर्थात् उन्नीस सौ बयालीस के भारत छोड़ो आन्दोलन में भाग लेने वाले अहिंसक ग्रामवासियों का सफाया कर देने का वादा करते हैं। सशस्त्र सिपाहियों के साथ रमईपुर गाँव पहुँचकर वे निहत्थे लोगों पर गोली चलाने का आदेश देते हैं। अपने हाथों से गोली चलाकर वे अपने पुत्र की भी हत्या करते हैं। बाद में विक्षिप्त हो जाते हैं।

इस तरह यह उपन्यास प्रत्यक्षतः विभाजन पर आधारित न होने पर भी भारत विभाजन की पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है। विभाजन की चर्चा किस तरह दोनों सम्प्रदायों में विभेद उत्पन्न करती है और किस तरह असामाजिक और स्वार्थी तत्व इसका लाभ उठाते हैं, उसका विस्तृत चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास को हम आदर्शवादी उपन्यास कह सकते हैं। इसमें दोनों सम्प्रदायों के ऐसे अनेक पात्रों का चित्रण है, जो हिन्दू-मुस्लिम एकता में विश्वास रखते हैं। गुण्डों का हृदय-परिवर्तन होता है और सर भगवानसिंह जैसे स्वार्थी और अंग्रेज पिट्ठू लोग अन्त में विक्षिप्त होते दिखाये गये हैं। वस्तुतः इस उपन्यास की रचना द्वारा लेखक साम्प्रदायिक ऐक्य की स्थापना हेतु प्रयत्नशील दीखता है।

कलात्मक दृष्टिकोण से 'बयालीस' उपन्यास को एक सामान्य उपन्यास ही कहा जायगा। लेखक के आदर्शवाद से अनुप्रेरित होने के कारण उपन्यास कुछ-कुछ प्रचारात्मक हो गया है। इसमें पात्र लेखक के विचारों को जीते है, इसी कारण उनके चरित्र का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाया है। भाषा में सहजता है। इसे हम प्रेमचन्द की परम्परा का उपन्यास मान सकते हैं। इस उपन्यास में घटनाएं और

[1] बयालीस पृ० 327

पात्र महत्वपूर्ण नहीं हैं, महत्वपूर्ण है लेखक के विचार; साम्प्रदायिक समस्या के प्रति उसका दृष्टिकोण, इसी कारण यह उपन्यास कुछ अंशो मे गुरुदत्त के उपन्यासो की याद दिलाता है। यद्यपि गुरुदत्त और प्रतापनारायण श्रीवास्तव दोनो के दृष्टिकोण दो हैं, किन्तु मूलत उपन्यास कला की दृष्टि स दोनो एक ही दोष से पीड़ित दीखते है, अर्थात् ये उपन्यास कम है, एक समस्या विशेष के प्रति लेखक के विचारो की अभिव्यक्ति अधिक है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास :

अपनी पीढी के समसामयिक उपन्यासकारो के मध्य भगवतीचरण वर्मा एक अर्थ में नितान्त विशिष्ट है कि जब जैनेन्द्र या इलाचन्द्र जोशी अधिकाधिक व्यक्ति मन के विश्लेषण मे लगे थे तब भी वे सामाजिक यथार्थ से संलग्न रहे। उनके चित्रण का फलक प्रेमचन्द जैसा व्यापक तो नही है, पर मध्यवर्ग के विविध सम्बन्धो के तनावो और क्रिया-प्रतिक्रियाओं के बीच ही अपने पात्रों एवं समस्याओं को उन्होने उभारा है। उनके उपन्यासो का मूल ढांचा बहुधा परिवार-केन्द्रित है। इस सन्दर्भ मे वे प्रेमचन्द की परम्परा के अपेक्षाकृत अधिक निकट रहे।

उनके उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र', 'सीधी-सच्ची बातें' तथा 'प्रश्न और मरीचिका' भी उन उपन्यासों की श्रेणी में आते है जिनका सम्पूर्ण कथानक भारत विभाजन पर आधारित नही है; फिर भी इनमे भारत विभाजन की पूर्व-पीठिका, उसके घटनाक्रम तथा उसके परिणामों के विस्तृत चित्र है तथा इनमे लेखक ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या को एक व्यापक परिवेश में उठाया है। इन उपन्यासो द्वारा वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या राजनीतिक और धार्मिक मात्र न होकर एक सांस्कृतिक परम्परा की उपज है और जब तक इस्लाम धर्म का पाश कुछ ढीला नही होगा, केवल हिन्दुओ द्वारा इस समस्या का निदान ढूँढ पाना कठिन है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उनकी दृष्टि में महात्मा गाँधी है। महात्मा जी का प्रयत्न इसीलिये असफल हुआ क्योंकि वह एक हिन्दू द्वारा परिचालित प्रयत्न था। अपनी इसी दृष्टि को वर्मा जी ने 'भूले बिसरे चित्र' मे अंग्रेजी शासन-तन्त्र के सुदृढ़ होने के काल से लेकर 'सीधी-सच्ची बातें' मे देश के स्वतन्त्र होने और देश विभाजन के समय तक, तथा 'प्रश्न और मरीचिका' में देश विभाजन के बाद की परिस्थितियो तक की राजनीतिक स्थिति के चित्र के माध्यम से देखने का प्रयास किया है।

विभाजन का धार्मिक और राजनीतिक पक्ष :

भारत विभाजन के लिए दोनों सम्प्रदायो की कट्टर धार्मिक भावनाओ को उत्तरदायी मानते हुए उन्होंने स्थान-स्थान पर दोनो धर्मो की संकीर्णताओं पर व्यग्य किये हैं। उनके अनुसार धर्म के दो रूप होते हैं एक उसका सामाजिक पक्ष, दूसरा

वैयक्तिक पक्ष। वर्मा जी ने धर्म के सामाजिक पक्ष को ही अधिक महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि धर्म के इसी रूप से समाज सम्बन्धित और प्रभावित होता है। धर्म और मजहब की अलग-अलग विवेचना करते हुए वे धर्म को समाज के लिये उतना आवश्यक नहीं मानते जितना मजहब को। इसीलिये हिन्दू धर्म की व्याख्या वे जमील अहमद द्वारा इन शब्दों में कराते हैं—"हैवानियत ही समाज की सबसे बड़ी दुश्मन है, इसलिये समाज का फर्ज है हैवानियत से लड़ना। मजहब खुद एक सामाजिक इकाई है। मजहब का मकसद है समाज को कायम रखना, समाज को ताकतवर बनाना, क्योंकि समाज ही इन्सानियत का ठोस रूप है। मजहब सामाजिक है, वह वैयक्तिक है ही नहीं। मन्दिर बनवाना, धर्मशाला खोलना, सदावर्त बाँटना, ताकि चोरबाजारी में, धोखाधड़ी में, मकर और फरेब में भगवान हमारी मदद करें, यह इस वैयक्तिक मजहब की कुरूपता है। हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि उसने धर्म को सामाजिक नहीं माना, उसने उसे वैयक्तिक माना है।'[1] यहीं पर वर्मा जी इस्लाम की कुण्ठित होती हुई सामाजिक चेतना पर भी प्रहार करते हैं "इस्लाम में भी अपनी निजी कमजोरियाँ हैं। वहाँ भी बहिश्त और दोजख हैं। उसमें सामाजिकता तो है, लेकिन इतनी संकुचित सामाजिकता है कि वह व्यक्तिवाद से भी ज्यादा बदशक्ल और खतरनाक है। यह संकुचित सामाजिकता बानियत का जामा पहनकर कत्लेआम और भयानक खूनखराबे का रूप धारण कर सकती है, बड़े-बड़े युद्धों का कारण बन सकती है, जिसमें बेशुमार बेगुनाह लोग मौत के घाट उतार दिये जायें।"[2] हिन्दू धर्म यदि अपनी नितान्त वैयक्तिकता के कारण पूँजीवादी व्यवस्था का शिकार बनकर उसका समर्थक एवं प्रचारक बन जाता है तो इस्लाम अपनी अत्यधिक संकीर्णता के कारण विवेकहीन होकर वैयक्तिक स्वतन्त्रता को पूर्णतः समाप्त कर देता है, इसी लिए वह साम्यवाद के अधिक निकट पड़ता है। जमील अहमद के अनुसार "इस हिन्दुस्तान में तो सरमाएदारी का शिकंजा बुरी तरह कस जायेगा, यह सेठ, मिल मालिक, बनिए, बरहमन—इन्हीं का बोलबाला रहेगा, यहाँ कम्यूनिज्म के कायम होने के चासेज करीब करीब खत्म हो चुके हैं। इस्लाम कम्यूनिज्म के ज्यादा नजदीक है।"[3]

वर्माजी ने भारतवर्ष में बढ़ती हुई इस व्यापक समस्या को समझने के लिए दोनों धर्मों के व्यावहारिक रूपों का विश्लेषण कर उनकी कमजोरियों का पर्दाफाश करने की भी चेष्टा की है। हिन्दू धर्म व्यवस्था में ऊँच-नीच तथा भेदभाव पर व्यंग्य

1. 'सीधी सच्ची बातें' : भगवतीचरण वर्मा, पृ० 171.
2. वही, पृ० 171.
3. वही, पृ० 449-450.

करते हुए उन्होंने हिन्दू धर्म की खोखली मान्यताओं का उपहास किया है। उनके मतानुसार हिन्दू जाति-व्यवस्था का सम्पूर्ण आधार आर्थिक शोषण पर टिका हुआ है। सदियों से हिन्दू समाज-व्यवस्था मे धर्म के नाम पर शोषण होता चला आ रहा है[1] और इस शोषण को उसने एक सामाजिक सत्य के रूप में स्वीकार भी कर लिया है।[2] वर्माजी हिन्दू धर्म के उस रूप के प्रशंसक हैं जो मनुष्य में सद्भावना जगाकर उसे मानवता के विकास हेतु प्रेरित करता है। किन्तु ऐसा धर्म सामाजिक नहीं, वैयक्तिक ही हो सकता है। इसी कारण हिन्दू धर्म का व्यक्तिपरक दृष्टिकोण अत्यन्त उदात्त और परिष्कृत है, किन्तु सामाजिक रूप दान, दया, शोषण की विकृतियों से ग्रस्त होकर पूँजीवादी बन जाता है। ऐसे हिन्दू-धर्म का इस्लाम के साथ समझौता असंभव है। इसी कारण भारत मे हिन्दू और मुस्लिम एकता की दिशा में किये गये प्रयास नितान्त असफल रहे।

वर्माजी के मतानुसार जिस समय हिन्दू धर्म अपनी विकृतियों से स्वयं ही गलित होने लगा था, मुसलमानो ने भारत पर आक्रमण कर विघटित होती हुई राजनीतिक सत्ता के साथ ही धार्मिक मत-मतान्तरो मे बँटी, अन्धविश्वासग्रस्त जनता को ऊँच-नीच के भेद से मुक्ति का प्रलोभन दे इस्लाम का व्यापक प्रचार किया। किन्तु इस्लाम की यूनिवर्सल ब्रदरहुड की भावना भी कालान्तर में क्षीण होती गयी और उसने भी हिन्दू धर्म की आर्थिक शोषण की नीति तथा ऊँच-नीच के भेद को अंगीकार करना प्रारम्भ कर दिया।[3] भारतीय मुसलमानों ने हिन्दू धर्म की विकृतियो को तो अपनाया, किन्तु हिन्दू-धर्म की उदारता को न अपना सके। हिन्दुस्तान का मुसलमान हिन्दुस्तान मे रहते हुए भी मक्के और मदीने के ख्वाब देखता रहा।[4] वह मुस्लिम कौम, जिसने हिन्दुओ के कन्धे से कन्धा मिलाकर 1857 की क्रान्ति में अंग्रेजो के छक्के छुडा दिये थे, अपनी धार्मिक संकीर्णता तथा अंग्रेजो की कूटनीति का शिकार हो हिन्दुओं से वैमनस्य का भाव रखने लगी। गाँधीजी ने जब खिलाफत आन्दोलन चलाया तो मुसलमान इसलिए शामिल हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने तुर्की के खलीफा के साथ विश्वासघात किया। गाँधीजी का खिलाफत आन्दोलन जब तक चलता रहा, मुस्लिम सहयोग देते रहे। किन्तु भारतीय राजनीति मे आये नये मोड़ तथा अंग्रेजो की कूटनीति ने मुसलमानो को हिन्दुओ से दूर ही नही किया, अपितु बहुसंख्यक मुस्लिम

---

1. 'भूले बिसरे चित्र' : भगवती चरण वर्मा, पृ० 421.
2. 'सीधी सच्ची बातें', पृ० 168-169.
3. 'भूले बिसरे चित्र', 1975, पृ० 421.
4. 'इस मुसलमान की जड़ें हिन्दुस्तान में नही है, इसकी जड़ें तुर्की और मक्क मदीना में है। वही, पृ० 322.

स्वतन्त्रता संग्राम के विरोधी हो गये।[1] अंग्रेजों का प्रभुत्व स्वीकार करने के बाद भी वे हिन्दुओं के साथ समझौता न कर सके क्योंकि हिन्दुओं पर उन्होंने सदियों तक शासन किया था।[2] जिस पर अधिकार किया था, उसके अधीन रहने में अपमान समझ-कर 'डोमिनियन स्टेटस' की माँग में वे सहयोग न दे सके।[3] अंग्रेजों ने अलगाव की भावना को और प्रोत्साहन दिया। महात्मा गाँधी द्वारा सामाजिक भेद भाव और ऊँच-नीच मिटाने का हर प्रयत्न किया गया, परन्तु उसमें मुसलमानों को हिन्दू-धर्म प्रचार की ही बू आती दिखाई दी। इसी कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति की आशा ने जहाँ हिन्दुओं को उल्लसित किया, मुसलमान अपने लिए खतरा सा अनुभव करने लगे।[4] भारतीय राजनीति में जिन्ना का प्रवेश और उन्हें गाँधी जी के समकक्ष सम्मान न मिलना भी हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव को और अधिक बढ़ाने में सहायक हुआ।

भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के बीच इस समस्या को सुलझाने के जितने ही प्रयास हुए, वह उतनी ही जटिल होती गयी। राजनीतिक द्वन्द्व—गाँधी और जिन्ना का व्यक्तिगत मामला हिन्दू-मुस्लिम समस्या का रूप धारण कर विस्फोटक होता गया।[5] पाकिस्तान शब्द का प्रयोग इकबाल ने सन् 1930 ई० में मुस्लिम लीग के अध्यक्षीय भाषण में किया था। लेकिन उसमें पूर्वी पाकिस्तान का बिल्कुल उल्लेख न था। इकबाल शायर था—उर्दू का शायर; उसने एक कल्पना की—मौलिक कल्पना; और वह अपनी कल्पना के ताने-बाने में फँस गया। इस कल्पना का समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा, शायरी की मौज में इकबाल न सोच सका। लेकिन जिन्ना शायरी से बहुत दूर राजनीतिज्ञ था। अतएव जिन्ना को बँटवारे के बाद की स्थिति का कुछ-न-कुछ अनुमान अवश्य था और वह विभाजन पर अड़ गया था—यह देश का दुर्भाग्य था।[6] किन्तु जिन्ना के साम्प्रदायिक बनने में दोष किसका था? "जिन्ना योग्य था, जिन्ना ईमानदार था, जिन्ना में विद्रोह था, लेकिन जिन्ना मुसलमान था। महात्मा गाँधी की सरपरस्ती में जवाहरलाल नेहरू देश का नेतृत्व अपने हाथ में लेने को आगे बढ़ रहे थे··· "जिन्ना महात्मा गाँधी के बाद उनके समकक्ष ही दूसरा स्थान

1. 'भूले बिसरे चित्र', पृ० 331-332.
2. 'सीधी सच्ची बातें', पृ० 118.
3. 'भूले बिसरे चित्र', पृ० 331.
4. 'सीधी सच्ची बातें', पृ० 118
5. "जिन्ना को गाँधी के बाद दूसरा दर्जा नहीं चाहिये, उन्हें गाँधी के मुकाबले बराबरी का दर्जा चाहिये। गाँधी हिन्दू हैं, जिन्ना मुसलमान। कोई एक दूसरे से छोटा बड़ा क्यों हो?······कांग्रेस के इस अड़ने से और गाँधी की इस जिद् से देश का बँटवारा होकर रहेगा। जिन्ना गाँधी से कम किसी हालत में नहीं है।"—वही पृ० 209-210.
6. वही, पृ० 309.

लेना चाहता था। जिन्ना के पास वे गुण नहीं थे जिन पर महात्मा गाँधी को आस्था थी, जिन्ना राजसी ठाठ से रहते थे, जिन्ना में कटुता से भरी स्पष्टवादिता थी। जिन्ना महात्मा गाँधी के आगे झुकते नहीं थे। जवाहरलाल नेहरू में वे सब गुण थे··· यह स्वाभाविक था कि महात्मा गाँधी ने नेहरू को महत्ता दी और फलस्वरूप जिन्ना राष्ट्रीय आन्दोलन से छिटक कर विशुद्ध साम्प्रदायिक बन गये। जिन्ना नमाज नहीं पढ़ते थे, जिन्ना को इस्लाम पर अन्धी आस्था नहीं थी, लेकिन यह जिन्ना अहम और अपनी महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर देश का बँटवारा कराने पर तुल गया था। इस जिन्ना का कहना था कि स्वतन्त्र भारत में हिन्दू मुसलमानों को खा जायेंगे, इसलिए कि खुद जिन्ना को आगे बढ़ने से रोक दिया गया है।······और अब जिन्ना को दानवीय शक्ति प्राप्त हो गई, तब महात्मा गाँधी को स्थिति की गम्भीरता का पता चला।····· जिन्ना महात्मा गाँधी की हर उचित-अनुचित बात का विरोध करने पर तुल गया था, और यह विरोध शुद्ध रूप से व्यक्तिगत था, यद्यपि जिन्ना ने इस विरोध को सैद्धान्तिक जामा पहना दिया था।[1] चूँकि जिन्ना को आगे बढ़ने में पग-पग पर हिन्दुओं से बाधा मिलती है—उनके अन्दर नफरत का जहर भर गया है, नहीं तो कभी वे भी कांग्रेस में थे, राष्ट्रीय नेता थे।[2] वर्मा जी के विचारानुसार अंग्रेजों की कूटनीति तथा गाँधी जी की अदूरदर्शिता ने ही हिन्दू-मुसलमानों में फूट के बीज बोये।[3] विभाजन के कारणों के सम्बन्ध में यह वर्मा जी का दृष्टिकोण है और इस समस्या का समाधान "सीधी-सच्ची बातें" के एक पात्र के अनुसार कम्युनिज्म है।[4]

वर्मा जी यह मानते हैं कि देश का साम्प्रदायिक आधार पर जो विभाजन हुआ, उसकी तह में नेहरू और जिन्ना के बीच में सत्ता का संघर्ष ही था।[5] "यह

1. 'सीधी-सच्ची बातें', पृ० 320-321.
2. वही, पृ० 389.
3. "यह हिन्दू-मुस्लिम समस्या वास्तविक नहीं थी किसी समय, लेकिन अंग्रेजों की डिवाइड एण्ड रूल की नीति ने तथा महात्मा गाँधी की अदूरदर्शिता ने उसे वास्तविक बना दिया"····· "असहयोग आन्दोलन के साथ खिलाफत आन्दोलन को जोड़कर उन्होंने मुसलमानों को एक अलग इकाई मानकर अपने साथ लेने की जो कोशिश की उसने गौणरूप से यह घोषित कर दिया कि मुसलमान की वफादारी देश के प्रति नहीं है, अपने मजहब के प्रति है·····" वही, पृ० 426
4. वही, पृ० 427-428.
5. "न नेहरू हिन्दू हैं, न जिन्ना मुसलमान। यह नेहरू जिसकी शिक्षा-दीक्षा इंग्लैंड में हुई, जो दिल और दिमाग दोनों से ही अंग्रेज है, जो कभी मन्दिरों में नहीं गया, जिसने अपने धर्म-ग्रन्थ नहीं पढ़े और यह जिन्ना जिसने कभी नमाज नहीं पढ़ी, जो मुल्लाओं और मौलवियों का खुलेआम मजाक उड़ाता है, जो वेशभूषा में सोलह आने अंग्रेज है। और इन दोनों में सत्ता के संघर्ष के कारण देश में साम्प्रदायिक आधार पर बँटवारा हो गया।"—'प्रश्न और मरीचिका' : राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1973, पृ० 75.

संघर्ष गाँधी और जिन्ना का था और इस संघर्ष की कीमत चुकानी पड़ रही है लाखों करोड़ों निरपराध, असमर्थ और भोले-भाले आदमियों को, जो भावना के आवेग में भड़क उठते है, जो नेताओं की जय-जयकार करते है, जो अपनी ही विवशताओं और असमर्थताओं से पिस रहे हैं। जो मर रहे हैं, उजड़ रहे हैं, तबाह हो रहे हैं।"[1]

विभाजन से उत्पन्न परिस्थितियाँ :

15 अगस्त को आजादी देने की वायसराय की घोषणा के पहले ही भयंकर साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो जाते हैं और मानवता कराह उठती है।[2] इसके बाद दिल्ली में शरणार्थियों का आना शुरू होता है—अमानुषिक अत्याचार की कहानियाँ लिये हुए। "·······राजनीतिक नेताओं की सत्ता और शक्ति की भूख ने करोड़ों आदमियों की सम्पत्ति को, करोड़ों आदमियों के परिवारों को खा डाला था। इन लोगो की भूख को कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी इस अभागे देश को।"[3] तम्बुओं का एक शहर ही बसाया जाता है कुरु-क्षेत्र के निकट, जहाँ लाखों शरणार्थियों के रहने की व्यवस्था की जाती है। इन लुटे हुए लोगों के मन में नफरत का कभी न खत्म होने वाला जहर भर गया है। जमील अहमद का विचार है "महात्मा गाँधी इस नफरत को दूर नहीं कर सकेंगे······कुदरत का कानून है—क्रिया-प्रतिक्रिया। पाकिस्तान मे पनपने वाली नफरत का जवाब होगा हिन्दुस्तान में नफरत का पनपना। जो कुछ होगा वह मजहबी नफरत की बुनियाद पर।"[4] रोज शाम के समय महात्मा गाँधी दिल्ली में अपनी प्रार्थना सभा में अपनी बातें कहते थे, लेकिन उस वातावरण मे उनके प्रवचनों का उल्टा असर पड़ता था जनता पर। "नफरत के जहर से भरा जन-समुदाय प्रेम, दया और अहिंसा का पाठ सुनने को तैयार नहीं था।"[5] कश्मीर मे युद्ध प्रारम्भ होने पर साम्प्रदायिक घृणा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। महात्म गाँधी के अनशन से देश की साम्प्रदायिक स्थिति में काफी सुधार होता है "लेकिन क्या इस तरह के अनशनों से नफरत का जहर दूर किया जा सकता है? हिंसा का उत्तर हिंसा है; अहिंसा अस्वाभाविक है, क्योंकि अहिंसा नकारात्मक तत्व

1. प्रश्न और मरीचिका, पृ० 75-76.
2. "कैसी घृणा है यह—कैसी हिंसा है यह ! मनुष्यता मर गई हो जैसे। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के नेताओं ने आश्वासन दिये थे कि उनके देशों में अल्पसंख्यकों की रक्षा की जायेगी। लेकिन इन नेताओं ने देश के टुकड़े कर दिये थे, मनुष्य के टुकड़े होना वह कैसे रोक सकते थे ?"

   —'सीधी-सच्ची बातें : पृ० 444-445.
3. वही, पृ० 445.
4. वही, पृ० 449.
5. वही, पृ० 451.

है।"[1] 'सीधी सच्ची बातों' के अन्त में देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के उल्लास के साथ अहिंसा के देवता गांधी का साम्प्रदायिक दंगे की हिंसा में कुर्बान होना ऐसा प्रतीक है जो अनायास ही परिस्थितियों द्वारा मिली हुई स्वतन्त्रता की असफलता की ओर इंगित करता है और जगत प्रकाश का टूट कर मरना—हमारे बिखराव और हमारी निराशा का प्रतीक तो है ही, अहिंसा का हिंसा के समक्ष मिथ्या मूल्य निदर्शन भी है। यद्यपि वर्मा जी के प्रत्येक उपन्यास में हम उनकी मान्यताओं और आस्थाओं को टूटता हुआ पाते हैं, किन्तु इस उपन्यास में वे आस्थाएँ धूमिल ही नहीं पड़ी, अपितु अनास्था में परिणत हो गयी हैं, उनके सारे विश्वास हिल उठे हैं। तभी तो वे कहते है "यह स्वतन्त्रता हमें गांधी ने नहीं दिलाई है, यह स्वतन्त्रता हमे दिलाई है हिटलर ने, यह स्वतन्त्रता हमें दिलाई सुभाष ने।......हिटलर ने मरते-मरते ब्रिटेन को बेतरह तोड़ दिया है। यह स्वतन्त्रता हमें दिलाई सुभाष ने, जिसने हिन्दुस्तानी सेना और नौ-सेना में हिंसा और विद्रोह के बीज बो दिये थे, जिसने स्वयं मर कर देश को एक नया जीवन प्रदान किया।"[2] गांधी एवं गांधीवादी जगत प्रकाश की मृत्यु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के भारत की करुणाभरी कथा की अभिव्यंजना है, जिसमे न्याय और आदर्श समाप्त हो जाते हैं और भ्रष्ट नेतृत्व देश और सरकार को जर्जर करता दीख पड़ता है। 'प्रश्न और मरीचिका' उपन्यास मे वर्मा जी ने स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इसी यथार्थ स्वरूप की अभिव्यंजना की है।

दीर्घकाल की विदेशी दासता से भारत को मुक्ति तो मिलती है लेकिन किस रूप में? मेलाराम जैसे असंख्य लोग, जिनका सर्वस्व इस विभाजन में स्वाहा हो गया है, तटस्थ होकर अपने जीवन की त्रासदी को स्वीकार करते है क्योंकि "यह सब होना है। नफरत-नफरत! नफरत की बुनियाद पर हमारी आजादी कायम हो रही है, तो इस आजादी के माने होंगे लूटमार, आगजनी, औरतों की बेइज्जती, भेड़-बकरियों की तरह लाखों इन्सानों का कत्ल।"[3] मेलाराम का वतन सियालकोट किसी वक्त बड़ा प्यारा शहर था, लेकिन अब वह नरक बन रहा था। न जाने देश में ऐसे कितने मेलाराम थे, कभी जिनकी हवेली थी, जमींदारी थी, इज्जत-आबरू थी, रुतबा था। "लेकिन मुल्क आजाद हो रहा था और इन्सान के अन्दर वाली हैवानियत भी आजाद हो रही थी, तमाम नफरत के साथ।"[4] मेलाराम के समझाने पर भी उसके दोनों बड़े बेटे जमीन-जायदाद का मोह छोड़कर उसके साथ दिल्ली नहीं आये, और एक दिन मेलाराम को सूचना मिली कि सब कुछ खत्म हो गया है। "......

1. सीधी-सच्ची बातें, पृ० 452.
2. वही, पृ० 442.
3. प्रश्न और मरीचिका, पृ० 14.
4. वही, पृ० 14.

पण्डित जवाहरलाल नेहरू को बादशाहत मिल रही है लेकिन इस बादशाहत की कीमत हम लोगों को चुकानी पड़ रही है।"[1] उस समय जब देश में मानो एक विराट् हत्याकाण्ड हो रहा है, "रात भर जुलूस निकलेंगे, नाच होंगे। यह जख्मों से कराहता हिन्दुस्तान आज रात भर जश्न मनाकर अपनी पीर को भूलने की कोशिश करेगा।"[2] लूटमार, कत्लेआम, आगजनी के इस दौर में अहिंसा, प्रेम और दया का देवता गाँधी बंगाल मे शान्ति स्थापना के बाद पंजाब यात्रा का कार्यक्रम बना रहा है। 'लेकिन उसे पहले अपने ही देश को सम्हालना होगा। उसे मानव की हिंसा और घृणा वाली मूल प्रवृत्तियों से ही लड़ना है और यह मानव की मूल प्रवृत्ति बंगाल और पंजाब मे ही नही, यहाँ दिल्ली में भी मौजूद है।'[3] लेकिन घृणा और हिंसा के पागलपन से उफनते जनसमूह के पास क्या महात्मा गाँधी के उपदेश सुनने के लिये अवकाश है? 'इस हिंसा और विनाश को रोका जा सकता है केवल हिंसा और विनाश से। विषस्य विषमौषधम्!'[4] महात्मा गाँधी का कहना है कि मनुष्य को अपने अन्दर बदलना पड़ेगा। लेकिन विपरीत बाह्य परिस्थितियों में अपने अन्तर को बदलना क्या सम्भव है? 'पाकिस्तान से हिन्दू निकाले जा रहे हैं, वह विशुद्ध मुस्लिम देश बन गया है... हिन्दुस्तान धर्म निरपेक्ष राज्य है, महात्मा गाँधी और उनके अनुयायी कांग्रेस के नेता इस धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त पर अडिग हैं।'[5] किन्तु यह धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त लेखक की समझ में नहीं आता। 'न उन लोगो की समझ में आता है जो मारे जा रहे हैं और न उन लोगों की समझ में जो मार रहे हैं। शायद उन लोगों की समझ में भी नही आ रहा है जो धर्म निरपेक्षता का नारा लगा रहे हैं।'[6]

बिना किसी महायुद्ध के ही देश में कितना खून बहा, कितनी तबाही हुई। किन्तु देशवासियो को क्या हासिल हुआ? "स्वतन्त्र तो देश हुआ है, आदमी कब स्वतन्त्र हुआ है? सत्ता इंग्लैण्ड के गोरे आदमियों के हाथ से निकल कर हिन्दुस्तान के काले या भूरे आदमियों के हाथ आ गई है।"[7]

विभाजन के बाद परिवर्तित जीवन मूल्य एवं पतनशील राजनीति :

स्वतन्त्रता-संग्राम के समय परतन्त्र देश में—मनुष्य के सामने एक ध्येय था, एक संकल्प था और था एक आदर्श। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में सारे ऊँचे आदर्शों पर

---

1. प्रश्न और मरीचिका, पृ० 15.
2. वही, पृ० 15.
3. वही, पृ० 68.
4. वही, पृ० 69.
5. वही, पृ० 74.
6. वही, पृ० 74-75.
7. वही, पृ० 36

पानी फिर गया। सत्ता हथियाने और कायम रखने की बलवती कामना के साथ अधिकाधिक धन कमाने की प्रवृत्ति नेताओं पर हावी होती गई। फलतः राष्ट्रीय-संग्राम की वह निष्ठा, आत्म बलिदान और तपस्या, न जाने कहाँ तिरोहित हो गयी। नेता बनना लाभदायक पेशा बन गया।[1] देश मे महँगाई बढ़ती जा रही है। "इन्सान में बेईमानी बढ़ती जा रही है और इसकी वजह यह है कि इन्सान की हविस बढ़ गई है। जब हम गुलाम थे तब हममें आजाद होने की हविस थी और अब, जब हम आजाद हो गए हैं तब हममे अमीर बनने की, बड़े बनने हविश आ गई है।"[2] स्वतन्त्र भारत में हर आदमी उन्नति की ओर अग्रसर है—यह उन्नति है सुख-सम्पदा की, भोग-विलास की। और इस उन्नति मे सबल-निर्बल को खा जाया करता है।[3] कर्मठ और निष्ठावान लोगो का युग तो जैसे देश की स्वतन्त्रता के साथ ही निकल गया।[4] पार्टी के हितों और स्वार्थों को ध्यान में रखकर हरेक पार्टी फिर से साम्प्रदायिकता और जातिवाद को बढ़ावा दे रही है। चारों तरफ गन्दगी, चारों तरफ सड़ाँध।[5] दिल्ली में एक बड़ी भीड़ था उन लोगो की जिन्हें पण्डित जवाहरलाल नेहरू से बल मिला था अपने को समाज पर आरोपित करने मे। उस बड़ी भीड़ में एक-से-एक बेईमान और चरित्रहीन आदमी थे। कुछ थोड़े से त्याग और बलिदान की परम्परा में पले हुए आदमी भी थे, लेकिन दूसरों की देखा-देखी उनमें भी सुख-समृद्धि का रास्ता अपनाने की प्रवृत्ति आ गई थी। पुराने कांग्रेसमैन अलग हो रहे थे, नए कांग्रेसमैन बन रहे थे। इन नये लोगों का हृदय परिवर्तन हो रहा था। यह हृदय परिवर्तन ! इसका दूसरा नाम है सुविधावाद··· ।"[6] मुहम्मद शफी जैसे कांग्रेसी कार्यकर्ता, स्वतन्त्रता-आन्दोलन के दौरान जिनका अधिकांश समय जेलों में बीता है ज़मीन-जायदाद बिक चुके हैं और भूखों मरने की नौबत आ गयी है; आज़ादी के बाद मारे-मारे फिर रहे हैं। उच्च पद मिल रहे है शेख मुस्तफा कामिल जैसे मुस्लिम लीगियों को, गाँधीजी के हृदय परिवर्तन वाले सिद्धान्त के अन्तर्गत जिनका हृदय परिवर्तन हो चुका है। विडम्बना यह है कि मुहम्मद शफी के लिए काम के प्रबन्ध की जिम्मेदारी शेख मुस्तफा कामिल को ही सौंपी गयी है। मुहम्मद शफी समझ नहीं पाते कि उन "राष्ट्रीय मुसलमानों को, जिन्होंने आजादी की लड़ाई में अपनी जिन्दगी तबाह कर दी, इन गद्दार मुस्लिम लीगियों की

1. प्रश्न और मरीचिका : पृ० 246.
2. वही, पृ० 122.
3. वही, पृ० 128.
4. वही, पृ० 231.
5. वही, पृ० 237.
6. वही, पृ० 229-230.

महल में क्यों रखा जा रहा है ?"[1] इन्हीं मुस्लिम लीगियों की वजह से देश का बँटवारा हुआ और आज उन्हें ही जिम्मेदारी के पद दिये जा रहे हैं, मुहम्मद शफी जैसे लोगों को पूछा तक नहीं जा रहा।[2] मुहम्मद शफी जैसे सिद्धान्तवान नेताओं में शायद यही कमी थी कि वे मुस्लिम जनता को बरगला नहीं सके। उन्होंने देश के लिए कुरबानी दी थी, इसलिए मुस्लिम जनता ने भी उनका साथ नहीं दिया। वे चाहते हैं कि कांग्रेस के अन्दर जो मुस्लिमलीगी तबका घुस रहा है, उसे रोका जाये क्योंकि "आप हृदय परिवर्तन नहीं कर रहे हैं, हृदय-परिवर्तन के नाम पर आप झूठ, फरेब, मक्र को बढ़ावा दे रहे हैं। अपना मतलब गाँठने के लिए हरेक आदमी हृदय-परिवर्तन का नारा लगाएगा। और आगे चलकर हिन्दुस्तान की सियासत इस झूठ और फरेब की बेईमानी से भरी सियासत हो जायेगी...इन सब को रोकना पड़ेगा।"[3] किन्तु वह सब रुक नहीं पाता। "शानदार मोटरों पर सवार, कीमती रेशम और पश्मीने के कपड़े पहने हुए इन कांग्रेसमैनों का वर्ग देश का निर्माण करने के लिए पण्डित जवाहरलाल नेहरू के इर्द-गिर्द एकत्रित हो रहा था। हृदय परिवर्तन के नाम पर और देश के स्वातन्त्र्योत्तर संग्राम में जवाहरलाल नेहरू से कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर चलने वाले तथा अपने को उनके समकक्ष समझने वाले आदमी कांग्रेस से अलग होकर अपनी-अपनी पार्टियाँ बना रहे थे। लेकिन इन लोगों के पास भी तो कोई आदर्श नहीं दिखता था, कोई सिद्धान्त नहीं दिखता था, मात्र कुण्ठा और सत्ता की भूख।"[4] वस्तुतः वर्माजी के उपन्यास राजनीति के खोखलेपन पर गहरा प्रहार करते हुए इसके विषाक्त प्रभाव का भण्डाफोड़ करते हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री :

धर्मपुत्र :

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'धर्मपुत्र' (1954) की मुख्य कथा है एक मुस्लिम माता-पिता की अवैध सन्तान दिलीप के एक निष्ठावान् आस्तिक हिन्दू परिवार में पालन-पोषण एवं एक आतिच्युत राय साहब की पुत्री माया से उसके पाणिग्रहण की। नवाब मुश्ताक अहमद सालार जंगबहादुर की पोती हुस्नबानू का पुत्र नवाब के प्रिय मित्र बंसगोपालराय के पुत्र डॉ० अमृतराय और उनकी पत्नी अरुणा के संरक्षण में बड़ा होता है। संसार के सामने और स्वयं दिलीप के लिए भी डॉ० और उनकी पत्नी ही उसके वास्तविक माता-पिता हैं। डा० दम्पत्ति की और भी तीन सन्तानें हैं, किन्तु दिलीप का व्यक्तित्व और व्यवहार, सब कुछ उनसे भिन्न

1. प्रश्न और मरीचिका, पृ० 82.
2. वही, पृ० 83.
3. वही, पृ० 85
4. वही, पृ० 230

है। वह कट्टरपंथी हिन्दू है। मुसलमानों का घोर विरोधी और हिन्दू-संस्कृति का परम हिमायती। एम० ए०, एल-एल० बी० कर राष्ट्रीय संघ में नाम लिखा चुका है। डाक्टर चाहते है कि किसी प्रतिष्ठित वकील के साथ वह प्रेक्टिस करे। किन्तु दिलीप राष्ट्रीय संघ का जनरल सेक्रेटरी है, वह चाहता है कि हिन्दू सभा का एक जोरदार नेता बने।[1] इसी समय डाक्टर अमृतराय के सामने दिलीप के विवाह की समस्या आ खड़ी होती है। दिलीप के जन्म का रहस्य प्रकट करने में वे असमर्थ है लेकिन एक मुस्लिम माता-पिता के पुत्र का हिन्दू कन्या से विवाह करने का छल करने को उनका मन तैयार नही होता। इतना बड़ा अधर्म करने को वे प्रस्तुत नही है। पत्नी चाहती है कि दिलीप पर यह रहस्य प्रकट कर दिया जाये। लेकिन डाक्टर को लगता है कि 'वह पक्का हिन्दू सभाई मुसलमानों को तेल में होकर देखता है। राष्ट्रीय संघ का जनरल सेक्रेटरी, हिन्दू धर्म का नेता है। वह सुनेगा तो शायद उसके हृदय की धड़कन ही बन्द हो जाएगी, या अजब नही वह क्रोध करके हमारा खून कर डाले।'[2] अन्त मे वे दिलीप का विवाह राय राधाकृष्ण बैरिस्टर की विलायत रिटर्न सुन्दरी कन्या मायादेवी से करने का निश्चय करते है। किन्तु दिलीप इस सम्बन्ध को इस आधार पर अस्वीकृत कर देता है कि 'वे लोग बिल्कुल भ्रष्ट हैं। सबके साथ उनका खानपान है। उनकी लड़की भी अंग्रेजी फैशन की गुलाम है।'[3] दिलीप की इच्छा है कि सीता-सावित्री के वंश की ही कोई कन्या उसके माता-पिता का आशीर्वाद ले। उसके अनुसार 'आदर्श और संस्कृति में तो कट्टरता कायम रहनी ही चाहिए। नही तो फिर जातीयता कहाँ रह सकती है।'[4] उसका विचार है कि '···एक जातीयता ही तो है—जिसके बल पर हम सब एक हो सकते हैं, संगठित होकर अपनी दासता की बेड़ी काट सकते हैं।'[5] जिसकी नसों में शत-प्रतिशत मुस्लिम रक्त बह रहा है, वह ऐसा कट्टर हिन्दू-धर्म का समर्थक है—यह सोचकर डाक्टर को हँसी आ जाती है।[6] दिलीप अपने निश्चय पर अडिग है कि उसका विवाह होगा तो सीता और सावित्री के आदर्शों पर चलने वाली हिन्दू-कुल-ललना के साथ ही, जिससे उसके सब सपने सत्य हो जाएँ।

---

1. धर्मपुत्र—आचार्य चतुरसेन शास्त्री, प्र० राजपाल एण्ड सन्स, सातवाँ संस्करण : 1970, पृ० 52.
2. वही, पृ० पृ० 54.
3. वही, पृ० 55-56.
4. वही, पृ० 56.
5. वही, पृ० 57.
6 वही, पृ० 58

डाक्टर अमृतराय और अरुणा के सामने चिन्ता का एक बड़ा कारण उपस्थित हो जाता है। एक पोषित मुस्लिम बालक को अपना पुत्र घोषित करने पर किन सामाजिक बाधाओं का सामना करना पड़ता है—इसपर अभी तक विचार करने का उन्हें अवसर ही न मिला था। अब एकाएक जैसे पहाड़ के समान कोई बाधा उनके सरल जीवन में आ जाती है। विवाह प्रस्ताव के अस्वीकृति की बात सुनकर पुत्री सहित रायसाहब अमृतराय के यहाँ आ पहुँचते हैं। वहाँ दिलीप और माया का अप्रत्याशित रूप से क्षणिक मिलन और पारस्परिक आकर्षण कथानक में एक नाटकीय मोड़ ला देता है। दिलीप माया को अस्वीकार करके भी उषा के लिये व्याकुल हो उठता है और उधर माया भी दिलीप द्वारा अपमानित होने पर उसी को अपना मान बैठती है। इसी समय राष्ट्रीय संघ के तत्वावधान में आयोजित एक विराट् सभा में भाषण देते समय दिलीप गिरफ्तार हो जाता है। जेल में जाते ही वह जिद ठान लेता है "मैं निष्ठावान् हिन्दू हूँ। मुझे नित्यकर्म, पूजा करने की सुविधा दी जानी चाहिये। मेरा भोजन भी स्वतन्त्र होना चाहिये। मैं जिस-तिस के हाथ का छुआ भोजन न करूँगा। जिन बातों से मेरी धार्मिक भावना को ठेस पहुँचेगी उनके विरुद्ध मैं आमरण अनशन करूँगा।" विवश अधिकारियों को झुकना पड़ता है। किन्तु अन्य राजनीतिक बन्दियों के सम्पर्क में आने पर दिलीप की धर्म सम्बन्धी कट्टरता थोड़ी कम होती है। इसी समय देश के आजादी की घोषणा होती है, दिलीप छूटकर घर आ जाता है, लेकिन देश में साम्प्रदायिक दंगों की आग भड़क उठती है। दिलीप हिन्दुओं की रक्षा के प्रयास में सन्नद्ध है; इसी क्रम में वह सभी साथियों को लेकर उस रंगमहल में आग लगाने जाता है, जहाँ अट्ठाइस वर्षों बाद हुस्नबानू एक वृद्धा दासी के साथ रहने आई है। डॉक्टर अमृतराय और अरुणादेवी बानू को बचाने रंगमहल पहुँचते हैं। आग में इन सबके साथ दिलीप भी फँस जाता है। खिड़की की राह सब सकुशल निकल जाते हैं, लेकिन अन्त में रस्सी से उतरते समय दिलीप के सिर में भयंकर चोट आती है। उसकी बेहोशी की सूचना मिलने पर माया और रायसाहब आते हैं। स्वस्थ होने पर अरुणादेवी दिलीप को सब कुछ बता देती हैं। सबकुछ सुनकर दिलीप पत्थर की भाँति भावहीन, निश्चल, निश्चेष्ट होकर माँ की गोद में गिर जाता है। वह न उत्तेजित होता है, न रोता है; मौन और निस्पन्द पड़ा रहता है। सबके समझाने का भी उस पर कोई असर नहीं होता। अन्त में वह बानू को अपनी माँ के रूप में स्वीकार कर लेता है, उसका मौन टूटता है,[2] वह माँ के

---

1. धर्मपुत्र, पृ 103.
2. 'यह एक तरुण का दिन था। जीवन और तेज से भरपूर तरुण का। जिसकी दुनिया ही बदल चुकी थी, मनसूबे ढह चुके थे. आदर्श छिन्न-भिन्न हो चुके थे। जो अब अपने ही लिये पराया था' धर्मपुत्र, पृ॰ 159

साथ वहाँ से कहीं दूर जाने का निश्चय करता है क्योंकि इस दुनिया में उसके खड़े होने की जगह अब नहीं रही, और अमृतराय के परिवार का भला भी इसी मे है कि दिलीप वहाँ से कहीं दूर चला जाये।'[1] सबके अनुनय-विनय को ठुकराकर वह निकल पड़ता है, लेकिन गाड़ी मे बैठी माया को देख सकने में आ जाता है। इस अनिश्चित अवस्था में माया का प्रेम और उसकी सहानुभूति दिलीप को रोक लेते हैं। उपन्यास के अन्त मे दोनों के विवाह के मंगलमय दृश्य द्वारा लेखक कथा का उपसंहार करता है।

उपन्यास की मूल समस्या :

स्पष्टतः 'धर्मपुत्र' का कथानक एक ऐसी समस्या को लेकर चला है जो किसी सीमा तक शाश्वत कही जा सकती है। समस्या है—धर्म का सीमाबन्धन जन्म एवं रक्त से होता है अथवा परिवेश और संस्कारों से ? गुरुदेव रवीन्द्र ने भी अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'गोरा' में इसी समस्या को उठाया है। निस्सन्देह शास्त्रीजी ने इस महत्वपूर्ण समस्या को यथार्थ एवं मौलिक ढंग से उठाया है, किन्तु कथानक की गति अन्त तक आते-आते इतनी द्रुत हो गयी है कि मूल समस्या पीछे छूट गयी है। अतः समस्या का निष्कर्ष भी पूर्णरूपेण निखर नहीं पाया है। परोक्ष रूप से मूल समस्या का समाधान कथानक मे नहीं दीख पड़ता। किन्तु तनिक ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अप्रत्याशित एवं नाटकीय ढंग से दिलीप और माया का पाणिग्रहण दिखाकर उपन्यासकार ने रक्त एवं जन्म द्वारा प्रवर्तित धर्म विषयक मान्यताओं एवं सीमाबन्धनों को मूल से उखाड़ फेंकने की चेष्टा की है। लेखक अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रगतिशील होता जायेगा, उसकी धर्म-विषयक मान्यताओं में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन आते जायेंगे। जहाँ भी मानव की कोमल वृत्तियाँ परस्पर संघर्ष करने लगेंगी, वहीं धर्म की रक्त, जन्म अथवा संस्कार सम्बन्धी मान्यताएँ स्वयं तिरोहित हो जायेंगी।

विभाजनकालीन परिवेश का चित्र :

इस कथा को प्रस्तुत करने के लिये उपन्यासकार ने विभाजन की पृष्ठभूमि को चुना है। कथाक्षेत्र दिल्ली है, और दिल्ली के विभाजनपूर्व[2] तथा विभाजन के

---

1. धर्मपुत्र, पृ० 161.
2. 'उस समय तक न पाकिस्तान बना था, न हिन्दू-मुस्लिम झगड़े खड़े हुए थे। दिल्ली मे जफर, गालिब, जौक और मीर के कलाम गली-गली घूमते रहते थे। ···हिन्दू पक्के हिन्दू थे, और मुसलमान पक्के मुसलमान। परन्तु इससे उनके आपसी भाइचारे में अन्तर न पड़ता था। परस्पर एक-दूसरे के घर आना-जाना, खाना-पीना होता था।···ब्याह-शादी मे हिन्दू हलवाई, हिन्दू नौकर खाना बनाते-खिलाते और मुसलमान मालिक दूर खड़ा अदब और बेचैनी देखता रहता, सब ठीक तो है। इसे वह अपनी तौहीन नहीं, अपना-अपना अकीदा, अपना-अपना रिवाज समझता था।' धर्मपुत्र, पृ० 26-27.

समय का वातावरण कथा के बीच-बीच में अंकित हुआ है। विभाजन पूर्व के चित्रों में जहाँ हिन्दू मुसलमानों के सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध उभरकर सामने आते हैं, वहाँ विभाजन काल तथा विभाजन के बाद के चित्रों में दोनों के बीच पनपती कटुता तथा हिंसा के चित्र सामने आये हैं।[1] किन्तु ऐसे अंश वर्णनात्मक होने के कारण मन पर कोई संवेदनात्मक प्रभाव छोड़ने में असमर्थ रहते हैं। इनमें बड़े ही सतही ढंग से उस समय का इतिहास दुहराया गया है,[2] इसी कारण ऐसे अंश उपन्यासकार के प्रयास के बावजूद मुख्य कथा भाग से कटे हुए से प्रतीत होते हैं। इन्हें पढ़कर गुरुदत्त की शैली का स्मरण होता है।[3] ऐसे वर्णनों को छोड़ दिया जाये तो उपन्यास का मुख्य कथा भाग निश्चय ही मर्मस्पर्शी है और उसकी मार्मिकता तथा कलात्मकता समस्या की व्याख्या के साथ-साथ जीवन की विविध अवस्थाओं के चित्रण के कारण और बढ़ गई है। कुछ स्थलों पर पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का मार्मिक चित्रण हुआ है। यद्यपि नाटकीयता के समावेश के कारण कथानक मनोविज्ञान का आश्रय छोड़ घटनाओं और संयोगों के सहारे आगे बढ़ने लगता है, किन्तु जहाँ भी कथानक इनसे मुक्त हो मनोवैज्ञानिकता का आश्रय लेता है, उपन्यासकार की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति अत्यन्त सफल रही है।

भैरवप्रसाद गुप्त :

स्वातन्त्र्योत्तर काल के प्रमुख उपन्यासकार भैरवप्रसाद गुप्त की औपन्यासिक विचारधारा मार्क्सवाद से प्रभावित है। साम्यवाद का चित्रण उनके उपन्यासों की मुख्य विशेषता है।

---

1. 'शराब में डूबे हुए और ऐयाशी की आग में झुलसे हुए मुगल तख्त को फिर से वीरान लालकिले में आबाद करने के दिल्ली के मुसलमानों के मनसूबे जैसे पर लगाकर उड़ चले। विभाजन की बातें चल रही थीं। तभी जिन्ना का डाइरेक्ट ऐक्शन दिल्ली में बड़ी-बड़ी तैयारी कर रहा था।'—धर्मपुत्र, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पृ० 138.
2. 'अन्त में भारत का विभाजन हो गया। पाकिस्तान पृथक कर दिया गया।··· पाकिस्तान ने स्वच्छन्द आचरण प्रारम्भ कर दिया और देखते-ही-देखते पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल में मार-काट, लूट, आग, बलात्कार, हत्या का बाजार गर्म हो गया।··· वही, पृ० 138.
3. "···तीन दिन तक दिल्ली की गली-गली, कूचे-कूचे में मार-काट होती रही। पर मुसलमानों का बल टूट गया और वे भयभीत होकर भागने लगे। हिन्दुस्तान की विजय सपना हो गई। पाकिस्तान पहुँचना दूभर हो गया।" वही, पृ० 143

सत्ती मैया का चौरा :

प्रस्तुत उपन्यास 'सत्ती मैया का चौरा' (1959) विभाजन की पृष्ठभूमि से आरम्भ होकर विभाजन के समय की घटनाओं से गुजरता हुआ विभाजन के बाद की परिस्थितियों के चित्रण तक चलता है। यह बृहदकाय उपन्यास चार खण्डों में विभाजित है और सारी कथा उपन्यास के नायक मन्ने के आस-पास घूमती है। मुस्लिम मन्ने की एक हिन्दू मुन्नी से मित्रता के माध्यम से लेखक ने उन तत्वों को उभारा है जो साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ाने के लिये उत्तरदायी रहे। इस क्रम में विभाजन की पृष्ठभूमि भी चित्रित होती चलती है।

बढ़ती हुई साम्प्रदायिकता का चित्रण :

एक छोटे से गांव की पृष्ठभूमि में मन्ने और मुन्नी की बाल्यकाल की घटनाओं और गांव के माहौल के चित्रण के द्वारा लेखक धीरे-धीरे बढ़ते साम्प्रदायिक तनाव और द्वेष को उभारता है। अनेक छोटी-छोटी घटनाएँ स्पष्ट करती है कि किस प्रकार साधारण बातों को साम्प्रदायिकता का रंग दे दिया जाता है। मुसलमान मन्ने जब हिन्दी में परीक्षा देने का निर्णय लेता है, गाँव में हलचल-सी मच जाती है। इस्लामिया स्कूल के मास्टर और प्राइमरी स्कूल के नायब प्रचार करते हैं कि हिन्दू लड़के मुन्नी के मुकाबिले में पण्डितजी ने मुसलमान लड़के मन्ने को खड़ा कर दिया है और यह कि मन्ने तो अब जरूर काफिर हो जायेगा। छमाही इम्तिहान मे मन्ने के अव्वल आने पर कोहराम मच जाता है। लोग मुन्नी को चिढ़ाते हैं—और दोस्ती करो तुरुक से। बड़े पण्डितजी को स्कूल मे आकर कई लोग धमकी दे जाते हैं—इस बात को आगे ले जायेंगे। यह सरासर अन्याय है। हिन्दुओं के स्कूल में मुसलमान अव्वल आ जाय। बड़े पण्डितजी को माफी माँगकर वादा करना पड़ता है कि आगे से कभी ऐसा नही होगा।[1] और मन्ने फिर कभी अव्वल नही आ पाता। साम्प्रदायिक शक्तियाँ मन्ने की योग्यता और प्रतिभा को पराजित कर देती हैं। उसकी योग्यता के कायल पण्डितजी भी इन साम्प्रदायिक ताकतों के सामने निरुपाय नजर आते है और मन्ने के पिता का यह विश्वास कि अगर उनके बेटे मे प्रतिभा है तो कोई ताकत उसे आगे बढ़ने से नहीं रोक सकती, टूटता दिखाई देता है। मुन्नी की मन्ने से घनिष्ठ मित्रता को मुन्नी के धर्म-विद्रोह के रूप में स्वीकारा जाता है। हिन्दुओं की छुआछूत की भावना साम्प्रदायिक वैमनस्य को और उभारती है। इस छुआछूत की जड़ें इतनी गहरी हैं कि मासूम मन्ने को भी इस विभाजक रेखा का ज्ञान हो जाता है कि चूँकि वह मुसलमान है, इसलिये कोई हिन्दू उसके साथ नहीं खा सकता। मुन्नी की जिद पर वह साथ खा तो लेता है, लेकिन कुएँ की जगत पर जब लड़के मुन्नी का तिरस्कार

---

1. सत्ती मैया का चौरा : भैरवप्रसाद गुप्त, पृ० 48.

करते हैं—"तुम जगत पर मत चढ़ना, तुम मुसलमान का जूठा खाते हो।" वह आहत होकर मुन्नी से कहता है "मैं तो कभी भी कुएँ पर पानी नहीं पीता। छोटी-से-छोटी जाति का आदमी भी कुएँ पर मुझसे बड़ा हो जाता है और ऐसी नजर से देखता है, मानो मुझसे छू जाने से ही सब कुछ गन्दा हो जायेगा। मैं तो प्यास से मर जाऊँ लेकिन कुएँ पर न जाऊँ।"[3]

बहुत बाद में बाल्यकाल की इन घटनाओं के बारे में सोचते हुए मन्ने अनुभव करता है कि "ये मजहब, ये धर्म, जिनके प्रवर्तक संसार के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य थे, जिनका उद्देश्य मानवता को ऊँचा उठाना था और मनुष्य के अन्दर श्रेष्ठतर भावनाओं को विकसित करना था, आज केवल ढकोसला रह गये हैं, आज उनकी आड़ में क्या-क्या अनाचार हो रहे हैं; कैसे-कैसे अत्याचार तोड़े जा रहे हैं; किस तरह एक-दूसरे के दिल में एक दूसरे के लिये जहर बोया जा रहा है, एक को दूसरे का शत्रु बनाया जा रहा है‥"[3]

बचपन से आज तक अपने जीवन की घटनाओं के विश्लेषण से मन्ने को यही अनुभव होता है कि जो भी हिन्दू-मुसलमान के संकुचित दायरों से बाहर कदम उठाना चाहता है, उसे भी घसीटकर उसी दायरे में डालने की कोशिश होती है। वह स्वयं इन भावनाओं से दामन बचाना चाहता है, परिणामतः दोनों की शत्रुता के पाटों में पिसकर रह जाता है; दोनों की गालियां सुनता है, दोनों के बीच रुसवा होता है।[4] मुसलमान उसे काफिर कहते हैं और हिन्दू धूर्त मुसलमान। मन्ने ने अपने गाँव के पुरुषों की कहानियाँ सुनी हैं। वे बहादुर और एकता की कीमत जानने वाले लोग थे। लेकिन आज उनकी कहानियाँ बस कहानियाँ बन कर रह गयी हैं। सुख-शान्ति और आपसी भाईचारे का वह माहौल बिल्कुल बदल चुका है, दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे के शत्रु बन गये हैं।[5]

---

1. सती मैया का चौरा : भैरव प्रसाद गुप्त, पृ० 35.
2. वही, पृ० 36.
3. वही, पृ० 50
4. वही, पृ० 50-51.
5. "मन्ने के गांव के पुरखे बहादुर थे, आजादी पसन्द थे और अपनी आजादी के लिए अपना सब कुछ कुर्बान कर देने वाले थे, जो मेल-मुहब्बत और एके की कीमत जानते थे, जो न हिन्दू थे, न मुसलमान थे, सिर्फ इन्सान थे और जो हिन्दू होकर भी मुसलमानों की ईद मनाते थे और मुसलमान हो हिन्दुओं की होली मनाते थे। जो हिन्दू होकर मुसलमानों के मजार बनवाते थे और मुसलमान होकर हिन्दुओं की मठिया बनवाते थे।···आज भी इस गाव में उन कारनामों के कुछ निशान बाकी हैं। आज भी शहीदों के मजार हैं, लेकिन उन पर फातिहा पढने अब सिर्फ मुसलमान जाते हैं···आज होली पर भूल से कोई हिन्दू किसी मुसलमान पर रंग डाल दे, तो बलवा हो जाय; ईद पर आज भूले से कोई मुसलमान हिन्दू के गले मिले तो कौन जाने वह छुरा कलेजे में घुसेड़ दे···।" : वही, पृ० 268-269.

साम्प्रदायिक वैमनस्य के कारणों तथा निदान के उपायों के सम्बन्ध में लेखक का दृष्टिकोण :

इसी तनावपूर्ण माहौल के बीच देश आज़ाद होता है। साम्प्रदायिक दंगे के दौर में कई गाव वाले हिन्दू पड़ोसियों के हाथ अपनी जायदाद बेचकर पाकिस्तान चले जाते है, यद्यपि उस गाँव मे दंगे नही होते। मन्ने उसी गाव मे रहने का निश्चय करता है। आज़ादी के बाद राजनीतिक परिस्थितियाँ तेजी से बदलती हैं। इस बदलते हुए माहौल में कांग्रेस के समर्थक मुन्नी का विश्वास कांग्रेस पर से उठ जाता है, वह कम्युनिस्ट पार्टी का समर्थक बन जाता है। मुन्नी के विचारों के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के कारणो और उसके निदान के उपायो के सम्बन्ध मे लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है। उसके विचार मे साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए हमारे यहाँ जो कोशिशें हुई, वे सुधारवादी ढंग की थी, इसी कारण उनका प्रभाव स्थायी न रहा। पाकिस्तान के बनने के बाद भी साम्प्रदायिकता का यह विष समाज से दूर न हुआ; और यही स्थिति रही तो शायद कभी दूर न होगा।[1] लेखक के मत मे यह लड़ाई ऊपर के तबको की है और यह हमारे देश को सामन्तवाद की देन है। इन लड़ाइयो से हिन्दू या मुसलमान राजाओ, सामन्तो और पूँजीपतियों को ही लाभ हुआ है। आम हिन्दू या मुस्लिम जनता सदैव शोषित रही है। हिन्दुस्तान या पाकिस्तान की वर्तमान स्थिति इस वास्तविकता का प्रमाण है।[2]

लेखक का विश्वास है कि सामन्तवाद और पूंजीवाद के जीवित रहते साम्प्रदायिकता को मिटाना असंभव है। इसका इलाज वह जनता मे वर्ग-चेतना का पैदा होना मानता है। उसके मत से वर्ग-चेतना सम्पन्न आम हिन्दू-मुस्लिम जनता को धर्म के नाम पर भड़काना संभव न होगा।[3] अगर हिन्दुस्तान में मुस्लिम तबके को यहाँ की हिन्दू आबादी में घुलना-मिलना है, साम्प्रदायिक शक्तियों में अपनी रक्षा करनी है तो उसका रास्ता यही है कि वह जनता के लिए कुछ करे, जनता में चेतना का संचार करे।[4] सर्वसाधारण का विश्वास अर्जित कर लेने की शक्ति का मुकाबला

1. "हिन्दू-मुस्लिम एकता के मसीहा, महात्मा गाँधी, स्वयं इस आग को बुझाते-बुझाते, इसी आग की भेंट हो गये।···पाकिस्तान बन गया, लेकिन अब भी हमारे समाज से यह विष न गया और अगर इसी तरह चलता रहा, तो कभी भी न जायगा और यह लड़ाई हमारे समाज को हमेशा खोखला करती रहेगी, उसकी शक्ति का ह्रास करनी रहेगी···।"
   —सत्ती मैया का चौरा, पृ० 593.

2. वही, पृ० 594.
3. वही, पृ० 594
4. वही, पृ० 594.

करना किसी के लिये सम्भव नहीं।[1] बैजक हिन्दू-मुस्लिम समस्या को धार्मिक नहीं, राजनीतिक मानता है। उसके विचार से यदि राजनीति ही साम्प्रदायिकता का अन्त कर सकती है।[2] मुन्नी सर्वसाधारण के भले के लिए गाँव की परती पर स्कूल खोलने की योजना बनाता है, गाँव के लोग प्रसन्नतापूर्वक सहयोग देते हैं। मन्ने भी उसके साथ है। स्कूल खूब अच्छी तरह चलने लगता है और मन्ने सर्वसम्मति से मंत्री चुन लिया जाता है। उसके विरोधी मन्ने की लोकप्रियता को सहन नहीं कर पाते, हर तरह से उसके मार्ग में रोड़े अटकाते हैं। हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को उभारने के लिये वे सत्ती मैया के चौरे का प्रश्न उठाते हैं। वे चाहते हैं कि 'इन लोगन को ऐसा तंग करना चाहिये कि ई सारन पाकिस्तान भाग जायँ। किसानों को लालच दिलाना चाहिये कि वे इनको भगाने में साथ दें, तो इनके भाग जाने पर इनके सारे खेत उनमें बाँट दिये जायेंगे।[3] लेकिन आज का सर्वसाधारण धार्मिक मुद्दों पर भड़कने की बेवकूफी करने को तैयार नहीं। जनता को बरगला कर स्वार्थ साधने वालों की पहचान उसे हो गयी है। इसी कारण वह मन्ने जैसे लोगों के साथ है, क्योंकि उसे मालूम है कि उसका दोस्त कौन है और दुश्मन कौन।[4] इस चेतना के कारण ही सत्ती मैया के चौरे का प्रश्न शान्तिपूर्वक निपट जाता है। मुन्नी को मालूम है कि विरोधियों ने बहुत सोच-समझकर सत्ती मैया के चौरे का प्रश्न उठाया है। इसमें वे सफल हो गये तो मन्ने जैसे लोगों का गाँव में रहना नामुमकिन हो जायगा। इसीलिये वे जनसंघ को इस मामले में ले आये हैं।[5] गाँव की जनता यदि आज भी धर्म के नाम पर बहका दी गयी, महाधर्मों के हथकण्डों की शिकार हो गयी तो मुन्नी समझ लेगा कि उसकी आज तक की मेहनत व्यर्थ हो गयी, वे लोग परास्त हो गये, और गाँव फिर वहीं पहुँच गया, जहाँ से उन लोगों ने इसे उठाने का प्रयास किया था।[6] वह समझता है कि स्कूल और इस सत्ती मैया के चौरे के रूप में हमारा संघर्ष एक ऐसी मंजिल पर पहुँच गया है, जिसके आगे गाँव की तरक्की का दरवाजा हमेशा के लिये खुल जाता है।[7]

पंचायत की सभा में विरोधी पराजित होते हैं। सर्वसम्मति से यह निश्चय किया जाता है कि सब लोग अपने हाथ से चबूतरा चार हाथ पीछे हटा दें। मन्ने

1. सत्ती मैया का चौरा, पृ० 605.
2. वही, पृ० 605.
3. वही, पृ० 649.
4. वही, पृ० 663.
5. वही, पृ० 678.
6 वही, पृ० 679-680
7 वही, पृ० 680

और मुन्नी एक दूसरे की ओर देखकर सोचते है—'जिन लोगों ने चबूतरा बनाया है, उन्हे विश्वास है कि उस चबूतरे पर कोई हिन्दू हाथ नही लगायेगा।......और यह जनता की भीड़, जिसमें हिन्दू-ही-हिन्दू हैं, सत्ती मैया की जय-जयकार करते हुए उनका चबूतरा तोड़ने जा रही है।'[1]

मुन्नी को याद आता है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या मन्ने और मुन्नी के लिये, पूरे गाँव के लिये हमेशा सिर-दर्द रहा। लेकिन आज उसे लगता है कि यह समस्या हल होने के रास्ते पर आ गयी है। सत्ती मैया के चौरे पर आज उन्होंने जो दृश्य देखा है, वह साधारण नही है। मुन्नी सोचता था 'पुलिस आयेगी, जनसघ के स्वयं सेवक आयेंगे, पंचायत इन्सपेक्टर आयेगा और कुछ-न-कुछ बावेला जरूर मचेगा। फिर यह भी भय था कि कुछ हिन्दू जरूर मुखलिफत करेंगे। लेकिन किसी ओर से एक अंगुली भी न उठी......'[2]।

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने लगभग एक सदी के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक इतिहास को दृष्टि में रखकर साम्प्रदायिकता की समस्या तथा विभाजन के कारणो का प्रगतिवादी दृष्टि से व्याख्या और विश्लेषण का प्रयास किया है।

फणीश्वरनाथ रेणु :

'कितने चौराहे' :

फणीश्वरनाथ रेणु के अन्तिम उपन्यास 'कितने चौराहे' (1966) मे मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करने वाले जीवन्त राष्ट्र की प्राणवती गाथा प्रस्तुत की गई है।

उपन्यास का प्रारम्भ 1942 ई० के आन्दोलन में अररिया कोर्ट की सरकारी ट्रेजरी पर झण्डा फहराने का प्रयास करते किशोरों के बलिदान से होता है। इन शहीदों के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम दंगे मे एक औरत को बचाते समय किशोर सूर्यनारायण अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के समान छूरे का शिकार बनकर शहीद हो गया है। सूर्यनारायण के समान ही इस दंगे मे सूर्यनारायण के शिक्षक हफीज साहब भी शरीर पर किरासन डाल कर जिन्दा जला दिये गये है। सूर्यनारायण और हफीज साहब के जनाजे जब चौराहे पर आकर मिलते है, तो सारा वातावरण 'राम-रहीम न, जुदा करो भाई' की भावना से भर उठता है। जनाजों के मिलन का यह चौराहा 'मन्दिरो मे है खुदा और मस्जिदों मे राम है' की भावना का स्थल है। प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता से निरपेक्ष रह कर देश सेवा की भावना को किशोरो के

---

1. सत्ती मैया का चौरा, पृ० 717.
2. वही, पृ० 720.

मन से हृदमूल करने के उद्देश्य से ही रेणुजी ने इस उपन्यास की रचना की है। इस उपन्यास में बिखरे हुए हिन्दू राष्ट्र के इधर उधर पुनर्निर्मित होते हुए उस परिवार-समाज की झाँकी भी है जो विभाजन के बाद स्वरूप ले रहा है।

शुकदेव बिहारी मिश्र और प्रतापनारायण मिश्र :

स्वतन्त्र भारत :

शुकदेव बिहारी मिश्र और प्रतापनारायण मिश्र का 'स्वतन्त्र भारत' बारह परिच्छेदों में विभाजित उसी कोटि का उपन्यास है, जिसमें भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास की कथा को क्रमिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास के पंचम अध्याय में उन कारणों का राजनीतिक विवरण है, जिनके फलस्वरूप राष्ट्र को स्वतन्त्रता मिली और साम्प्रदायिक दंगे हुए। विभाजन के समय हुए नरसंहार तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कश्मीर पर हुए आक्रमण को भी चित्रित किया गया है। यद्यपि सन् 1921 से कश्मीर आक्रमण तक की राजनीतिक घटनाओं को उपन्यास में सग्रथित किया गया है, तथापि राजनीतिक उपन्यास के रूप में 'स्वतन्त्र भारत' एक राजनीतिज्ञ की भूमिका के बावजूद बचकाना प्रयास बनकर रह गया है। राजनीतिक तथ्यों एवं उपन्यास के स्वरूप, दोनों दृष्टियों से यह एक असफल रचना है। कथावस्तु का सम्यक् निर्वाह नहीं हो पाया है। अस्वाभाविकताओं से परिपूर्ण होने के कारण वह पाठक को प्रभावित भी नहीं कर पाती। भाषा-शैली की दृष्टि से भी उपन्यास निम्न कोटि का है।

नई इमारत :

'नई इमारत' (1947) शीर्षक उपन्यास में श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने बयालीस की क्रान्ति के चित्रण के साथ साम्प्रदायिक एकता तथा समाजवादी विचार-धारा के प्रतिपादन का प्रयास किया है।

महमूद और आरती के प्रणयप्रसंग को कथा का केन्द्र बिन्दु बनाकर राजनीतिक घटनाओं, विचारधाराओं तथा समस्याओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। हिन्दू-मुस्लिम अलगाव जैसी राजनीतिक और सामाजिक समस्या का हल महमूद तथा आरती एवं बलराम तथा शमीम के बीच प्रेम की उद्भावना द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। शीला के शब्दों में "आरती की शादी महमूद के साथ करके आप देश के सामने राष्ट्रीयता का पवित्र आदर्श रखेंगे। जो सुनेगा आपकी अखण्ड मानवता के सामने सम्मान और सम्भ्रम से नत हो जायगा।"[1] महमूद उस धर्म की कटुतम आलोचना करता है जो इन्सान में भेद उत्पन्न कर राष्ट्रीय एकता के विकास में बाधक बनता है। उसके शब्दों में "इन्सान में भेद-भाव पैदा

1. नई इमारत—रामेश्वर शुक्ल अंचल, पृ० 56.

करने वाले धर्म का अब खात्मा होना चाहिये। गुजरे जमाने मे उसने फायदा पहुँचाया होगा। अब वह मुर्दा हो चुका है। हमें उसे गाड़ देना चाहिए—थोड़े से आँसू बहाकर ही सही। तभी सच्चे, श्रेष्ठ और स्थिर मानव मन को वह पावन स्पर्श मिलेगा जो मनुष्यता पर उसके खोये विश्वास को जागृत करे।"[1]

ब्रिटिश शासन द्वारा दोनो सम्प्रदायो के बीच फूट डालने से प्रयासों का भी चित्रण हुआ है।

महमूद और आरती के प्रेम की मौलिक उद्भावना साम्प्रदायिक एकता के लक्ष्य को सामने रखकर की गई है। इस रूप में सामाजिक परम्परागत रूढ़ियों और राजनीतिक दासता का उन्मूलन उपन्यास के पात्रो की जीवन प्रेरणा है।

विष्णु प्रभाकर :

निशिकान्त :

'निशिकान्त' गाँधी युग का उपन्यास है, जिसमे सन् 1920 से 1939 की अवधि का घटनाचक्र वर्णित है। कथा मे साम्प्रदायिक समस्या को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। यह निशिकान्त नामक मध्यवर्गीय कथाकार की कहानी है जो देश भक्त, चरित्रवान युवक है। आर्यसमाजी निशिकान्त हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियो की भिन्नता को स्वीकारते हुए भी साम्प्रदायिक समस्या को आर्थिक व राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखने का पक्षपाती है। हिन्दू-मुस्लिम दंगो मे निशिकान्त की प्रेयसी कमला का पति मोहन कृष्ण मारा जाता है। जीवन-यापन हेतु कमला अध्यापिका बन जाती है। भयानक मानसिक संघर्ष के बाद निशिकान्त कमला को स्वीकार कर लेता है। निशिकान्त के राष्ट्रीय कार्यक्षेत्र मे भाग लेने के कारण स्वतन्त्रता-संघर्ष की कहानी का समावेश स्वाभाविक रूप से हुआ है।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या को चित्रित करने के कारण उपन्यास मे पहले तो सुरैया और हबीब जैसे पात्रों को बहुत महत्व मिला, पर बाद मे लेखक इनके साथ समुचित न्याय नही कर पाया। इस उपन्यास मे हिन्दू-मुस्लिम समस्या के साथ-साथ बेकारी और जातिभेद जैसी समस्याओं को भी राजनीतिक भावभूमि पर देखने का प्रयास हुआ है, किन्तु प्रेम की समस्या, भले ही उसके पीछे गाँधीवादी दृष्टिकोण ही काम कर रहा है; प्रमुख है।

देवेन्द्र सत्यार्थी :

कठपुतली :

'कठपुतली' (1954) में मध्यवर्गीय जीवन के विभिन्न पक्षो के यथार्थवादी

---

1. नई इमारत, पृ० 33.

दृष्टि से मूल्यांकन के साथ राष्ट्र विभाजन की घटना का विस्तृत चित्रण भी मिलता है। यह अपने ढंग का प्रथम उपन्यास है जिसमें एक कलाकार के अनुभूतिशील हृदय का आधार लेकर विभाजन की प्रतिक्रियाओं और परिणामों को चित्रित किया गया है। बंटवारे के परिणामस्वरूप सदियों से शान्तिपूर्वक साथ रहने वाला जनजीवन विच्छिन्न हो जाता है, पाले-पोसे सारे रिश्ते एक झटके में ही टूटकर बिखर जाते हैं। राजनीतिक निर्णय मानव-जीवन को किस तरह विपन्न बना देता है, 'कठपुतली' मे इसका अच्छा दिग्दर्शन हुआ है। उपन्यास का नायक सुनील नाटककार के रूप मे लाहौर मे ख्याति अर्जित करता है और उसकी ड्रामापार्टी तथा उसके कलाकार जन-जीवन मे एक विशिष्ट स्थान बना लेते हैं। इसी बीच साम्प्रदायिक संघर्ष होता है और सुनील विस्थापित के रूप मे दिल्ली पहुँचता है। उस क्रूर नरमेध के सम्मुख सुनील का कलाकार मन अपने आपको बिल्कुल निरुपाय और निरीह अनुभव करता है। उसका व्यक्तित्व खण्ड-खण्ड हो जाता है और वह अपनी सर्गशक्तियों के विकास मे असमर्थ-सा हो जाता है। व्यक्तित्व और सामाजिक जीवन का द्वन्द्व उसे उद्विग्न करता है। फलतः उसका कलाकार कुण्ठित हो जाता है और वह अपने आपको एक असहाय, जड़ स्थिति में पाता है। इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास मे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को राष्ट्र विभाजन की पृष्ठभूमि में यथार्थ की भूमिका पर देखने का प्रयास किया गया है। किन्तु सामाजिक जीवन और पात्रों को सहानुभूति प्रदान करने पर भी सत्यार्थीजी मनुष्य के मनस्तत्वों का अध्ययन भली-भाँति नही कर सके हैं।

बलवीर त्यागी :

तूफान के उस पार[1] :

बलवीर त्यागी रचित यह उपन्यास साम्प्रदायिकता की समस्या को आधार बनाकर चलता है। वीरेन्द्र और हमीद बचपन के मित्र हैं। मातृ-पितृ-हीन वीरेन्द्र चाचा-चाची की उदासीनता से दुःखी होकर हमीद के साथ गाँव छोड़कर शहर चला जाता है। जीवन मे अनेक प्रकार के उतार-चढाव झेलता हुआ वीरेन्द्र सेना मे भर्ती हो जाता है। इसी समय भारत की स्वतन्त्रता के बाद होने वाले साम्प्रदायिक दंगे उसकी समस्त आस्थाओ को हिलाकर रख देते हैं। उसे अपने मित्र हमीद की याद आती है। तभी कश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण होता है। सुरक्षा-सैनिक-दस्तों के साथ वीरेन्द्र भी मोर्चे पर जाता है। युद्ध मे उसका एक हाथ जाता रहता है। अपंग वीरेन्द्र अस्पताल और यूनिट से छुट्टी पाकर अपने गाँव निजामपुर के लिये चल पड़ता है। रास्ते में ही उसकी मुलाकात हमीद से होती है। हमीद की सहायता से

1 तूफान के उस पार बलवीर त्यागी

वह जीवन में प्रगति करता है। हमीद की पत्नी अपने एक सम्बन्धी की पुत्री शहनाज से उसका विवाह भी करा देती है ।

साम्प्रदायिकता को आधार बनाकर लिखे गये इस उपन्यास मे घटनाओं का बाहुल्य है। साम्प्रदायिकता कब और कैसे पनपती है, उपन्यास में मनोवैज्ञानिक ढंग से इसका चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। हिन्दू-मुस्लिम एकता का उपदेश लेखक ने दो दोस्तों की सच्ची मित्रता के माध्यम से दिया है। हमीद और वीरेन्द्र की गहरी, अटूट दोस्ती के माध्यम से वह इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि बचपन के संस्कार आजीवन अपना रूप नही बदलते। युद्ध और दंगो मे कार्यरत मनुष्य की हिंसक मानसिकता का चित्रण करते हुए लेखक प्रेम और शान्ति की महत्ता का प्रतिपादन करता है।

विभाजन की पृष्ठभूमि पर रचित उपन्यास साहित्य के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि किसी भी उपन्यास की रचना-प्रक्रिया में विभाजन के प्रति लेखक के दृष्टिकोण की प्रभावकारी भूमिका है। लेखकीय दृष्टिकोण से विभाजन पर लिखे गये उपन्यासो को तीन वर्गों मे बाँटा जा सकता है—

पहले वर्ग के उपन्यासकार विभाजन को मुख्यतः राजनीतिक और धार्मिक समस्या स्वीकार करते हैं। राजनीतिक अदूरदर्शिता तथा सत्ता के प्रति व्यक्तिगत आकर्षण के कारण ही विभाजन हुआ—ऐसी इनकी मान्यता है। अपनी रचनाओ मे इन्होंने इस घटना के लिये उत्तरदायी राजनीतिक व्यक्तित्व अथवा तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण अधिक किया है। कांग्रेस तथा कांग्रेस के नेता इनकी आलोचना के मुख्य लक्ष्य हैं। यह वर्ग साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का पक्षधर है। हिन्दुओ के प्रति इनकी सहानुभूति अधिक है। श्री गुरुदत्त ऐसे साहित्यकारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पक्षधरता का यह स्वर कहीं-कहीं आचार्य चतुरसेन शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा, रघुवीर शरण मित्र के उपन्यासों मे भी सुनाई पड़ता है।

दूसरे वर्ग ऐसे साहित्यकारो का है जो विभाजन की यंत्रणा को भोग चुका है। इसी कारण विभाजित प्रदेशो की विभाजन पूर्व, विभाजनकाल तथा विभाजन के बाद की स्थितियो के परिचित ही नहीं, उनसे बंधा हुआ भी है। सम्पूर्ण स्थिति के तटस्थ चित्रण का प्रयास इन्होने किया है, किन्तु एक विशेष विचारधारा से प्रतिबद्ध होने के कारण इनके मार्क्सवादी विचार तटस्थता मे बाधक बन जाते हैं। हाँ, विभाजनकाल की दारुण परिस्थितियों, अनाचार और क्रूरता का अत्यन्त तटस्थ चित्र ऐसे लेखकों ने खीचा है। ये हिन्दुओं की आर्थिक सम्पन्नता तथा मुस्लिम वर्ग की दरिद्रता को ही विभाजन के लिये कारणीभूत मानते हैं। इस वर्ग के प्रतिनिधि यशपाल हैं।

तीसरे वर्ग में वे उपन्यासकार है जो विभाजन को मानवमन की समस्या

मानते हैं। इसी कारण इनका ध्यान विभाजन के शिकार निरीह और पीड़ित जन-सामान्य पर केन्द्रित रहा है। विभाजनकाल की क्रूर घटनाओं के यथातथ्य चित्रण की अपेक्षा इन कथाकारों ने नफरत की आग के उस स्रोत का पता लगाने का प्रयास अधिक किया है, जो विभाजन के मूल में वर्तमान है। इस वर्ग के कथाकारों के अनुसार विभाजन मनुष्य के उस क्रूर मन की समस्या है, जो अनुकूल वातावरण पाकर उभर उठता है। क्रूरता किसी समुदाय अथवा धर्मविशेष की प्रवृत्ति नहीं, मानवमन की समस्या है। नफरत की यह आग उसके मन में कब और कैसे उभर उठती है, इसका विवेचन इन उपन्यासकारों ने किया है। इस वर्ग के लेखकों में राही मासूम रजा, कमलेश्वर, भीष्म साहनी आदि प्रमुख हैं।

उपन्यास साहित्य के इस विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि विभाजन पर लिखा गया उपन्यास साहित्य संख्या में अधिक होने पर भी रचनात्मक क्षमता की दृष्टि से अत्यल्प है। अधिकांश उपन्यास वस्तुस्थिति का चित्रांकन भर करके अपने उद्देश्य की इतिश्री समझ लेते हैं। इन उपन्यासों में घटनाएँ और सूचनाएँ तो हैं, किन्तु इन घटनाओं के बीच डूबते-उतराते, संघर्षों से जूझते मानवीय संवेगों का उतार-चढ़ाव नहीं है। उनके रचाव में वह आन्तरिक संघर्ष नहीं है जो उपन्यास को औपन्यासिक विशिष्टताओं से परिपुष्ट करता है उपन्यास पढ़ते हुए जिस रसोद्रेक की उपलब्धि होती है, वह सतही है और अपनी परिणति में प्रभावहीन। यही कारण है कि ऐसे उपन्यास हिन्दी साहित्य में अपना कोई विशिष्ट स्थान नहीं बना सके। इनके विपरीत जिन उपन्यासों में घटनाप्रवाह में बहते हुए मनुष्य के संघर्षों, उसके भावोद्वेग और संघर्षों का आरोह-अवरोह प्रतिबिम्बित हुआ है, वे उपन्यास जहाँ अपनी परिणति में एक सूक्ष्म प्रभाव उत्पन्न करते हैं, वहीं उनके रचाव में एक आन्तरिक संगठन और तनाव है जो औपन्यासिक रस को आद्योपान्त अपने सूक्ष्म स्तरों पर प्रवाहित रखता है। निस्सन्देह ऐसे उपन्यास अपनी कुछ खामियों के बावजूद हिन्दी साहित्य में चिरस्मरणीय हैं। रचनात्मक स्तर पर कुछ विशिष्ट उपलब्ध कराने वाले इन उपन्यासों का विश्लेषण अन्तिम अध्याय में विस्तार पूर्वक किया गया है।

भारत विभाजन सम्बन्धी साहित्य : एक मूल्यांकन

पिछले अध्यायों में भारत-विभाजन की त्रासदी पर आधारित हिन्दी कथा-साहित्य की विवेचना की गयी। इस अध्ययन से यह स्पष्ट हुआ कि विभाजन की पृष्ठभूमि पर लिखे गये उपन्यास एवं कहानियों की संख्या काफी है जिनमें विभाजन की पूर्वपीठिका, घटनाक्रम तथा उससे उत्पन्न समस्याओं का चित्रण किया गया है। प्रस्तुत अध्याय मे विभाजन की घटना पर रचित कथा-साहित्य के सर्जनात्मक स्तर की विवेचना के द्वारा इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने की चेष्टा की गयी है कि विभाजन पर रचित साहित्य केवल संख्या में अधिक है अथवा संख्या के अनुरूप उसका साहित्यिक मूल्य भी है। विभाजन भारतीय इतिहास को ही नही, मानवता के इतिहास की भीषणतम घटना है। इस त्रासदी को आसानी से भुला देना सम्भव न था। एक विशाल जनसमूह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे इस घटना से प्रभावित हुआ था। इस बात की काफी सम्भावना थी कि विभाजन पर लिखा जाने वाला साहित्य, साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि हो। इतिहास की इस युग-परिवर्तनकारी घटना और उसकी कल्पनातीत परिणति को एक व्यापक चित्रफलक पर अंकित कर महान् कलाकृतियाँ प्रस्तुत करने की काफी सम्भावनाएँ थी। किन्तु क्या ऐसा हुआ है ? क्या विभाजन जैसी सर्वग्राही विभीषिका को लेकर हिन्दी साहित्य में ऐसी कृतियो की रचना हुई, जिन्हें महान् कथाकृति अथवा अमूल्य साहित्यिक निधि के रूप मे स्वीकार किया जा सके ? विभाजन की घटना पर आधारित कृतियो के सर्जनात्मक स्तर, उनमे चित्रित समस्याओं तथा उनके पीछे काम करते लेखकीय दृष्टिकोण के परीक्षण द्वारा ही इस प्रश्न का उत्तर मिल सकता है।

चित्रित समस्याएँ :

विभाजन सम्बन्धी साहित्य के सर्वेक्षण के बाद यह स्पष्ट होता है कि इनमे तत्सम्बन्धी समस्याओं का चित्रण तीन प्रमुख रूपों में हुआ—

1. परिवेशगत
2. मानवीय
3. मूल्यगत

दूसरे अध्याय में विभाजन से उत्पन्न समस्याओं तथा तीसरे एवं चौथे अध्याय मे हिन्दी कथा-साहित्य में इन समस्याओ के चित्रण पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ हिन्दी कथा-साहित्य में तत्सम्बन्धी समस्याओ के चित्रण के सर्जनात्मक स्तर की समीक्षा की गयी है।

1. परिवेशगत समस्याओं के चित्रण का सर्जनात्मक स्तर :

परिवेश के दो रूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य परिवेश व्यक्ति की क्रिया या प्रतिक्रिया का द्योतक है और आन्तरिक परिवेश उसके मानसिक आन्तरिक संघर्षों तथा बाह्य परिवेश के प्रति उसके आन्तरिक संघर्ष की प्रतिक्रिया का सूचक। विभाजन कालीन असामान्य परिवेश से उद्वेलित हो हिन्दी कथाकार ने साहित्य में परिवेश के बाह्य रूप के साथ-साथ परिवेश के दबाव से प्रभावित और परिवर्तित मानव हृदय की सूक्ष्म वृत्तियों का भी चित्रांकन किया। कथाकार के दृष्टिकोण, उसकी अनुभूति क्षमता तथा अभिव्यक्ति शैली में भिन्नता के कारण परिवेश चित्रण के स्तर में भी भिन्नता रही। विभाजन की पृष्ठभूमि पर आधारित इन कृतियों में परिवेश चित्रण के दो रूप मिलते हैं—एक में परिवेश का यथातथ्य चित्र अंकित किया गया है; दूसरे में मनुष्य को प्रभावित तथा उसके अन्तर्हृदय को उद्वेलित करने वाले परिवेश के दबाव का चित्रण हुआ है। परिवेश चित्रण के पहले प्रकार में कथाकार का ध्यान वस्तु स्थिति के चित्रण पर केन्द्रित होने के कारण विभाजन का क्रूर परिदृश्य सीधे-सपाट रूप में ऐसी रचनाओं में अंकित हुआ है। गुरुदत्त, रघुवीर शरण मित्र और कुछ हद तक चतुरसेन शास्त्री की कथाकृतियों में परिवेश-चित्रण का यही रूप देखने को मिलता है।

परिवेश-चित्रण के दूसरे प्रकार में कथाकार का ध्यान सम्वेदना के सूक्ष्म धरातल पर परिवेश के प्रभाव के चित्रण की ओर रहा है। अज्ञेय, कमलेश्वर, मोहन राकेश, राही मासूम रजा, बदीउज्जमाँ, विष्णु प्रभाकर जैसे कथाकारों का परिवेश-चित्रण इसी स्तर का है। वस्तुस्थिति का चित्रण इतिवृत्तात्मक होने के कारण उस प्रभाव की सृष्टि नहीं कर पाता, जिसकी सृष्टि वस्तुस्थिति के अन्दर प्रवाहित भावात्मक स्थिति के बिम्बांकन से हो सकती है। वस्तुस्थिति का यथातथ्य चित्रण संवेदना के सूक्ष्म स्तर पर पाठक को प्रभावित नहीं करता, जबकि वस्तुस्थिति के अन्दर प्रवाहित रस का चित्रण हृदय का स्पर्श कर पाठक के भावों एवं संवेगों को उद्वेलित कर देता है; इसी कारण उसका प्रभाव चिरस्थायी होता है। गुरुदत्त तथा अज्ञेय के परिवेश चित्रण के उदाहरणों द्वारा इस अन्तर को समझने में मदद मिल सकती है। गुरुदत्त के उपन्यास 'देश की हत्या' में विभाजन कालीन हिंसक परिवेश का चित्रण इस रूप में हुआ है"……पंजाब भर में गृहयुद्ध आरम्भ हो गया था। चार-पाँच मार्च तक लाहौर, रावलपिण्डी, पेशावर, मुलतान, सरगोधा इत्यादि स्थानों में हिन्दुओं पर मुसलमानों ने आक्रमण कर लूट मचा दी थी।……लाहौर में मार्च मास के मध्य तक, मोची दरवाजे में पीपल वेहड़ा का पूर्वी भाग, किनारी बाजार, मुहल्ला सर्थां इत्यादि हिन्दू स्थान जलाकर भस्म कर दिये गये।"[1] प्रस्तुत अंश अपनी इतिवृत्ता-

1. देश की हत्या—गुरुदत्त, पृ० 110.

त्मकता के कारण हृदय पर संवेदनात्मक प्रभाव डालने में असमर्थ रहता है। दूसरी ओर अज्ञेय का परिवेश चित्रण अपनी सूक्ष्म सांकेतिकता के कारण विशिष्ट एवं प्रभावपूर्ण बन पड़ा है। अज्ञेय की 'शरणदाता' कहानी क्रूर परिवेश में प्रवाहित सूक्ष्म संवेदना के चित्रण द्वारा परिवेश के दबाव को महसूस कराती है—"विषाक्त वातावरण, द्वेष और घृणा की चाबुक से तड़फड़ाते हुए हिंसा के घोड़े, विष फैलाने को सम्प्रदायों के अपने संगठन और उसे भड़काने को पुलिस और नौकरशाही। देविन्दर लाल को अचानक लगता कि वह और रफीकुद्दीन ही गलत हैं जो कि बैठे हुए हैं जब कि सब कुछ भड़क रहा है, उफन रहा है, झुलस और जल रहा है ......"[1] यहाँ परिवेश का वर्णनमात्र नहीं है, बल्कि परिवेश को आधार बनाकर उस समय के मनुष्य के ऊपर पड़ने वाले उसके सम्पूर्ण प्रभाव का अंकन किया गया है। परिवेश की अमानवीयता का चित्रण यहाँ सांकेतिक रूप में है, जिसमे पाठक को मनुष्य पर पड़ने वाले परिवेश के दबाव को महसूस करने का मौका मिलता है। जबकि गुरुदत्त का इतिवृत्तात्मक परिवेश चित्रण मानो पाठक की उंगली पकड़ कर ले चलता है; उसे सोचने का मौका ही नही मिलता। वस्तुत: "आँखों देखी जिन्दगी, भोगे हुए यथार्थ तथा जाने पहचाने दर्द को प्रस्तुत करते समय कलाकार को एक दृष्टि और विवेक की आवश्यकता होती है, ताकि रचना की सृजनात्मकता नि:शेष न हो और वह मात्र दस्तावेज न बने। तभी वह यथार्थ और उसमे अन्तर्निहित दर्द पाठक को प्रभावित करता है।"[2] यह दृष्टि और विवेक अज्ञेय, भीष्म साहनी, जगदीशचन्द्र, यशपाल, मोहन राकेश जैसे कथाकारों के पास है, इसी कारण इनकी कृतियाँ परिवेश का यथार्थ चित्रण करते हुए भी ऐतिहासिक दस्तावेज नही बनतीं; बल्कि परिवेश के दबाव से टूटते मनुष्य की वेदना के संवेदनात्मक चित्रण के कारण वे अधिक यथार्थ, अधिक प्रामाणिक तथा जीवन्त बन पड़ी हैं। परिवेश की प्रामाणिकता की सही तलाश ने इन कथाकारों की रचनाओं मे जीते-जागते व्यक्ति को उसकी समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है। व्यक्ति के जिस परिवेश का उन्होंने चित्रण किया है, वह लेखकीय आरोपण प्रतीत नही होता। व्यक्ति और परिवेश की प्रामाणिकता का उदाहरण है मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' जिसमें विभाजन कालीन परिवेश से उत्पन्न त्रासद स्थितियों का यथार्थ परक चित्रण है। इस कहानी मे विभाजन के अमानवीय परिवेश के शिकार वृद्ध गनी मियाँ का व्यक्तित्व विभाजन की त्रासदी को साकार कर देता है।

अपनी भूमि से उजड़े और उखड़ने को विवश जन-समुदाय की दयनीय दशा का चित्रण भी अलग-अलग कथाकारों की कृतियों मे अलग-अलग ढंग से हुआ। जहाँ

---

1. 'शरणदाता'—अज्ञेय : अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ—भाग 2, पृ० 244.
2. चन्द्रकान्त वांदिवडेकर : समीक्षा फरवरी-अप्रैल 1977, पृ० 39.

गुरुदत्त की रचनाओं में शरणार्थियों की दयनीयता का तथ्यपरक, विवरणात्मक चित्र है"...पाकिस्तान बनने के कारण हिन्दू-मुसलमान में भारी घृणा और द्वेष फैल चुका था और इसके परिणामस्वरूप दोनों ओर से मार-मार कर निकाले गये विस्थापितों का दबाव भी बहुत प्रबल था। अपने घरों और व्यवसायों से धकेलकर निकाले गये लोग सीमा के दोनों ओर के नगरों की सड़कों, पटरियों, रेल के प्लेटफार्मों और मस्जिदों, धर्मशालाओं, यहाँ तक कि टूटे-फूटे खण्डहरों में आश्रय ढूँढते फिरते थे।"[1] वहाँ भीष्म साहनी के 'तमस' में आश्रय की तलाश में भटकते बन्तो और हरनामसिंह का चित्र परिवेश के दबाव से विवश मनुष्य की असहायता के साथ-साथ परिवेश की भयावहता को भी मूर्त कर देता है "......इस समय केवल ये दो ही नहीं, अनगिनत लोग दर्जनों गाँवों में से इसी भाँति जान बचाते घूम रहे थे, अनेक लोगों के कानों में टूटते किवाड़ों की आवाजें पड़ रही थीं। पर उनके पास न सोचने के लिए वक्त था, न भविष्य के मनसूबे बाँधने के लिए। वक्त था जैसे-तैसे जान बचा पाने के लिए। उस वक्त तक चलते जाओ जब तक रात के साये तुम्हें अपनी ओट में लिए हुए हैं। शीघ्र ही दिन चढ़ आयेगा और जिन्दगी के खतरे चारों ओर से भूखे भालुओं की तरह हमला कर देंगे।"[2] अनेक कथाकारों ने परिवेश के दबाव से उत्पन्न जीवन की विसंगतियों और जटिलताओं को यथार्थ परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित किया तथा सामाजिक सन्दर्भों में उत्पन्न नई स्थितियों को प्रामाणिकता के साथ अभिव्यक्ति दी। मोहन राकेश की कहानी 'क्लेम' तथा 'परमात्मा का कुत्ता', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी 'पतझड़', फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'जलवा', कमलेश्वर की कहानी 'भटके हुए लोग' तथा राही मासूम रजा के उपन्यासों में बदलते परिवेश तथा समय सत्य का सीधा साक्षात्कार मिलता है। परिवेश का चित्रण व्यक्ति के अतिरिक्त परिवार एवं समाज के विभिन्न सम्बन्धों को लेकर भी हुआ। विभाजन के बाद होने वाले परिवर्तनों ने परिवार और समाज के परम्परागत सम्बन्धों पर प्रश्न-चिह्न लगा दिये। पारिवारिक सदस्यों के आपसी सम्बन्ध तथा पारिवारिक मर्यादाएँ भी बदलते परिवेश से प्रभावित हुईं। मोहन राकेश की 'कम्बल' कहानी इस परिवर्तन को बड़ी कुशलता से रेखांकित करती है।[3]

---

1. 'दीन-दुनिया'—गुरुदत्त, पृ० 61-62.
2. 'तमस'—भीष्म साहनी, पृ० 187.
3. रामसरन ने सुन लिया। वह बाप है। कभी उसे अपने उत्तरदायित्व का पूरा ज्ञान था। अधिकार का पूरा दावा था। बच्चों को पीटकर बपौती का कर्त्तव्य उसने वर्षों तक निभाया। पर आज खाँसते-खाँसते देह दोहरी होने लगती है।......अब उसके कर्त्तव्य अपने तक ही सीमित हैं।...... माँ-बेटी के ऊपर पहरेदार के से स्वत्व की बागडोर उसने अनजाने में या जानबूझ कर ढीली हो जाने दी है। जानता है कि ढहते घर की ईंटों पर गारे का लेप नहीं चलेगा।
—'कम्बल'—मोहन राकेश : वारिस : पृ० 102-103.

2. मानवीय समस्याओं के चित्रण का सर्जनात्मक स्तर :

विभाजन से उत्पन्न मानवीय समस्याओं के अनेक स्तर हैं। मनुष्य की भावनाओं और संवेदनाओ का कोई अन्त नही है। दोनों सम्प्रदायों के बीच पनपने वाला अविश्वास, विभाजन के पहले और बाद में हुए साम्प्रदायिक दंगे, निरपराध मनुष्य का रक्तपात, सम्बन्धों के टूटने की पीड़ा, अपनी भूमि से उजड़ने और उखड़ने की वेदना, विस्थापित के रूप में नये देश मे बसने की समस्या, स्त्रियों की दयनीय स्थिति जैसी अनेकानेक मानवीय समस्याएँ विभाजन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई। मानवीय करुणा एवं संवेदना के ये विभिन्न आयाम विभाजन सम्बन्धी कृतियों का आधार बने। अज्ञेय, मोहन राकेश, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, राही मासूम रजा, बदीउज्जमां जैसे कथाकारों की रचनाएँ विभाजन से उत्पन्न करुण स्थितियों को मानवीय संवेदना के सूत्र मे पिरो कर प्रस्तुत करती है। अज्ञेय की कहानियाँ विभाजन के क्रूर परिवेश में मानवीम करुणा एवं सवेदना की गाथा है। गुरुदत्त की तरह वे मनुष्य को धर्म और जाति के खानो मे बाँटकर नहीं देखते; उनके लिये मनुष्य केवल मनुष्य है, इसी कारण विभाजन की त्रासदी का शिकार बनने वाला प्रत्येक मनुष्य—चाहे वह हिन्दू हो, चाहे मुसलमान, उनकी संवेदना और करुणा का पात्र है। 'शरणदाता' की जैबू, 'बदला' और 'रमन्ते तत्र देवताः' के सरदार, 'नारंगियाँ, के हरसू परसू उनकी मानवीय दृष्टि के प्रतिनिधि पात्र हैं। मुसलमानो के अत्याचार से पीड़ित गुरुदत्त के हिन्दू पात्र प्रतिक्रिया स्वरूप जहाँ मुसलमानों को भारत से निकाल देना चाहते है, वहाँ 'बदला' का सरदार भारत से जाने वाले मुसलमानो की सहायता एक मिशन के तौर पर करता है, उसके साथ जो कुछ घटा है, वह नही चाहता कि औरों के साथ भी वह सब कुछ घटे। इस अर्थ में उसकी पीडा का उदात्तीकरण हो गया है। गुरुदत्त के उपन्यास 'देश की हत्या' का एक पात्र जगदेवसिंह पटियाला, जालंधर और अमृतसर में एक ऐसी टोली तैयार करना आरम्भ कर देता है, जो समय पड़ने पर, मुसलमानों को पंजाब के इस भाग से निकाल सके। 'इस टोली मे प्रायः वे लोग सम्मिलित हुए जिनके सम्बन्धी गुजरात, रावलपिण्डी, मुलतान इत्यादि स्थानों पर मारे गये थे तथा जिनकी औरतों पर अत्याचार हुए थे।'[1] किन्तु 'बदला' के सरदार के लिये 'औरत की बेइज्जती औरत की बेइज्जती है, वह हिन्दू या मुसलमान की नही, वह इन्सान की माँ की बेइज्जती है। शेखूपुरे मे हमारे साथ जो हुआ सो हुआ—मगर मैं जानता हूँ कि उसका मैं बदला कभी नही ले सकता—क्योंकि उसका बदला हो ही नही सकता! मैं बदला दे सकता हूँ—और वह यही, कि मेरे साथ जो हुआ है, वह और किसी

1. देश की हत्या'—पृ० 164

के साथ न हो।...मेरा मकसद तो इतना है कि चाहे हिन्दू हो, चाहे सिख हो, चाहे मुसलमान हो, जो मैंने देखा है वह किसी को न देखना पड़े, और मरने से पहले मेरे घर के लोगों की जो गति हुई, वह परमात्मा न करे किसी की बहू-बेटियों को देखनी पड़े।"[1]

मानवता के प्रति आशावाद का यही स्वर विष्णु प्रभाकर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मोहन राकेश तथा कमलेश्वर की कहानियों में भी है। दोनों सम्प्रदायों के पारस्परिक अविश्वास का चित्रण करते हुए भी इन कहानियों में मानवता के प्रति आस्था एवं मानव की अपूर्व जिजीविषा को अभिव्यक्ति दी गई है। विभाजन की भयावह त्रासदी के कारण उत्पन्न कारुणिक स्थितियों का इन कहानियों में मार्मिक चित्रण हुआ है। विष्णु प्रभाकर की कहानी 'मैं जिन्दा रहूँगा' परिवेश के शिकार मनुष्य की विडम्बना की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति है। सब कुछ खो चुके प्राण के जीवन मे राज और दिलीप एक मृगतृष्णा की भाँति आकर चले जाते हैं और क्षणिक सुख की छाया के बाद उसके जीवन मे कभी न खत्म होने वाला सूनापन छा जाता है "पूरे पन्द्रह दिन बाद प्राण लौटा...किवाड़ खोलकर वह ऊपर चढ़ता ही चला गया। आगे कुछ नहीं देखा...पालना पड़ा था, उसके ठोकर लगी और पलंग की पट्टी से जा टकराया। मुख से एक आह निकली। माथे मे दर्द का अनुभव हुआ। खून निकल आया था। उसने हाथ से चोट को सहलाया। आँखों ने तभी खून देखा, फिर पालना देखा, फिर पलंग देखा, फिर घर देखा। सब कहीं मौन का राज्य था।...प्राण के मन में उठा, पुकारें—राज।

पर वह काँपा—राज कहाँ है? राज तो चली गई। राज का पति आया था। राज का पुत्र जीवित है। सुख भी कैसा छल करता है। जा-जाकर लौट आता है। राज को पति मिला, पुत्र मिला। दिलीप को माँ-बाप मिले और मुझे... मुझे क्या मिला...?

उसने गर्दन को ओर से झटका दिया। फुसफुसाया—ओह मैं कायर हो चला। मुझे तो वह मिला, जो किसी को नहीं मिला।"[2]

अपना वतन छोड़ने को विवश निरुपाय विस्थापितों की मनोव्यथा मोहन राकेश तथा कमलेश्वर की कहानियों में अभिव्यक्त हुई तो बदीउज्जमां तथा राही मासूम रजा ने राजनीतिक प्रचार का शिकार बने भारतीय मुसलमानों की पीड़ा का मार्मिक चित्रण किया। 'अन्तिम इच्छा' के कमाल भाई मजहब के नशे मे पाकिस्तान चले तो जाते हैं, किन्तु उनकी आत्मा हमेशा अपने वतन की मिट्टी और हवाओं के

1. 'बदला'—पृ० 276.
2. मैं जिन्दा रहूँगा"—विष्णु प्रभाकर, भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 121.

लिये तरसती रहती है "दिन तो रोजी के झमेले में किसी तरह बीत जाता है। लेकिन रात के सन्नाटे में एक पुर असरार वीरानी का एहसास छाने लगता है। एक अजीब अस्पष्ट-सा ख्याल दिल और दिमाग पर हावी होने लगता है, जैसे फिर वहीं लौट जाना है जहाँ से आये थे। लेकिन कब और कैसे ? इन सवालों के जवाब नहीं मिलते।"[1] वतन लौटने की यह व्याकुल आकांक्षा अनेक कहानियो मे अभिव्यक्त हुई है, यद्यपि उनके प्रभाव मे अन्तर है। कमलेश्वर की कहानी "धूल उड़ जाती है..." और मोहन राकेश की कहानी "मलबे का मालिक" के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा इस अन्तर को समझा जा सकता है। "मलबे का मालिक" में एक त्रासदी है। गनी मियां रक्खे पहलवान पर भरोसा रख अपने बच्चो को छोडकर पाकिस्तान चला जाता है। पाठक उसके विश्वास को खण्डित होते देखता है, यद्यपि गनी मियां को अन्त तक इसका पता नही चल पाता। व्यक्ति के अनजाने उसके विश्वास के खण्डित होने की यह नियति और उसके जीवन की विडम्बना सूक्ष्म होते हुए भी कहानी मे अत्यन्त प्रबल है। कहानी का यह वैशिष्ट्य है कि हत्यारे पहलवान के प्रति भी आक्रोश उत्पन्न नही हो पाता, क्योंकि वह इसी नियति से बंधा है। वह भी मलबे का मालिक नही हो पाता, अन्त मे कुत्ता ही उस मलबे का मालिक बनता है, इसी कारण इस कहानी में करुणा के दोहरे स्तर है। एक करुणा है गनी के प्रति, उसके अन्त तक बने रहने वाले विश्वास के प्रति। दूसरी आक्रोश-मिश्रित करुणा है। विश्वासघात करने वाले पहलवान के प्रति आक्रोश से भरते हुए भी हम करुणा से भर जाते हैं, क्योंकि उसका वह हत्यारा रूप विभाजन कालीन परिस्थितियो मे बनी विशिष्ट मानसिकता के कारण था और करुणा इस लिये भी कि सही अर्थों मे वह मलबे का मालिक नही हो पाता। घर के लालच मे वह हत्या करता है, लेकिन घर जल जाता है। उसमें उस मलबे को मकान मे बदलने का साहस भी नही है। नैतिक पतन के बाद एक तरह से उसका नैतिक जागरण होता है, गनी मिया के सरल विश्वास के सम्मुख वह अपने-आप को पराजित और लज्जित अनुभव करता है, इसी कारण पाठक उससे घृणा नही कर पाता। कमलेश्वर की "धूल उड़ जाती है..." मे मानवीय करुणा का गहरा स्तर है, यद्यपि यह अपने आप मे सीधी सपाट कहानी है। राजनीतिक प्रचार के धोखे मे आकर कस्बे के सरल निवासी अपना सब कुछ बेचकर पाकिस्तान की ओर चल पड़ते हैं, किन्तु अर्थाभाव के कारण वहाँ तक पहुँच नही पाते। बाद में उनके बेटे बड़े होने पर वापस लौटते है। नसीबन बड़ी ईमानदारी से लौटे हुए मुसाफिरो को उनके खण्डहर बन चुके घर दिखा देती है। यह कहते हुए कि 'य तो खण्डहर हो गये...' उसकी आँखो में आँसू आ जाते हैं। लेकिन मुसाफिरों का विश्वास है कि

1. "अन्तिम इच्छा" : बदीउज्जमां—वही—, पृ० 72.

"बसना है तो बसते कितनी देर लगती है, और फिर बड़ी आँधी आयी रात, धूल उड़ती रही और सुबह तक के लिये रात यहीं पेड़ के नीचे कट गयी।"[1] मानवता के प्रति लेखक का आशावादी दृष्टिकोण ही यहाँ मुखर हुआ है।

3. मूल्यगत समस्याओं के चित्रण का सर्जनात्मक स्तर :

विभाजन के कारण अनेक पुरानी मान्यताएँ टूटी, नैतिकता का ह्रास हुआ। स्थापित मूल्य महत्वहीन हो गये, नये जीवन-मूल्य बनने लगे। विभाजन के कारण खण्डित होते जीवन-मूल्य, बदलते माहौल में पनपते गलत मूल्य—स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद आदि को कथाकारों ने अपनी रचनाओं का विषय बनाया। विभाजन के बाद की मूल्यहीन स्थितियाँ मोहन राकेश की कहानियों में सबसे अधिक प्रखरता से उजागर हुई। 'परमात्मा का कुत्ता' तथा 'क्लेम' शीर्षक कहानियाँ शरणार्थियों की दयनीय अवस्था के परिप्रेक्ष्य में सरकारी अफसरशाही, भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता तथा बदलते जीवन-मूल्यों पर व्यंग्य है। विभाजन के बाद की स्थितियों में नम्रता और शिष्टाचार मूल्यहीन हो गये हैं। अशिष्टता और उद्दंडता के सहारे अपना काम करवा लेने वाला व्यक्ति विभाजन के बाद की उन मूल्यहीन स्थितियों को अभिव्यक्ति देता है, जिसमें अनेक गलत मूल्य पनपने लगे हैं "चूहों की तरह बिटर-बिटर देखने से कुछ नहीं होता। भौंको, भौंको, सबके-सब भौंको। अपने आप सालों के कान फट जायेंगे।"......"हयादार हो, तो सालहा-साल मुँह लटकाये खड़े रहो। अर्जियाँ टाइप कराओ और नल का पानी पियो। सरकार वक्त ले रही है। नहीं तो बेहया बनो। बेहयाई हजार बरकत है।"[2] विभाजन के परिवेश में सत्यनिष्ठा और ईमानदारी जैसे स्थापित मूल्य अर्थहीन हो रहे हैं। बेईमानी से गलत क्लेमफॉर्म भरकर लोग लाभ उठा रहे हैं और ईमानदारी से सही क्लेमफॉर्म भरने वाले वंचित हैं "मैं कहती रही कि जितना छोड़ आये हो, उससे ज्यादा का क्लेम भरो। मगर वे ऐसे मूरख थे कि हठ पकड़े रहे कि जितना था उतने का ही क्लेम भरेंगे......आज वे मेरे सामने होते तो पूछती कि बताओ बेईमानी करने वाले सुखी हैं या हम लोग सुखी हैं?"[3] मोहन राकेश की कहानियाँ अपनी विशिष्ट प्रतीकात्मकता एवं सांकेतिकता के द्वारा विभाजन के बाद की मूल्यहीन स्थितियों को सजीव करती हैं। यही सांकेतिकता कृष्णा सोबती की कहानी 'सिक्का बदल गया' में विभाजन के कारण परिवर्तित जीवन-मूल्यों को बड़ी सूक्ष्मता से उजागर करती हैं। अपने घर, खेत तथा गाँव छोड़ने को मजबूर आहत शाहनी कैम्प में जमीन पर पड़ी सोचती हैं

---

1. "धूलि उड़ जाती है......" कमलेश्वर : राजा निरबंसिया, पृ० 48.
2. 'परमात्मा का कुत्ता'—मोहन राकेश : वारिस, पृ० 92.
3. 'क्लेम' मोहन राकेश . क्वार्टर पृ० 176.

राज पलट गया है······सिक्का क्या बदलेगा ? वह तो मैं वही छोड़ आयी······।"[1] शाहनी के लिये राज पलट जाने का अर्थ नही। उसे तो मानवीय मूल्यों के सिक्के के बदलने, सम्बन्धों के निरर्थक बन जाने का दुःख है। राजनीतिक दृष्टि से सिक्का बदल जाने से मानवीय मूल्य भी अर्थहीन हो गये, यही उसकी अन्तर्वेदना है। मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन की यह स्थिति अज्ञेय की 'शरणदाता' कहानी मे भी बड़ी सूक्ष्मता से व्यंजित हुई है। नैतिक मूल्यों के परिवर्तन तथा मानवीय संवेदनाओं के अवमूल्यन के कारण ही 'शरणदाता' का शरणदाता शरणागत को भोजन में जहर दे देता है।

किन्तु विभाजन के बाद की मूल्यहीनता को उजागर करते हुए भी रचनाकार मानवता के उदात्त मूल्यों में अपना विश्वास नहीं खोते। 'शरणदाता' की जैबू, 'रमन्ते तत्र देवताः' तथा 'बदला' के सरदार के चरित्र द्वारा अज्ञेय जैसे कथाकार ने उन आदर्शों की स्थापना का प्रयास किया है, जिन्हें वे मानव-मूल्यों और मानवीय विवेक के नाम पर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। वस्तुतः देश-विभाजन और साम्प्रदायिक सद्भाव पर लिखी गयी कहानियों का मूल्यबोध द्विआयामीय है। एक ओर इन कहानियों में पारस्परिक सद्भाव, विश्वास एवं मानवीयता के विघटन का दर्द है, दूसरी ओर यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि पशुता और दानवता के हाथों हुए ध्वंस मे भी कुछ मूल्य बचे रह गये है। मानवता के विघटन का यह दर्द 'मलबे का मालिक' मे भी है जिसमें मोहन राकेश ने यह दिखाया है कि जिम रक्खा पहलवान पर गनी का विश्वास अन्त तक बना रहता है, वह उसके परिवार के सर्वनाश का कारण बनता है। गनी के लिये चिराग और उसके बच्चों की मृत्यु जितनी पीड़ादायक है, अपने घर को मलवे के रूप में देखना उतना ही असहनीय। वस्तुतः यह मूल्यों का मलबा है, जिसे वहशत की आग ने जन्म दिया है। यही वजह है कि अन्त मे उस मलबे का मालिक एक कुत्ता बन जाता है। 'कितने पाकिस्तान' मे कमलेश्वर ने तनिक विस्तार से धर्मान्धता को मूल्य मानकर पैदा होने वाली हत्यारी मानसिकता को कटघरे मे खड़ा किया है। जो लोग देश विभाजन के हादसे से प्रभावित हुए, पाकिस्तान उनके लिये एक मुल्क न होकर दुःखद सच्चाई है "यह पाकिस्तान हमारे बीच बार-बार आ जाता है। यह हमारे या तुम्हारे लिए कोई मुल्क नहीं है, एक दुःखद सच्चाई का नाम है। वह चीज या वहज जो हमे ज्यादा दूर करती है, जो हमारी बातों के बीच एक सन्नाटे की तरह आ जाती है।"[2] हिंसा और क्रूरता के भयावह परिवेश मे 'मैं' के दादा और मास्टर साहब मानवीय मूल्यों के प्रतीक बनकर सामने आते हैं। मास्टर साहब के परिवार की रक्षा करते हुए दादा

1. 'सिक्का बदल गया'—कृष्णा सोबती : सिक्का बदल गया, पृ० 91.
2. 'कितने पाकिस्तान'—कमलेश्वर : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ पृ० 34.

घायल हो जाते हैं। मरथरीनामा लिखने वाले मास्टर साहब पागल हो जाते हैं। कहानीकार ने बखूबी दिखाया है कि गलत मूल्यों को लेकर इन्सान से दरिन्दे बन जाने वाले लोग सही-सलामत रहते हैं और सही मूल्यों की रक्षा के लिये संघर्ष करने वालो को विकलांग होना पड़ता है। धर्मान्ध सिरफिरे घृणा का जहर फैला रहे हैं जिसको सहन करने में असमर्थ होकर मास्टर साहब जैसे निरीह और निर्दोष मनुष्य पागल हो जाते हैं। विष्णु प्रभाकर, भीष्म साहनी और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार मूल्यों के विघटन से गुजरते हुए अंततः किसी सकारात्मक जीवनमूल्य को अपना समर्थन देते दिखायी देते हैं। विष्णु प्रभाकर की कहानी 'हिन्दू' का हिन्दू पात्र, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी 'मास्टर साहब' का हत्यारा गुलामरसूल, कृष्णा सोबती की कहानी 'मेरी माँ कहाँ' का यूनस खाँ, भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' की राजो, शाहनवाज जैसे पात्र कत्ल और खूँरेजी के बीच सुरक्षित मानवीय मूल्यों के प्रतीक हैं। उनके चरित्र इस बात का संकेत करते हैं कि विभाजन के क्रूर परिवेश में भी मानवीय मूल्य एकदम स्वाहा नहीं हो गये थे।

विभाजन पर आधारित कथा-साहित्य की रचना प्रक्रिया :

प्रत्येक रचना का सम्बन्ध रचनाकार के अन्तर्जगत से होता है क्योंकि रचना जिस रूप मे हमारे समक्ष होती है, वह रचनाकार के आभ्यन्तरीकरण की एक विशेष प्रक्रिया में गुजरने के बाद ही अपने वर्तमान रूप को ग्रहण करती है तथा जिसमें रचनाकार का व्यक्तित्व, अनुभव और उसकी जीवन दृष्टि समाहित रहती है। इसलिये जब तक रचना-प्रक्रिया के विविध स्तरों का विश्लेषण नहीं किया जाता, तब तक किसी भी रचना या कलाकृति का सही मूल्यांकन सभव नहीं है। रचना-प्रक्रिया के आधार पर रचनात्मक अनुभवों का साक्षात्कार करते हुए रचनाकार की अन्तः प्रेरणा के मूल स्रोतों और उनके व्यापक संवेदनशील संदर्भों का उद्घाटन किया जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी कहानी में रचना-प्रक्रिया की चेतना का आभास वहीं होता है, जहाँ वह सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ती है। प्रेमचन्द काल का कथा-साहित्य सामाजिक यथार्थ बोध को अभिव्यक्त करता है, यद्यपि आरम्भ में वह आदर्शवाद के मोह से ग्रस्त रहा तथा उसमें सुधारवादी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति मिली। इस युग के रचनाकार सामाजिक परिस्थितियों के प्रति जागरूक होते हुए भी अपने रचनात्मक दृष्टिकोण में तटस्थ नहीं रह पाये। प्रेम-चन्दोत्तर युग के कथाकारों ने यथार्थ को अपने-अपने स्तर पर प्रकट करने का प्रयत्न किया। जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी जैसे कथाकारों का रचना-संसार बाह्य परिवेश से असम्पृक्त रहा। विभाजन के बाद के कथाकारों ने बदलते सामाजिक सन्दर्भों को अनुभूति के स्तर पर यथार्थ अभिव्यक्ति देना आरम्भ किया। इस अभिव्यक्ति

के लिये उन्होंने अनुभूति की प्रामाणिकता एवं तटस्थता तथा सही भाषा की तलाश पर बल दिया। किसी भी कृति की रचना प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले ये ऐसे बिन्दु हैं, जिनसे कृति के रचनात्मक आयाम के स्तर विभिन्न हो जाते हैं।

अनुभूति की प्रामाणिकता का सामान्य अर्थ है कि कथाकार ने जो कुछ अनुभव किया है, वह ठोस एवं प्रामाणिक है। यद्यपि कथाकार परिवेश से गृहीत अनुभवों को ही अपनी रचना में अभिव्यक्ति देगा, किन्तु रचनात्मक स्तर पर कथाकार के अनुभव की सच्चाई एवं गहराई का परीक्षण परिवेश से उसकी सम्पृक्तता के आधार पर ही किया जाता है, क्योंकि स्वानुभूत अनुभव की प्रामाणिकता समय की प्रामाणिकता के सन्दर्भ मे ही सार्थक हो पाती है। कथाकार के अनुभव की सच्चाई का युगबोध से सम्पृक्त होना आवश्यक है। इसलिये प्रामाणिकता का संदर्भ कथाकार की वैयक्तिक अनुभूतियों तक ही सीमित नही है, अपितु बाह्य यथार्थ के साथ भी उसकी संगति आवश्यक है। जो कथाकार अपने अनुभव को जीवन यथार्थ के जितने व्यापक परिप्रेक्ष्य मे अभिव्यक्त करेगा, उसकी रचना मे उतनी ही अधिक प्रामाणिकता होगी। गुरुदत्त, रघुवीर शरण मित्र, यज्ञदत्त शर्मा जैसे कथाकारों ने केवल बाह्य यथार्थ को रेखांकित करने वाली कथा-स्थितियो की रचना की है, जो अनुभव के व्यापक एवं ठोस आधार के बिना युगसत्य का यथातथ्य चित्रमात्र प्रस्तुत करती है।[1] इसके विपरीत अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर, मोहन राकेश, कमलेश्वर, राही मासूम रजा, भीष्म साहनी, महीप सिंह जैसे कथाकार ऐतिहासिक प्रक्रिया के रचनात्मक मूल्यो को यथार्थ के आन्तरिक एवं बाह्य परिप्रेक्ष्य मे सन्दर्भित करने के लिये प्रामाणिकता को रचना-प्रक्रिया का मूल अंश मानते है। उन्होंने अपने परिवेश को बाह्य आरोपित दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि अपने अनुभवों एवं संवेदना के माध्यम से यथार्थ-बोध को पहचानने की चेष्टा की है और अपनी रचनाओं मे उसे समय-सत्य के रूप में सम्प्रेषित किया है।[2] विभाजन से सम्बद्ध जिन अछूती अनुभूतियों

1. "साम्प्रदायिकता के शोले सुलगे। कालिज व स्कूलो के छात्रों ने हड़ताल कर मुस्लिम लीगी सरकार कायम होने के विरुद्ध जलूस निकाले। प्रदर्शनकारियों पर पुलिस ने लाठी चार्ज किया, गोलियाँ चलाई। उपद्रव खड़ा हो गया, लाशें बिछ गईं, घायलों से अस्पताल भर गये।"
   —'बलिदान'—रघुवीरशरण मित्र, पृ० 138.
2. "फिर सारे पंजाब मे आग लग गई। घर के घर, गाँव के गाँव और शहर के शहर उस आग मे जलने लगे। आग रुकी तो लगा इधर तक सपाट फैली हुई जमीन अमृतसर और लाहौर के बीच से फट गई है और उस पार का फटा हुआ हिस्सा बीच मे गहरी खाई छोड़कर न जाने कितना उधर खिसक गया है।"
   —'पानी और पुल'—महीप सिंह : 'सिक्का बदल गया' : पृ० 173.

को उन्होंने सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है, उससे कहानियों एवं उपन्यासों में विविधता एवं व्यापकता आ गयी है।

कथा की रचना-प्रक्रिया को प्रभावित करने वाला दूसरा बिन्दु कथाकार की तटस्थ दृष्टि है। कथाकार अपने अनुभवों एवं संवेदना को रूपायित करते समय अपनी वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठ जाता है। अर्थात् सर्जनात्मकता के क्षणों में कथाकार के अपने व्यक्तित्व तथा उसकी निजता का स्पर्श तो होता है, किन्तु वह उसे इस रूप में व्यक्त करता है कि उसका अनुभव पूर्णतः निर्वैयक्तिक प्रतीत होता है। तटस्थता अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की कड़ी है। वैसे अनुभूति की प्रामाणिकता एवं तटस्थता में अधिक अन्तर नहीं है, किन्तु तटस्थता में अनुभूति की प्रामाणिकता की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापकता का बोध होता है। रचना-प्रक्रिया की यह तटस्थता कथाकार के अनुभवों को व्यापक एवं विशिष्ट बनाती है। गुरुदत्त तथा कुछ हद तक भगवतीचरण वर्मा एवं चतुरसेन शास्त्री के दृष्टिकोण में तटस्थता का अभाव है। गुरुदत्त का दृष्टिकोण पूर्णतया हिन्दूवादी दृष्टिकोण है, जिसके प्रभावस्वरूप वे विभाजन तथा उत्पन्न समस्याओं के लिये एक सम्प्रदाय-विशेष तथा दल विशेष को दोषी मानते है।[1] 'धर्मपुत्र' के कुछ अंशों में भी आचार्य चतुरसेन शास्त्री का पूर्वाग्रह ग्रस्त दृष्टि का परिचय मिलता है।[2]

---

1 "भारतवर्ष पर अन्याय करने वाले प्रत्येक व्यक्ति अथवा जाति को अपने अन्यायपूर्ण आचरण में प्रोत्साहन मिला है। एक अहिंसावादी सदैव यह यत्न करता रहता है कि वह अपने विपक्षी को समझावे और सीधे मार्ग पर लावे तो उसके उल्टे मार्ग पर चलने से जो दुःख और कष्ट उत्पन्न हो उसे शान्ति से सहन करे। मुसलमानों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई माँग इसी नीति का सीधा परिणाम है। कांग्रेस नीति सन् 1915 से यही रही है कि मुसलमानों को अपनी माँगों का अन्याय युक्त होना बतावे। वे जब नहीं मानते तो कांग्रेस स्वयं उन माँगों के अन्याय को सहन करने पर तैयार हो जाती है। इसका सीधा परिणाम यह होता है कि मुसलमान अपनी माँगों को न्याययुक्त समझने लगते हैं।"
—'पथिक'—गुरुदत्त, पृ० 116.

2. "—तीन दिन तक दिल्ली की गली-गली, कूचे-कूचे में मार काट होती रही। पर मुसलमानों का बल टूट गया और वे भयभीत होकर भागने लगे। हिन्दुस्तान की विजय सपना हो गई। पाकिस्तान पहुँचना दूभर हो गया।...मुसलमान अपने बाल-बच्चों, परिजनों को ताँगों पर, ठेलों पर, मोटरों पर, घोड़ों पर लादकर पंक्ति-पंक्ति उदास और भयभीत दृष्टि से दिल्ली और लालकिले पर हसरत की नजर डालते हुए घर-घर छोड़कर हुमायूं के मकबरे की ओर जा रहे थे।"
—'धर्मयुग' —पृ० 143.

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों मे भी कई जगह जातिवादी-सम्प्रदायवादी अनुस्वर है। गुरुदत्त की भाँति कही-कहीं वे पूर्वाग्रह ग्रस्त भी नजर आते हैं। इसी वजह से हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व का उत्तरदायित्व अंग्रेजों पर डालने के बावजूद वर्माजी हिन्दू-मुस्लिम पार्थक्य को बुनियादी महत्व देते है।[1] वस्तुतः वर्माजी सामाजिक परिवर्तन के बदलते चित्र देने में तो माहिर हैं, पर सामाजिक परिवर्तन जैसे गम्भीर और जटिल विषय के प्रति सही ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि वे नही अपना पाये। इसी कारण उनके समस्या प्रतिपादन मे कही जातीय प्रतिध्वनियाँ आ जाती हैं, कही साम्प्रदायिकता आ जाती है। अपने साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों के कारण ही वर्मा जी के उपन्यासों को वह महत्व नही मिला, जो यशपाल के 'झूठा-सच' को मिला है। वर्मा जी के नियतिवाद ने उन्हे 'दर्शक' लेखक बनाया है, जिसमे संघर्षशील लेखक की व्यापक मानवतावादी दृष्टि नही है। उसमें कही 'पुराना हिन्दू' बोलता नजर आता है। फिर भी भगवतीचरण वर्मा गुरुदत्त नही है। उनका हिन्दू एक पुराना मगर उदार हिन्दू है।

दूसरी ओर यशपाल, अज्ञेय, भीष्म साहनी, विष्णु प्रभाकर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, कमलेश्वर, मोहन राकेश, कृष्णा सोबती जैसे लेखकों का दृष्टिकोण मानवतावादी है। सम्प्रदाय विशेष की पक्षधरता तथा पूर्वाग्रहों से मुक्त होने के कारण उन्होने अपनी रचनाओ में अपने अनुभवो तथा अपनी संवेदना को पूरी तटस्थता से अभिव्यक्ति दी है, इसी कारण इनकी रचनाएँ अधिक प्रभावपूर्ण एवं जीवन्त बन पड़ी हैं। उदाहरण के लिये हम भीष्म साहनी के 'तमस' को ले सकते है जो उस ऐतिहासिक दुर्घटना के काफी बाद की रचना है तथा लेखकीय आवेश और प्रचलित मुहावरों के बजाय इसमें एक शान्त तटस्थता है। तटस्थता किसी भी उत्कृष्ट कृति के लिये आवश्यक है, किन्तु समय के अन्तराल से उभरी तटस्थता का एक खतरा भी है। लेखक जिन स्थितियो, घटनाओ और चरित्रो को अपनी कृति में चित्रित करना चाहता है, उनके प्रति वह अपनी आत्मीयता खो बैठता है और तब उसके चित्रण में एक कृत्रिम और ठंडी निस्संगता व्याप जाती है जिसे वह अपनी वस्तुनिष्ठता समझता रहता है। 'तमस' में जो बात सर्वाधिक प्रभावित करती है, वह है अपने कथ्य के प्रति

---

1. "...हमें इस गुलामी से अभी निजात मिलती नही दिखलायी देती।...ये दंगे अभी बढ़ेंगे। यह तो शुरुआत-भर है। आपने उस दिन यह तसलीम किया था कि यह हिन्दू-मुसलमानों का भेद-भाव बुनियादी है और मैं अब इस बात को मान गया। इस बुनियादी भेद-भाव को मिटाने में सैकड़ों साल लग जायेंगे। इन सैकड़ों सालो का इन्तजार कौन कर सकता है।"
—'भूले बिसरे चित्र'—भगवतीचरण वर्मा, पृ० 424.

लेखक की, इतने वर्षों के अन्तराल के बावजूद, गहरी घनिष्ठता। लेखक ने जिस ढंग से स्थितियों को उभारा है, जिस बारीकी से चरित्रों का सृजन किया है और जिस गहरी जानकारी से घटनाओं को संयोजित किया है, उससे विभाजन की अमानवीय घटना अपने क्रूरतम स्वरूप में हमारे आस-पास मंडराने लगती है और लगता है यह सब कुछ अभी-अभी घटित हो चुका है, या अभी भी घटित हो रहा है। उसकी तटस्थता उपन्यास का अन्त करने के ढंग में भी उजागर होती है, जहाँ लेखक पाठकों पर अपनी कोई राय थोपने के बजाय उन्हें अपने ही ढंग से सारी चीजों को समझने का मौका देने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देता है। वह केवल विभाजन के अमानवीय परिवेश और उसके परिप्रेक्ष्य में मनुष्य-जीवन की विडम्बनाओं और असंगतियों को ही सामने लाता है; समस्या के समाधान का कोई बना-बनाया रास्ता नहीं दिखाता। यही तटस्थता जगदीशचन्द्र के उपन्यास 'मुट्ठी भर कांकर' की भी विशेषता है जिसमें लेखक ने केवल जीवन की उलझनें सामने रखी हैं; उलझनों के समाधान का मार्ग नहीं दिखाया। कथा के अन्त में उन्होंने अपने पात्रों को उनकी परिस्थितियों के भरोसे छोड़ दिया है। अपने सुझावों को आरोपित करने या विशिष्ट दिशा के आग्रह को थोपने की लेखक की इच्छा नहीं दिखाई पड़ती। पूरे उपन्यास में टीका टिप्पणी, आवेश, अतिरिक्त करुणा या भावुकता से दूर रहकर तटस्थ भाव से उसने घटनाओं एवं स्थितियों को प्रस्तुत किया है। मनुष्य की पीड़ा ने उसे विचलित अवश्य किया है, किन्तु यह विचलन आवेग या भावावेश में नहीं फूटता, बल्कि निराशामय स्थिति में पैदा प्रगल्भ शान्ति और धीरज का भाव उसके लेखन में उतर आया है। यही भाव उसकी कृति को अधिक यथार्थ, अधिक मार्मिक और जीवन्त बनाता है। कथा की रचना-प्रक्रिया का तीसरा बिन्दु सही भाषा की तलाश या सम्प्रेषणीयता है। कथाकार अपने अनुभवों को इस ढंग से प्रस्तुत करना चाहता है, जिससे वह अधिक सम्प्रेषणीय बन सके। अनुभव-संवेदन को रचनात्मकता के धरातल पर अभिव्यक्त करने के लिये उसे रचना के अनुकूल ही भाषा की तलाश करनी पड़ती है जिससे कथ्य पूरा प्रभाव डालने में समर्थ हो सके। इसलिये कथाकार के सम्मुख परिवेश को विभिन्न स्थितियों, व्यक्ति की मनोदशाओं एवं यथार्थ की सूक्ष्म संवेदनाओं के लिये सार्थक भाषा के निर्माण की समस्या आती है। नये कथाकारों ने जहाँ सम्प्रेषणीयता हेतु सही भाषा को ढूंढने का प्रयास किया है, वहीं अभिव्यक्ति के नवीन कोणों का भी अन्वेषण किया है। यह भाषा आरोपित न होकर अपने परिवेश के यथार्थ से ग्रहण की हुई है। भाषा का यह वैशिष्ट्य मोहन राकेश, कमलेश्वर, बदीउज्जमाँ, राही मासूम रजा और भीष्म साहनी जैसे कथाकारों की रचनाओं में देखा जा सकता है, जिनमें सम्प्रेषणीयता का गुण है और यथार्थ की चेतना को प्रामाणिक रूप से पकड़ने के लिये नये प्रतीक, नये बिम्ब एवं संकेतों का सहारा लिया गया है।

शिल्पगत-स्तर :

कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये रचनाकार जिन विधियों एवं प्रक्रियाओं को साधन स्वरूप स्वीकारता है, वही विधियाँ, तरीके, पद्धतियाँ शिल्पविधि कहलाती हैं। इसके बिना रचनाकार अपनी अनुभूतियों को कलात्मक एवं सफल अभिव्यक्ति नहीं दे सकता। शिल्प कथा के सर्जनात्मक धरातल को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख तत्व है। कलाकार के अन्तर्जगत् की बाह्य अभिव्यक्ति शिल्प के माध्यम से ही होती है। सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से शिल्प का सुगठित एवं कथ्य के अनुकूल होना आवश्यक है, तभी वह प्रभावोत्पादक हो सकता है। शिल्प के माध्यम से ही रचनाकार का भावजगत मूर्त रूप धारण करता है। अतः आवश्यक है कि शिल्प कथ्य से असम्पृक्त या आरोपित प्रतीत न हो। शिल्पविधि के दो स्वरूप हैं—आन्तरिक एवं बाह्य। आन्तरिक स्वरूप का सम्बन्ध रचना-प्रक्रिया में घटित होने वाली रचनाकार की उन मनःस्थितियों से है जिनके परिप्रेक्ष्य में वह शिल्पविधि का अन्वेषण करता है। रचनाकार अपनी आन्तरिक भावसत्ता के अनुकूल शिल्पविधि का निर्माण करेगा ताकि वह अपनी अनुभूतियों को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत कर सके। शिल्पविधि का बाह्य स्वरूप वह है जब रचनाकार की अनुभूति शब्दबद्ध होकर पाठक के सामने आ जाती है। शिल्पविधि का आन्तरिक स्वरूप जहाँ सूक्ष्म है, वहाँ इसका बाह्य रूप ठोस एवं स्थूल है। शिल्पविधि के बाह्य रूप के लिये भाषा एवं शैली की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि इनके माध्यम से ही कथाकार अपनी अनुभूतियों को रूपायित करता है। शिल्प निर्वाह के लिये कथाकार को कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, वातावरण, भाषा शैली आदि उपकरणों का सहारा लेना पड़ता है जो अनायास ही अभिव्यक्ति के समय शिल्प में समाहित हो जाते हैं। शिल्पविधि के ये आधार तत्व कथा के लिये एक रूढ तन्त्र की रचना करते हैं। कहानी के लिये शिल्पविधि का ऐसा रूढ़ रूप उसके कथ्य को ढक लेता है और कहानी की प्रभाव क्षमता बिखर जाती है। इसलिये परिवर्तित युगबोध के साथ शिल्प विधान का बदलना भी आवश्यक हो जाता है। तभी रचनात्मक अनुभवों की सही परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्ति सम्भव है। प्रेमचन्द युग से लेकर अब तक कथा के शिल्प विधान में उल्लेखनीय परिवर्तन आ चुका है। नये कथाकारों ने परम्परागत शिल्प के गढ़े हुए रूप को रचनात्मक स्तर पर खण्डित किया है। नये कथा साहित्य से पूर्व कथानक की अपनी शास्त्रीय परम्परा थी, जिसमें कथानक का ढाँचा स्वयं कथाकार के हाथ में रहता था। वह वर्णन के माध्यम से पाठक के मन में रोचकता पैदा करके अपने लक्ष्य की ओर ले जाता था। प्रेमचन्द युग का कथा साहित्य एक तरह से किस्सागोई है, जिसमें आरम्भ एवं समाप्त होने का निश्चित रूप परिलक्षित होता है। यशपाल का 'झूठा-सच' और भगवतीचरण वर्मा के

उपन्यास यथार्थ के विभिन्न आयामों का उद्घाटन करते हुए भी शिल्प के क्षेत्र में परम्परा का ही निर्वाह करते हैं। वास्तव में वे किस्सागोई की परम्परा के ही उपन्यास हैं।[1] वर्णन और स्फीति इनकी प्रकृति है। आधुनिक काल में विकसित काव्यात्मक शक्तियों से कथा को दीप्ति देने में इनका विश्वास नहीं है। वे सहज कहानी कहना चाहते हैं और लगता है कि कथा की सारी रेखाएँ इनके मन में पहले से निर्धारित हो जाती हैं।

विभाजन पर लिखे गये उपन्यासों की सूची में अपने विस्तार और विविधता के कारण सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने वाली कृति 'झूठा-सच' है जिसका प्रसार लगभग 1200 पृष्ठों में है। अनेक प्रबुद्ध पाठकों एवं आलोचकों ने इसे हिन्दी साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया। यह सही है कि 'झूठा-सच' प्रस्तुत विषयवस्तु पर लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है जिसमें एक विशाल फलक पर आज के भारतीय जीवन के व्यापक प्रसार और संश्लिष्ट सूक्ष्मता की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। किन्तु उस गहन मानवीय संकट की अनुगूँजें सूक्ष्म सांकेतिकता में नहीं, विवरणात्मकता में प्रस्तुत की गयी हैं और यही इस रचना की कलात्मक उपलब्धि को कम कर देती हैं।

'झूठा-सच' विस्थापन की कथा है। विस्थापन एक केन्द्रीय सत्य के रूप में एक साथ अनेक कोणों से मूल्यांकित और परिभाषित होने की एक ऐसी दुर्निवार चुनौती के रूप में सामने आता है जो न केवल दो भौगोलिक खण्डों और राजनीतिक प्रदेशों के मध्य पनपते विद्वेष, घृणा और परिणामस्वरूप आबादी के विनिमय के बाहरी यथार्थ को रेखांकित करता है अपितु एक गहरे स्तर पर मानव की निर्वासित अस्मिता की पुनः प्रतिष्ठा का ज्वलन्त प्रश्न-चिह्न भी बन जाता है। यह आकस्मिक नहीं कि लेखक इस अस्मिता को एक सांस्कृतिक अन्तर्द्वन्द्व और अन्तः संघर्ष से टूटे

---

1. "वर्मा जी जटिल को सरल बनाकर कहते हैं, जैसा कि बातचीत के फन का उस्ताद हर एक व्यक्ति करता है। लेकिन इस कला की कीमत भी लेखक को अदा करनी पड़ती है। 'भूले-बिसरे चित्र' को सूक्ष्मदर्शी पाठक पढ़ते समय महसूस करता है कि इस उपन्यास में लेखक की दृष्टि कई जगह चूक गई है, वह कई जगह जटिल सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों का सरलीकरण कर देता है, यहाँ तक कि इस उपन्यास में जातिवादी-सम्प्रदायवादी अनुस्वर भी हैं। बातचीत की कोई होशियारी लेखक की संवेदना और नजर को छिपा नहीं सकती।

—'भूले बिसरे चित्र'—डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी उपन्यास : पृ० 141.

विस्थापित व्यक्तित्वों को नये आयाम या नये कोण देने की दिशा मे कोई सशक्त संकेत करता दृष्टिगत नही होता। जहाँ कहीं वे हैं, वे एक नितान्त सरलीकृत, सामान्यीकृत संवेदना के धरातल से उठाये हुए कुछ धारणात्मक बिम्ब है, जो प्राचीन रूढ़ जड़ प्रतिमानों पर आघात करने वाले लेखक के लिये स्वयं अनिवार्य रचना-रूढि बन चुके हैं। परिणामतः कथानक के ये अन्तःसूत्र परस्पर संश्लिष्ट होकर एक बृहदाकार उपन्यास की गरिमा की रक्षा करते है, किन्तु किसी बृहत्तर परिवेश या व्यक्ति की निजता के वैशिष्ट्य को नजरअन्दाज कर देते हैं। उपन्यास मे महाकाव्यात्मक औदात्य की कमी नही है, किन्तु यह औदात्य उसकी स्फीतता और घटनाओं के सकुल प्रवाह मे है, परिस्थितिक विडम्बनाओं के जटिल आवर्तों में तैरते दृश्य-बिम्बों से फूटते मानवीय सत्य के अंकन मे नही। वर्णन की स्थूल रेखाएँ लेखक के कोण से अधिक सयम की अपेक्षा रखती थी। उदाहरण के लिये नीलाम का दृश्य पशुता और अनाचार का दण्ड भोगनेवाली नारी के अस्तित्व के संकट और उसकी असहायता का बोध तो कराता है, किन्तु अनुभूति के धरातल पर प्रभाव को सही दिशा नही दे पाता —"माल ग्राहकों को अच्छी तरह दिखा देने के लिये उसने लड़की की कमर के पीछे अपने घुटने से टेस देकर उसके सब अंगों को सामने उभार दिया था।.. लड़की के सूर्य की किरणो से अछूते शरीर के भाग छिले हुए संतरे की तरह चेहरे की अपेक्षा बहुत गोरे और कोमल थे।"[1] जाहिर है कि उपमान का यह तथाकथित सटीक प्रयोग सन्दर्भ का वह कोण व्यक्त नही करता जिसे पढ़कर खून खौल उठता हो या जो मानव के अन्तर मे छिपी पशुता पर सोचने को विवश करता हो। यह अंश स्वयं मे साध्य बनकर आन्तरिक सत्य से तो टूटता ही है, वस्तु सत्य से भी नही जुड़ पाता।

फिर भी स्थूल रेखांकन से आगे बढकर यशपाल ने मनोवैज्ञानिक सत्यों के कई कोणो को आमने-सामने रखकर उनमे निहित जीवन-दृष्टि को उकेरने मे सहज सजगता का परिचय दिया है। विपन्नता के क्षणों में संकीर्ण स्वार्थतृप्ति अधिक निरावृत्त रूप मे सामने आती है, क्रूरता के नये वातायन खुलते है। विडम्बनाओं की समानान्तर रेखाओं में रखकर इस तथ्य को लेखक ने बड़ी सजगता से व्यक्त किया है। एक छोर पर छोटे-छोटे स्वार्थों के लिये संघर्ष-रत विस्थापित पीढी और दूसरे छोर पर भ्रष्टाचार, अवसरवादिता, निर्ममता और अव्यक्तिकरण का हहराता हुआ सैलाब, दोनों एक ही दृष्टि-बिन्दु के दो सीमान्त प्रतीत होते हैं।

परिवेश और अंचल का सत्य यशपाल की लेखनी की सबसे बड़ी उपलब्धि है, किन्तु जीवन-मूल्यो के व्यापक परिप्रेक्ष्य को प्रभावित करने वाले सूत्र कहीं-कहीं उनके हाथ से छूट जाते हैं, फलतः अनेक स्थलों पर पूर्वाग्रह से अनाक्रान्त दृष्टि भी

---

1. 'झूठा-सच' : वतन और देश : यशपाल, पृ० 440.

किसी-न-किसी स्थिर-रूढ़ दृष्टि-बिन्दु से उलझ कर अपना गन्तव्य खो बैठती है। ऐसे स्थल एक नहीं, अनेक हैं; जहाँ वे स्वानुभूत सत्य या कला-सत्य की अपेक्षा स्थूल सतही सत्य से अधिक प्रतिबद्ध दिखायी देते हैं। चरित्रों के लिये अपेक्षित विराट परिवेश और उभरते जीवन-सत्य सीमित अर्थ, सीमित काल के संस्कार और सीमित परिवेश से जुड़कर अपनी अर्थवत्ता खो बैठते हैं। भारतीय बुद्धिजीवी की अकुण्ठ क्रियाशीलता अन्त में जिस सुविधावादी मानसिक नपुंसकता या पलायन बनकर पुरी के पतन के लिये उत्तरदायी होती है वह किसी सैद्धान्तिक संघर्ष या आत्मिक क्रियाशीलता के उत्कर्षापकर्ष में आकार ग्रहण नहीं करती, बल्कि नितान्त स्थूल घटनाचक्र की सहज परिणति प्रतीत होती है। अतिक्रमण की क्षमता के अभाव के कारण इतिहास की उस पूरी विभीषिका से साक्षात् नहीं हो पाता। परिवेश जैसे स्वयं बाहर रहकर व्यक्तित्व के आन्तरिक विस्फोट और जटिलतर मानसिक स्थितियों का अंग नहीं बनता। संकट-बोध का वह चरम क्षण जहाँ मूल्य विखण्डित होते हैं, नये मूल्य जीवन का प्रकाश देखते हैं तथा नवीन और प्राचीन प्रतिमानों में अन्तःसंघर्ष से राष्ट्र-मानस का आन्तरिक संकट-बोध उभरता है—इस विराट् उपन्यास में स्थूल राजनीतिक परिवर्तन की सीमा-रेखा में बन्दी होकर रह गया है। विस्थापन का सत्य आन्तरिक भी होता है। आस्थाओं, जीवन-मूल्यों, टूटते-जुड़ते प्रतिमानों के कोलाहल से एक नये जीवन-सत्य का अंकुर फूटता है। काल की शक्ति और संस्कार की प्रतिध्वनि इस सत्य को दोहराती भी है और एक नये कोण पर रेखांकित भी करती है, किन्तु यह दोहराना समसामयिक दृष्टि-बिन्दुओं से जुड़कर एक मौलिक अस्तित्व ग्रहण कर लेता है। यह मौलिक दृष्टि यशपाल का प्राप्य है किन्तु उस मौलिक दृष्टि को नया संस्कार, नयी आस्था देकर आधुनिक नियति का अविभाज्य अंग बना पाना, उस ध्वंस से उभरते निर्माण के सत्य के दर्शन कराना एक वृहत्तर कलात्मक परिदृष्टि की अपेक्षा रखता है। फिर भी साम्प्रदायिक विभीषिका और जन-यातना का ऐसा यथातथ्य विराट् अंकन अन्यत्र अलभ्य है। मानव की विवशता, उससे जूझते सामर्थ्य के विभिन्न सन्दर्भ एक ओर शोषण के प्रचलित मूल्यों तथा कठोर नैतिकता को चुनौती देने वाले नारी-पात्रों की अदम्य जीवनाकांक्षा को परिभाषित करते हैं, तो दूसरी ओर वे मध्यवर्गीय संस्कारों की सुविधावादी दृष्टि को प्रगतिशील चेतना का स्पर्श भी देते है। "वस्तुतः 'झूठा-सच' एक ऐसे कलाकार की कृति है जिसमें भावावेग की तटस्थता भी है तथा साक्षी का सत्य भी, जो राजनीतिक मूल्यों के समानान्तर व्यक्ति के संघर्ष को जानता और आलोकित करता है और उस व्यापक सांस्कृतिक संकट को मात्र कल्पना के धरातल पर ही नहीं, अनुभूति और चिन्तन के स्तर पर भी भोगता है। उस संकट-बोध के आन्तरिक क्षणों का चरम साक्षात्कार

यदि वह नहीं करा सका है तो यह उसकी अन्तर्दृष्टि की सीमा है, कलात्मक उपलब्धि की नहीं।"[1]

विभाजन पर रचित कुछ अन्य उपन्यास अपने एकांगी दृष्टिकोण एवं त्रुटिपूर्ण तकनीक के कारण उत्कृष्ट नहीं माने जा सकते। कला की दृष्टि से इनका विशेष महत्व नहीं है। वस्तुतः हिन्दू-मुस्लिम दंगों से सम्बन्धित पाशविक अत्याचारों को कला का रूप देना सहज नहीं है। हत्या और व्यभिचार से उपन्यास में रोचकता और सनसनी आ सकती है, किन्तु हृदय की कोमल वृत्तियों को धीरे-धीरे जगाकर मानवता के प्रति स्वस्थ, सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि उत्पन्न करने के लिये यह पर्याप्त नहीं। आवेश और उद्वेग हृदय पर सात्विक प्रभाव नहीं डाल सकते। उदाहरण के लिये यज्ञदत्त शर्मा के उपन्यास 'इन्सान' को लिया जा सकता है। इस उपन्यास में आवेश जितना अधिक है, संतुलन और तर्क उतना ही कम। 'इन्सान' का आरम्भ हिन्दू-मुस्लिम दंगे के वातावरण मे किया गया है और फिर कम्युनिस्ट पार्टी की आलोचना करते हुए मानवीय आदर्शों की घोषणा की गयी है। दंगे के प्रसग मे उपस्थित किये गये वीभत्स दृश्य प्रभावशाली अवश्य है, किन्तु उनका प्रभाव चौंकाने वाला है, अनुभूति को जगाने वाला नहीं। क्रोध और आवेश में की गयी अत्याचारों की आलोचना उपन्यास के महत्व को कम कर देती है।

चतुरसेन शास्त्री ने भी 'धर्मपुत्र' मे हल्के रंगो का उपयोग नही किया है। इस उपन्यास मे रोमास और यथार्थ का अपूर्व मिश्रण है। एक अविवाहिता मुस्लिम बालिका का अवैध पुत्र हिन्दू कुटुम्ब मे पलकर कट्टर हिन्दू बन जाता है और फिर दंगे में भाग लेकर माँ का घर ही जला देता है। यह नाटकीय प्रसंग अत्यन्त रोचक बना है किन्तु कला की दृष्टि से इस उपन्यास का भी विशेष महत्व नही है। हिन्दू-मुस्लिम दगा यहाँ अपना स्वतन्त्र महत्व नही रखता, केवल कथानक मे एक रोचक प्रसंग उपस्थित करने का कार्य करता है।

वस्तुतः ये उपन्यास भीष्म साहनी, कमलेश्वर, जगदीशचन्द्र, बदीउज्जमा, राही मासूम रजा के उपन्यासो से भिन्न हैं, जिसमें स्थितियो एव चरित्रों का सरलीकरण नही है, कथा का कोई निर्धारित ढाँचा भी नहीं है और भाषा की सम्भावनाओ से पूरा लाभ उठाया गया है। किस्सागोई को समाप्त कर इन कथाकारो ने कथ्य की आन्तरिक माग के अनुकूल शिल्प को विकसित किया है। आरम्भ, मध्य, अन्त की फारमूलाबद्धता को तोड़कर उन्होने अनुभूति के धरातल पर व्यक्ति मन से जुड़े हुए परिवेश को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। राही के उपन्यास 'आधा गाँव' में शैली शिल्प के सर्वथा नये क्षितिज उभर है जो पाठको मे नवीन

1. विघटन के सत्य का अधूरा साक्षात्कार—सुलेखचन्द्र शर्मा : आधुनिक साहित्य : विविध परिदृश्य पृ० 190

चिन्तन-स्तर की सृष्टि करते हैं। यह उपन्यास 'गाजीपुर की तलाश' के परिप्रेक्ष्य में एक सही गाँव गंगौली—कथाकार की जन्मभूमि की हकीकत की पकड़ और वहां गुजरने वाले समय की कहानी प्रस्तुत करता है। कथारम्भ लेखक अपने बचपन से करता है। अपने गाँव को जीने की यह रचनात्मक प्रतिक्रिया अथवा प्रक्रिया कथारूप में बहुत तह से अपरिचित गहराइयों से उठती है। उपन्यास की सकेन्द्रित पटभूमि में एक ही गाव है, वह भी आधा ही जिसे लेखक जीता है, अतः उस पर पड़ने वाला प्रकाश बहुत तीव्र है। अंचल का घनत्व उसके प्रभाव को और नुकीला बनाता है। फिर समसामयिक परिवर्तनों की चपेट में बदलते गाँव की पीड़ा उत्तरोत्तर सघन होती चली जाती है। लेखक 'नगर पुराण कथा' की शैली में गाजीपुर के मुग्धकारी संस्मरण मित्र अति भावुक मुद्रा में प्रस्तुत करता है। फिर मूल कहानी एकदम सहज भाव से आगे बढ़ती है। देश-काल और सामूहिक जीवन की ये तराणहीन, चलती-चलती तस्वीरें गम्भीर उतार-चढ़ाव वाली और अन्तर्विरोधपूर्ण हैं, किन्तु इनमें कल्पना का प्रक्षेपण अत्यन्त सीमित है। भौगोलिक दृष्टि से जितना सत्य एक गाँव गंगौली है, ऐतिहासिक दृष्टि से उतनी ही वास्तविक घटनायें और पारिवारिक कहानियाँ हैं। कहानीपन का परम्परागत आग्रह लेखक के मन में नहीं है। शायद यह पहला उपन्यास है जिसका क्लाइमेक्स इसकी भूमिका है। तीन चौथाई उपन्यास के बाद उसकी अगली कड़ी बनकर भूमिका आ जाती है, 'मैं सैयद मासूम रजाआब्दो, वल्द सैयद बशीर हसन आब्दी बहुत परेशान हूँ...।'[1] उनकी यह परेशानी युग परिवर्तन की भूमिका है। लेखक के अनुसार एक युग की समाप्ति के बाद अपरिचित नवारम्भ भूमिका की माँग करता है। किस्सागोई और बयानबाजी की बिल्कुल अनोखी शैली में समूहचित्रों को बांधना लेखक परिवर्तन की नई तेज चपेट में शायद स्वयं के खो जाने का अनुभव करता है। फिर भी कुल मिलाकर यह न तो अपने को और न किसी कहानी को बांध पाता है। बिखरी कथा में वह समय बाँधता चलता है और आंशिक रूप से बोझिल होकर भी यह समय की कहानी एक सीमा पर पहुँच कर 'अ-समाप्त' हो जाती है।

शैली-शिल्प की यह विशिष्टता तथा आंचलिकता का यह अनोखा स्वाद राही के अन्य दोनों उपन्यासों की भी विशेषता है। शिल्प का यही अनोखापन बदीउज्जमा के उपन्यास 'छाकों की वापसी' में भी देखने को मिलता है जिसमें लेखक बड़ी कुशलता से एक सामान्य घटना के चारों ओर परिवेश की बुनावट करता है इस क्रम में घटना अन्ततः पीछे छूट जाती है और उपन्यास का जो समग्र प्रभाव मन पर शेष रह जाता है, वह मात्र परिवेश के अन्तर्विरोध की कसक होती है। फ्लैश बैक शैली के कुशल प्रयोग द्वारा लेखक अपने साथ-साथ पाठकों को भी कोमल बालस्मृतियों

1 'आधा गाँव'—राही मासूम रजा, पृ० 303

और एक मोहक मुस्लिम संस्कृति को परम्पराओं मे भटकने को ले चलता है। एक शीनकाफ दुरुस्त किस्सागो की भांति वह अपने तर्जेबयां में पाठकों को खीचने की कोशिश करता है। बहुत सारे फालतू जैसे लगने वाले दृश्यों और चर्चाओ को ललित निबन्ध की नई टेकनीक मे वह धड़ाके के साथ पेश करता है। वह सब उपन्यास के मूल कथात्मक आस्वाद में बाधक अवश्य है परन्तु सब मिलाकर जो एक सघन परिवेश बनता है वह आरम्भ से ही गाढा होते-होते अन्त में अपना रंग जमाता है।[1]

शैली-शिल्प की नवीनता की दृष्टि से 'तमस' एवं 'मुट्ठी भर कांकर' भी उल्लेखनीय रचनायें है। 'तमस' का उपन्यासकार अपने रचनात्मक कौशल से विभाजन के अमानवीय परिवेश को मूर्त कर देता है। 'तमस' पांच दिनो की कहानी है, परन्तु उन पाच दिनो के पीछे हमे बहुत सारे दिन, बहुत सारे वर्ष और बहुत सारी शताब्दियाँ झाकती नजर आती है। 'झूठा-सच' का अधिकाश जहाँ पाकिस्तान बनने के बाद को लेता है, वहाँ 'तमस' पहले को। 'झूठा-सच' के विपरीत तमस के कथाकार ने राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली भावात्मक स्थितियों तक ही अपने परिदृश्य को सीमित रखा है। राजनीतिक घटनाओ, दांवपेचो और बौद्धिक उहापोह से उसने अपने को पूर्णतः बचाया है। यह लेखकीय प्रतिभा की मर्यादा नही, उसकी शक्ति है। इसी कारण उपन्यास अधिक जीवन्त और यथार्थ लगता है। इसकी शैली सपाटबयानी की न होकर सरलबयानी की है। लेखक राजनीतिक घटनाओ की विवेचना नही करता, बल्कि समाज के विभिन्न स्तरो पर जीने वाले लोगो को प्रतिक्रियाओ को लेकर चलता है। इसी कारण 'तमस' में अनेक पात्र हैं, परन्तु कोई प्रमुख या केन्द्रीय पात्र नहीं है। लेखक अपना कैमरा जिस ओर घुमा देता है, हमे वह दृश्य दिखाई देने लगता है। उपन्यास में दृश्य मुख्य हैं, पात्र गौण है; लेखकीय कैमरा इन दृश्यो के आस-पास है जो बड़ी खूबी से फोकस करता है। किन्तु लेखकीय कैमरे की अपनी एक सीमा है। इसलिये शहर में घटित होने वाली घटनाओं, प्रतिक्रियाओं का अधिकांश हम लेखक की 'हिन्दू' नजर से देखते हैं। लेखक ने मुसलमानो के हाथ में कैमरा बहुत थोड़ी स्थितियो में और बहुत थोड़ी देर के लिये दिया है। इस दृष्टि से वह अतिरिक्त रूप से सतर्क और सजग है और अपनी सीमा जानता है।[2] परिणामतः 'झूठा-सच' की भाँति 'तमस' मे भी मुस्लिम पक्ष का एकागी चित्रण हुआ है। फिर भी भीष्म साहनी ने

---

1. 'छाको की वापसी' : विवेकी राय : समीक्षा : सम्पादक—गोपाल राय : वर्ष 10—अंक 1-2, मई - जून, 1976, पृ० 15.
2. 'तमस : भीष्म साहनी'—महीप सिंह : आधुनिक हिन्दी उपन्यास, सम्पादक—नरेन्द्र मोहन, पृ० 296.

'तमस' में एक नाज़ुक और जोखिम भरी थीम को उठाकर अन्त तक बड़ी समझ से उसका निर्वाह किया है। इसी में उनके सृजनशील व्यक्तित्व की सफलता निहित है।

'मुट्ठी भर कांकर' शीर्षक कथाकृति भी रचनात्मक स्तर पर कुछ विशिष्ट उपलब्ध कराती है। कहानी और जीवन के बीच के अन्तर को कलात्मक उत्कर्ष द्वारा तिरोहित करने की विलक्षण क्षमता जगदीशचन्द्र ने इस उपन्यास में दिखाई है। उपन्यास की घटनाओं को चित्रात्मक ढंग से उभारकर, संवादों के माध्यम से चरित्रों को खोलते हुए केन्द्रीय अनुभव को लेखक अत्यन्त एकाग्रता के साथ विकसित करता है। सहज ढंग से घटित घटनाओं के बीच से चरित्रों को प्रस्फुटित करते हुए वह स्थितियों के प्रभाव को धीरे-धीरे गहरा कर देता है। ऊपर से तटस्थ दीखते हुए भी मनुष्य के सुख-दुःख में विलक्षण रूप से हिस्सेदार बन जाने के कारण ही वह संवादों के माध्यम से सामान्य मनुष्य की अन्तर्व्यथा का प्रभावपूर्ण सम्प्रेषण कर सका है। उपन्यास का अधिकांश भाग वार्तालाप से भरा हुआ है। इसी कारण सारे चरित्र अपनी आन्तरिक और बाह्य विशेषताओं के साथ जीवन्त हो उठे हैं। समस्त कथ्य नाटकीय रूप में अवतरित हुए हैं। विस्थापितों के पुनर्वास और स्थापितों के विस्था-पित होने में एक द्वन्द्वात्मक नाटकीयता है जो उपन्यास में विविध रूपों में अन्त तक फैली हुई है। अनेक विरोधपूर्ण प्रसंगों को उभारकर लेखक ने कलात्मक प्रभाव उत्पन्न किया है। सारा व्यंग्य शब्दों के माध्यम से नहीं, स्थितियों के माध्यम से व्यक्त हुआ है, इसी कारण स्थायी और सशक्त है। लेखक परिवेश का यथा तथ्य चित्र ही प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि मानवीय जीवन के भावात्मक उद्वेलन को भी मार्मिक अभिव्यक्ति देता है। यह इस रचना का वैशिष्ट्य है कि कहीं भी प्रसंग चित्रण वर्णन के स्तर पर नहीं उतरता। अपनी इन्हीं विशिष्टताओं के कारण ये रचनाएं विभाजन सम्बन्धी कृतियों में अपनी अलग पहचान बनाती हैं।

वस्तुतः इन रचनाकारों के कथा साहित्य में कथ्य की प्रमुखता होने के कारण शिल्प और शैली का प्रयोग इतने कलात्मक ढंग से हुआ है कि कहानीपन कथ्य में समाहित हो गया। अब कथ्य की सृष्टि ही कहानीपन लिये हुए है और इस तरह कहानीपन कहानी की आन्तरिक एकता से समन्वित होकर उसके रूपगठन में भी परिवर्तन उपस्थित करता है। लेकिन यह परिवर्तन कहानीपन का स्वाभाविक रूप ही है। चतुरसेन शास्त्री की कहानी 'लम्बग्रीव' में विभाजन की विभीषिका को एक पौराणिक रूप दिया गया है, फिर भी कहानीपन दबा नहीं है, अपितु शिल्प रचना से उसे अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति मिली है।

इन नये कथाकारों ने शिल्प के स्तर पर पुराने मानदण्डों को तोड़ते हुए नये प्रयोगों की तलाश की है और सहजता, प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, बिम्ब-विधान जैसे शिल्पगत विशिष्टताओं से अपने कथ्य को सूक्ष्म एवं अर्थपूर्ण बनाया है। शिल्प

की यह सहजता मोहन राकेश, कमलेश्वर, भीष्म साहनी जैसे कथाकारों के रचनाओं की विशेषता है। परिवेश की जटिलता एवं व्यक्तिमन की गुत्थियों को सुलझाने के लिये इन कथाकारो ने कई तरह के प्रतीकों का सहारा लिया है जिससे कथा के शिल्प-सौन्दर्य में वृद्धि होने के साथ-साथ कहानी की व्यंजना शक्ति का भी विस्तार हुआ है। मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' मे मलबा विभाजन की विभीषिका के परिणामस्वरूप उजड़े हुए जीवन का प्रतीक बनकर आया है। मलबे के प्रतीक के द्वारा मोहन राकेश ने तत्कालीन परिवेश की क्रूरता और अराजकता की सशक्त अभिव्यक्ति दी है। शिल्प की दृष्टि से मलबे का प्रतीक सार्थक एवं विभाजन के सन्दर्भ को व्याख्यायित करने वाला है। 'मुट्ठी भर कांकर' में भी जगदीशचन्द्र ने प्रतीकात्मकता के द्वारा अपने कथ्य को प्रभावपूर्ण बनाया है। मुट्ठी भर कांकर उन रुपयों के प्रतीक है, जो अपनी जमीनों के मोल के रूप मे गाँव वालों को मिलते है। उन रुपयों की हैसियत मुट्ठी भर कांकरो से अधिक नहीं होती, जिन्हे साइकिल, शराब, कपड़ा, सिनेमा कही भी खर्च किया जा सकता है, किया भी जाता है, और जिसके बाद गाँव वालों को अपनी हालत और हैसियत भी मुट्ठी भर कांकरो से अधिक नहीं रह जाती। इसी प्रकार पहलाद के शेरे कुत्ते को मार खाने वाला लेकिन गाँव वालों की पकड़ में न आने वाला चीता प्रतीकात्मक ढंग से पंजाबी शरणार्थियों तथा गाँव वालों के सम्बन्ध को व्यक्त करता है। महीप सिंह के 'पानी और पुल' मे पत्थर और लोहे से बना हुआ जेहलम नदी का पुल सम्बन्धों की ऊपरी कठोरता, विशेष रूप से क्रूर और कठोर राजनीतिक प्रतिबन्धों का प्रतीक है और पुल के नीचे बह रहा पानी अन्तःसलिला मानवीयता का प्रतीक है जो अन्ततः विभाजन की कृत्रिमता को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देता है "मैंने सुना था जेहलम का पुल बहुत मजबूत है। पत्थर और लोहे के बने उस मजबूत पुल को अंधेरे में मैं देख रहा था। मेरी दृष्टि और नीचे की ओर जा रही थी, वहाँ घुप अंधेरा था, पर मै जानता था वहाँ पानी है, जेहलम नदी का कल-कल करता हुआ स्वच्छ और निर्मल पानी, जो उस पत्थर और लोहे के बने हुए पुल के नीचे से बह रहा था।"[1] कथा के विषय बोध से जुड़े इन प्रतीकों ने जहाँ कथ्य को प्रभावशाली बनाया है, वह यथार्थ को समझने और पहचानने की अर्थपूर्ण दृष्टि भी प्रदान की है।

कथा को अर्थपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक बनाने मे सांकेतिकता की भी अनिवार्य भूमिका है। कथाकार अपने यथार्थ को जितने गहरी संकेतपूर्ण अभिव्यक्ति देगा, कहानी मे उतनी ही संवेदना उत्पन्न होगी। प्रेमचन्द, अज्ञेय, जैनेन्द्र, यशपाल के कथा-साहित्य में भी शिल्प की दृष्टि से सांकेतिकता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु नये

1. 'पानी और पुल'—महीप सिंह : 'सिक्का बदल गया, पृ० 176.

कथाकारों ने सांकेतिकता का प्रयोग अधिकता के साथ किया है। आज सांकेतिकता कथा का शिल्प में इस प्रकार मिली हुई है कि उसका स्वरूप ही बदल गया है। कथा में कथानक, वातावरण, चरित्र एवं शिल्प के माध्यम के रूप में संकेत उभरते हैं और उसकी आन्तरिक शक्ति को तीव्र बना देते हैं। सांकेतिकता के कारण नये कथा-साहित्य के रचना-स्तर में बदलाव आया है। 'मलबे का मालिक' में लेखक मोहन राकेश ने संकेतों के माध्यम से विभाजन की पीड़ा का परिचय दिया है। मकान का मलबा विभाजन के परिणाम तथा उजड़े हुए जीवन का प्रतीक है। कहानी का संकेत इसके अन्त में उभरता है जब भटका हुआ कौआ मलबे में पड़े लकड़ी के चौखट पर बैठकर उसके रेशों को छितराने लगता है और एक कुत्ता उसे वहाँ से उड़ाने के लिये भौंकने लगता है। अपनी-अपनी दृष्टि से इन दोनों का मलबे पर अधिकार है। यह संकेत उस सामाजिक परिवेश को इंगित करता है जो विभाजन का परिणाम है। 'परमात्मा का कुत्ता' मे एक विस्थापित किसान भौंक-भौंक कर अफसरों को न्याय के लिये बाधित कर देता है। जब तक वह शिष्टाचार से काम लेता रहा, असफल रहा। जब बेहयाई को बरकत मानकर वह अपने उद्देश्य मे सफल हो जाता है। इस प्रकार भगवान के कुत्ते ने गतिहीन स्थिति को भौंक-भौंक कर गतिशील बना दिया। कहानी के अन्त मे दफ्तर के जड़ अथवा मशीनी जीवन का संकेत इस स्थिति को गहराता है। 'मुट्ठी भर कांकर' मे भी लेखक जगदीशचन्द्र ने पंजाबी शरणार्थियों के प्रति फैली दहशत का अनेक प्रकार से संकेतात्मक चित्रण किया है। शिल्पगत सांकेतिकता के कारण ही अज्ञेय, मोहन राकेश, कमलेश्वर जैसे कथाकारों की रचनाओं में आन्तरिक अर्थवत्ता, कथ्य की सूक्ष्मता और प्रभाव क्षमता का विकास हुआ है।

प्रतीक तथा संकेतों के साथ-साथ वातावरण निर्माण की दृष्टि से बिम्ब-विधान का सहारा लेने के कारण इनकी रचनाओं मे शिल्प रचना का अधिक कलात्मक रूप उभरा है। बिम्ब अभिव्यक्ति के स्तर पर नये अर्थ-सन्दर्भों को स्थापित करते हुए रचनाकार के अनुभव-संवेदन को प्रेषणीय बनाते हैं। अज्ञेय की कृतियों में शिल्प की दृष्टि से श्रेष्ठ बिम्ब-विधान के उदाहरण मिलते हैं। 'शरणदाता' का यह अंश विभाजन के क्रूर अमानवीय वातावरण को हमारी दृष्टि के सम्मुख सजीव कर देता है "विषाक्त वातावरण, द्वेष और घृणा की चाबुक से तड़फड़ाते हुए हिंसा के घोड़े, विष फैलाने को सम्प्रदायों के अपने संगठन और उसे भड़काने को पुलिस और नौकरशाही! देविन्दरलाल को अचानक लगता कि वह और रफीकुद्दीन ही गलत है जो कि बैठे हुए हैं जबकि सब कुछ भड़क रहा है, उफन रहा है, झुलस और जल रहा है......"[1] 'लौटे हुए मुसाफिर' में उजड़ी हुई बस्ती का यह दृश्य बिम्ब बस्ती के

1. 'शरणदाता'—अज्ञेय : अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग–2, पृ० 247.

उदास वातावरण के साथ-साथ वहाँ के निवासियों की हताश मनःस्थिति को भी सजीव करता है"······सिर्फ नफरत की आग ने इस बस्ती को जला दिया······सब कुछ जल गया, अब तो खाक बाकी है। मस्जिद की मीनार बाकी है, मन्दिर का चबूतरा बाकी है और पुराने घरो की नीव बाकी हैं······कुछ पुराने पेड़ बाकी हैं······सन् सैंतालीस में पाकिस्तान बना और यह चिकवों की बस्ती अपने-आप उजड़ गई। ताँत के सितार पर उभरने वाले शाम के गीत डूब गये······"[1]

राही मासूम रजा के 'आधा गाँव' में भी स्थितियों तथा पात्रगत मनोवृत्तियो को सजीव रूप देने के लिये अनेक सार्थक बिम्बो का सहारा लिया गया है "रात का चाँद निकल चुका था और पोखर के टीलों पर कानाफूसी करते हुए आम, जामुन और पीपल के बूढ़े पेड़ दिखाई दे रहे थे...हर तरफ सन्नाटा था। पोखर का पानी दम-साधे पड़ा हुआ चाँद को टकटकी लगाये देख रहा था...गन्ने के खेतों मे हवा सरसरा रही थी।"[2] यहाँ प्रकृति का सौन्दर्य-चित्रण बहुत दिन बाद घर लौटे तन्नू की मनःस्थितियों को अभिव्यक्ति देने के लिये आया है। बिम्ब-विधान की विशेषता के कारण ही इन कथाकारो की कृतियों मे शिल्प-संरचना कथ्य को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने मे सफल हुई है।

भाषागत स्तर :

शिल्प के विभिन्न तत्वों में भाषा की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। अन्य सभी तत्वो की उपयोगिता अभिव्यक्ति को ही सशक्त एवं सक्षम बनाना है। भाषा अभिव्यक्ति के सभी माध्यमो मे सर्वाधिक प्रचलित एवं महत्वपूर्ण है। युग की बदलती परिस्थितियो एवं जीवन बोध के अनुकूल भाषा का स्वरूप परिवर्तित होता रहा है। प्रेमचन्द से लेकर अब तक साहित्य की भाषा रचनाकार के अनुभव सवेदन को सही रूप से सम्प्रेषणीय बनाने हेतु निरन्तर बदलती रही है। क्योकि साहित्य सिर्फ संवाद नही है, वह वैचारिक संवाद भी है। संवाद के लिये किसी भाषा का व्यवहार किया जा सकता है किन्तु जब विचार तत्व को दूसरों तक पहुँचाना हो तब उसकी 'भाषा' हर जगह, हर समय मौजूद नही होती। इस भाषा की खोज लेखक करता है। अपने प्रस्तावित वक्तव्य को दूसरो तक पहुँचाने की क्षमता रखने वाली भाषा को खोजना आसान नही होता। बोलचाल की भाषा मे भी अधिकाश वही शब्द होते है जो लेखक लिखता है, पर वह उन शब्दो से ही कुछ और ज्यादा ध्वनित कराना चाहता है जो कि आम बोल-चाल मे नही होता, या जिसकी वहाँ जरूरत नही पड़ती। इसलिये परम्परा, सस्कार, पुस्तकों, समय

---

1. 'लौटे हुए मुसाफिर'—कमलेश्वर, पृ० 12.
2. 'आधा गाँव —राही मासूम रजा, पृ० 202-203.

और समाज से जो भाषा लेखक को मिलती है, उसमें से वह अपनी भाषा की खोज करता है, जो उसके समय की परिवर्तित मनःस्थितियों और हाव-भावों का मुहावरा बन सके, जिन्दगी में जो कुछ सम्वेदना ने और जोड़ दिया है, उसे व्यक्त कर सके। अपने वक्तव्य को सही-सही प्रस्तावित कर सकने से ही उसका अर्थ प्रकट हो पाता है। असमर्थ भाषा में लेखक का वक्तव्य भी दमित हो जाता है। भाषा की खोज इसीलिये अर्थों की खोज भी बन जाती है। सही अर्थ को कह सकने के लिये सही भाषा एक अनिवार्यता है। इसीलिये हर लेखक भाषा की खोज करता है। किन्तु सिर्फ सही भाषा की खोज कर लेने भर से वैचारिक संवाद पूर्ण नहीं हो पाता। उसके लिये विचारों को शृंखलित भी करना पड़ता है। इस तरह लेखक में दो स्तरों पर एक साथ चल सकने की क्षमता को भी देखना पड़ता है। लेखक की यह क्षमता ही बोलचाल के शब्दों को 'साहित्य' में बदल देती है।

प्रेमचन्द जैसे सर्जक लेखक की भाषा कथा साहित्य की भाषा का एक कीर्तिमान है। वह भाषा केवल प्रेमचन्द की नहीं, अपने समय की भाषा बन गयी थी। प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय ने समय के विस्तार में प्रचलित भाषा से हटकर अपनी भाषा की खोज प्रारम्भ की। जैनेन्द्र और अज्ञेय की भाषा पर अतिवैयक्तिकता का आरोप लगाये जाने के बावजूद यह कहा जा सकता है कि इनकी भाषा से हिन्दी साहित्य में सूक्ष्म सांकेतिक और प्रतीकात्मकता का एक दौर शुरू हुआ। बिम्ब-विधान और भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति-क्षमता के कारण ही अज्ञेय की भाषा गुरुदत्त की भाषा से भिन्न, अपनी अलग पहचान बनाने में समर्थ है। उदाहरण द्वारा इस अन्तर को समझा जा सकता है।

"देविन्दरलाल फिर खाने को देखने लगे। वह कुछ साफ-साफ दीखना हो सो नहीं; पर देविंदरलालजी की आँखें निस्पन्द उसे देखती रहीं।

आजादी। भाईचारा। देश—राष्ट्र...एक ने कहा कि हम जोर कर के रखेंगे और रक्षा करेंगे, पर घर से निकाल दिया। दूसरे ने आश्रय दिया, और विष दिया।

और साथ में चेतावनी कि विष दिया जा रहा है।...देविंदरलाल ने जाना कि दुनिया में खतरा बुरे की ताकत के कारण नहीं, अच्छे की दुर्बलता के कारण है। भलाई की साहसहीनता ही बड़ी बुराई है। घने बादल से रात नहीं होती, सूरज के निस्तेज हो जाने से होती है।"[1]

'शरणदाता' कहानी की ये पंक्तियाँ मनुष्य के विश्वासों से खण्डित होने की मर्मान्तक वेदना की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति है। दूसरी ओर गुरुदत्त जैसे लेखकों के

1. 'शरणदाता'—अज्ञेय : अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग—2, पृ० 254-255.

इतिवृत्तात्मक भाषा मन पर किसी प्रकार का संवेदनात्मक प्रभाव डालने में असमर्थ रहती है "गुरुद्वारे को घेर लिया गया। कभी-कभी बाहर और भीतर से बन्दूकें चलती रहती थी।...इस परिस्थिति के साथ-साथ बाहर के समाचार गुरुद्वारे मे आ रहे थे। किस प्रकार बच्चों और औरतों के साथ दुर्व्यवहार किया गया था। यह बात अनेकों प्रमाणो सहित गुरुद्वारे के भीतर लोग लेकर आये थे। एक कथा जब वर्णन की जाती थी तो सुनने वालों के रोंगटे खड़े हो जाते थे और घटनाओं में क्रूरता का अनुमान लगा लोगो की आँखों मे आँसू बहने लगते थे।"[1] स्पष्टतः यहाँ घटनाओं के माध्यम से दृश्य उपस्थित किया गया है, इस कारण भाषा मे सपाटता और विवरणात्मकता है। दूसरी ओर अज्ञेय की कहानियों मे घटनाएँ गौण है, संवेदनाओं की अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया गया है, इस कारण भाषा मे सांकेतिकता तथा सूक्ष्मता है तथा उसकी प्रभाव क्षमता कही अधिक बढ गई है। अज्ञेय की इस सूक्ष्म सांकेतिक भाषा की तुलना में यशपाल की भाषा भी कुछ अर्थों में सपाट और वर्णनात्मक ही है; सूक्ष्म सांकेतिकता का उसमें अभाव ही दीखता है। इसका कारण यही है कि 'यशपाल ने भाषा की खोज की कभी परवाह नही की। उन्हें जो कुछ कहना था, वह स्पष्ट था। उनके पास वह सब था, जो उन्हें कहना था,—वैचारिक स्तर पर वे कुछ निष्कर्षो तक पहुँच चुके थे, वे उनकी दृष्टि और आस्था के अंग बन चुके थे, 'कैसे' कहना है की आवश्यकता इतनी उन्हें नही थी, अतः यशपाल ने परम्परा से प्राप्त भाषा को ही स्वीकार कर लिया। यशपाल को अपनी भाषा नही सुनानी है, उन्हे बहुत महत्वपूर्ण बातें सुनानी है। इसलिए यशपाल के कथा-साहित्य में कही भी भाषा नही सुनाई पड़ती, वे बातें ही सुनाई पड़ती है जो वे कहना चाहते है। यशपाल के अतिशय साहित्यिक महत्व के बावजूद भाषा के स्तर पर उनसे कोई खतरा नये लेखक के लिये उपस्थित नही होता।[2]

यशपाल की वर्णनात्मकता की तुलना मे विष्णु प्रभाकर जैसे कथाकारों की भाषा अपने प्रभाव में अधिक सशक्त और समर्थ है। उसमें कही-कही अज्ञेय की भाषा का आभिजात्य है, किन्तु वह यशपाल की भाषा की तुलना में भावुक प्रसगो को अधिक मार्मिक और सूक्ष्म अभिव्यक्ति देने की क्षमता रखती है 'उसे स्वयं जीवन की पवित्रता से अधिक मोह नहीं था। वह खण्डहरों के लिये आँसू भी नही बहाता था। उसने अग्नि की प्रज्वलित लपटों को आँखों से उठते देखा था। उसे

---

1. 'देश की हत्या'—गुरुदत्त, पृ० 147.
2. नयी कहानी की भाषा : कमलेश्वर : नयी कहानी की भूमिका, पृ० 202-203.

तब खाण्डव वन की याद आ गई थी, जिसकी नींव पर इन्द्रप्रस्थ सरीखे वैभवशाली और कलामय नगर का निर्माण हुआ था। तो क्या इस महानाश की नींव पर भी किसी गौरव-गरिमामय कलाकृति का निर्माण होगा?'[1] यह अभिजात्य चतुरसेन शास्त्री के भाषा की भी विशेषता है। 'लम्बग्रीव' शीर्षक कहानी में उनकी तत्सम बहुल भाषा कथा को पौराणिक स्वरूप देते हुए विभाजन की विभीषिका को बड़ी मार्मिकता से उद्घाटित करती है 'उल्कापात ने उन्हें छिन्न-भिन्न किया। आघात ने उन्हें आहत किया, रोग ने उन्हें अल्पायु मृत्यु दी, भूख ने उन्हें बालक बेचने पर लाचार किया। न बूढ़े की लाज रही, न कुल-वधू की मर्यादा...प्राणों को देते-लेते, जीवन और मृत्यु का सामना करते, रात को तारों से भरी खुली रात में बीच राह सोते, दिन जलती धूप में झुलसती आँखों में जार-जार आँसू बहाते, थके हुए, घायल परिजनों को घसीटते और कन्धों पर ढोते हुए चलते चले गए।...अपनी समझ से निर्द्वन्द्व होकर, सब कुछ खोकर—केवल प्राणों का भार लेकर।[2]

विभाजन के बाद की परिवर्तित परिस्थितियों में नये कथाकार के सम्मुख अपने युगीन यथार्थ के सर्जनात्मक भाषा के निर्माण की समस्या उत्पन्न हुई। फलतः नये कथाकार ने एक तरफ अपने पूर्ववर्ती भाषा के संस्कारों से मुक्ति पाने का प्रयास किया, तो दूसरी ओर युग संवेदना के अनुकूल भाषा की तलाश की। कथ्य के परिप्रेक्ष्य में भाषा की रूढ़िगत मान्यताओं को तोड़ते हुए उसे नवीन अर्थ-प्रयोगों की ओर मोड़ा। अछूते अर्थसन्दर्भों की अभिव्यक्ति एवं बदलते युग की विभिन्न स्थितियों से साक्षात्कार हेतु उसने भाषा के परम्परागत रूप को बदल डाला।[3] कमलेश्वर, मोहन राकेश, भीष्म साहनी, कृष्णा सोबती जैसे कथाकारों ने सर्जनात्मक स्तर पर भाषा को नयी अर्थवत्ता दी। पूर्ववर्ती भाषा की तुलना में अधिक यथार्थवादी होते हुए भी उनकी भाषा में भावगत सौन्दर्य का अभाव नहीं है "सुनो, अगर ऐसा न होता तो मुझे चुनार छोड़कर दरवेश क्यों बनना पड़ता? वही चुनार जहाँ मेहदी

---

1. 'मेरा वतन'—विष्णु प्रभाकर : सिक्का बदल गया, पृ० 222.
2. 'लम्बग्रीव'—चतुरसेन शास्त्री : मेरी प्रिय कहानियाँ, पृ० 86.
3. "नये कहानीकार ने इसी भाषा की खोज की है, अपने भीतर से और अपने समग्र में से। इसी भाषा में उसने जीवन-मूल्यों का स्पष्टीकरण किया है। इसी भाषा को उसने सारे विघटन, सारी घुटन, ऊब, बदहवासी और टूटन में से उठाया है...यह भाषा मरते हुए शानदार अतीत की नहीं, उसी में से फूटते हुए विलक्षण वर्तमान की भाषा है।"
—'नयी कहानी की भाषा : गति में आकार गढ़ने का प्रयास' : नयी कहानी की भूमिका : कमलेश्वर, पृ० 210.

फूलती थी। मिशन स्कूल के अहाते के पास—जहाँ से हम गंगाघाट के पीपल तले आते थे और राजा भरथरी के किले की टूटी दीवार पर बैठकर इमलियाँ खाया करते थे।"[1] भाषा का यह सहज सरल रूप इस दौर के कथाकारों के भाषा की विशेषता है, जिनमें जैनेन्द्र के कथा-साहित्य की भाषागत कृत्रिमता एवं रूमानीपन नहीं है। भाषा में सहजता एवं स्वाभाविकता लाने के लिये नये कथाकारों ने पात्रानुकूल भाषा प्रयोग को अपनाया है। इस कारण भाषा लेखक की व्यक्तिगत भाषा न बनकर पात्रगत स्थिति, संस्कार एवं परिवेश से सम्बद्ध हैं; इसी कारण अधिक यथार्थ एवं जीवन्त बन पड़ी है। बदीउज्जमाँ की कहानी 'अन्तिम इच्छा' मे जहाँ नैरेटर की माँ घरेलू भाषा मे अपने भावो को स्वाभाविक अभिव्यक्ति देती है "दो बरस हुए जब आया था कमाल। कहता था, 'बड़ी अम्मा, यहाँ से जाने को जी नहीं चाहता। पर क्या करें मजबूरी है।' दो महीने रहा था बेचारा। कौन कहिस था हुआँ जाने को। नसीबजल्ला कहीं का। सब कहते रह गये, न जाओ। किसी का कहना ना मानिस। बेचारी करमजल्ली बीबी और दो छोटे-छोटे बच्चो का का हाल होहियें।"[2] वहाँ सिन्धी स्टेशन मास्टर के सवादों में भाषा का बिल्कुल भिन्न रूप दिखाई पड़ता है "हम भी कराची से आया है। हमारा नाम लालवानी है। कराची स्टेशन के बाहर निकलते ही दाईं तरफ टी-स्टाल है ना। रफीक को हमारा सलाम बोलना। कहना लालवानी बहुत याद करता है।"[3] कृत्रिम एवं आलंकारिक शब्दावली से बोझिल सायास गढ़ी गई भाषा के पूर्ववर्ती रूप के विपरीत इन कथाकारों ने कथ्य के अनुरूप भाषा का अन्वेषण किया, जिससे भाषा यथातथ्य, प्रामाणिक तथा कहीं अधिक सम्प्रेषणीय बन गयी। इस भाषा ने बड़ी सफलता से परिस्थिति के शिकार मनुष्य के अन्तरद्वन्द्व और उसकी मनोव्यथा को अभिव्यक्ति दी। विष्णु प्रभाकर, कमलेश्वर, मोहन राकेश, कृष्णा सोबती की कहानियों में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जायेंगे। 'मेरी माँ कहाँ' शीर्षक कहानी में कृष्णा सोबती की प्रवाहमयी भाषा बड़ी भावुकता से हत्यारे यूनस खाँ के मन के अनजाने तहों का उद्घाटन करती है "यूनस खाँ के हाथों मे बच्ची···और उसकी हिंसक आँखें नही, उसकी आर्द्र आँखें देखती हैं दूर कोयटे में—एक सर्द, बिल्कुल सर्द शाम मे उसके हाथो में बारह साल की खूबसूरत बहिन नूरन का जिस्म, जिसे छोड़कर उसकी बेवा अम्मी ने आँखें मूँद ली थी।

---

1. 'कितने पाकिस्तान'—कमलेश्वर : भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 35.
2. 'अन्तिम इच्छा'—बदीउज्जमाँ, भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ, पृ० 66.
3. वही, पृ० 66.

सनसनाती हवा में—कब्रिस्तान में उसकी फूल-सी बहिन बल्कि मौत के दामन में हमेशा-हमेशा के लिये दुनिया से बेखबर···और उस पुरानी याद में काँपता हुआ यूनस खाँ का दिल-दिमाग।

आज उसी तरह, बिल्कुल उसी तरह उसके हाथों में···। मगर कहाँ है वह यूनस खाँ जो कत्ले-आम को दीन और ईमान समझकर चार दिन से खून की होली खेलता रहा है···?"[1]

यथातथ्यता के आग्रह के कारण ही नये कथा-साहित्य की भाषा ने विचार तत्व, रूढ़िवादिता और अनावश्यक वर्णनात्मकता का बहिष्कार किया। फणीश्वरनाथ रेणु, राही मासूम रजा, बदीउज्जमां, जगदीशचन्द्र जैसे कथाकारों ने आंचलिक भाषा के माध्यम से ग्राम्य जीवन की अनुभूतियों को बड़ी गहराई और मार्मिकता से प्रस्तुत किया। रेणु के कथा-साहित्य में आंचलिक भाषा को सच्ची और पूर्ण प्रतिष्ठा मिली है। आंचलिक भाषा के प्रयोग ने कथारस में विलक्षण तारल्य, लालित्य और अभिव्यक्ति क्षमता भर दी है" "की मुश्किल होदी टाकदन। "परछाद टाइटेल अपने गाँव के किसी आदमी के नाम से लगा दी, देखोगो फिट ही नहीं करैगा।··· नाम के माफिक चेहरा होना होगा। आसल बात है यह पेट। "ई साला पेट के वास्ते जो कुछ बोलना पड़े—करना पड़े।"[2] राही मासूम रजा के उपन्यास 'आधा गाँव' में भाषा-प्रयोग की दोहरी दिशा दिखाई पड़ती है। एक तो उर्दू का प्रयोग, दूसरे उर्दू के साथ भोजपुरी उर्दू का लोकभाषाई रंग, दोनों मिलकर एक नये स्वाद का सृजन करते हैं। 'होये गया' 'किहिस है' और 'जना रहा है' जैसा भोजपुरी-उर्दू का प्रयोग शुद्ध आंचलिक आग्रह है। ये प्रयोग सर्वसाधारण मुस्लिम जन-समाज में चलते हैं। इस समाज की भाषा पहली बार लेकर कथाकार ने नया चमत्कार पैदा किया है "ई पाकिस्तान त हिंदू-मुसलमानन को अलग करे को बना रहा। बाकी हम त ई देखा रहे हैं कि ई मियाँ—बीबी, बाप-बेटा और भाई-बहिन को अलग कर रहा। कुद्दन हुआँ चले गये त ऊ मुसलमान है, अउर हम हिआँ रह गये त का हम, खुदा न करें, हिन्दू हो गये ?"[3]

'छाको की वापसी' में भी बदीउज्जमा ने लोकभाषा की गाढ़ी चाशनी 'आधा गाँव' की भाँति पेश की है। इस उपन्यास में हिन्दी-उर्दू के साथ 'मगही उर्दू' का प्रयोग हुआ है। दोनों उपन्यासों की लोकभाषा में अद्भुत साम्य है और इससे स्पष्ट हो जाता है कि भोजपुरी अथवा मगही मुस्लिम परिवारों में उर्दू के सम्पर्क से

1. 'मेरी माँ कहाँ'—कृष्णा सोबती, वही, पृ० 57.
2. 'जुलूस'—फणीश्वर नाथ रेणु, पृ० 13.
3. 'आधा गाँव'—राही मासूम रजा, पृ० 297.

किस प्रकार एक सर्वथा नये रूप में निखरती है। 'मुट्ठी भर कांकर' में भी लेखक की अपने परिवेश के साथ तल्लीनता भाषा के स्तर पर देखी जा सकती है' ...मेरी लुगाई एक पल को भी नहीं सोई। सारी रात बिल्ली की तरह कोठे की मुंडेर से लगी-लगी घूमती रही।'[1] 'सवेरे से ताजा दूध छुटे कठड़े की तरह उदास बना बैठा था।'[2] 'इब उत्तम का भाग ऐसे चमका जैसे रेत से रगड़ा हुआ काँस का कटोरा।'[3] भाषा का यह मिजाज, जिसमे गाँव की जीवन-प्रणाली की समस्त गन्ध व्याप्त है, पूरे उपन्यास की विशेषता है। चौधरियों की भाषा, शरणार्थियों की भाषा और उत्तम प्रकाश तथा रणजीत जैसे नव रईसों की भाषा—भाषा के तीन स्तर लेखक की कथ्य से समरस होने की क्षमता का प्रमाण है।

स्पष्टतः इन कथाकारों ने भी जड़ता को तोड़ा है और व्यक्तिगत तथा किताबी भाषा से अपने को पृथक् कर, समय के विस्तार में जी रहे मनुष्य की बोली में नये अर्थों की तलाश की है; हिन्दी भाषा की जीवंतता तथा आन्तरिक शक्ति की पूरी सम्भावनाओं को उन्मुक्त किया है। इस कथा-साहित्य में भाषा के साथ-ही-साथ उसकी एक अनुगूँज भी है और उस अनुगूँज के नीचे एक मूक भाषा भी विद्यमान है। कृष्णा सोबती की कहानी : 'सिक्का बदल गया' का यह अंश बिना सन्दर्भ जाने ही किसी के लिये भी अपना अर्थ दे सकता है 'चनाब का पानी आज भी पहले सा ही सर्द था, लहरें लहरों को चूम रही थी। वह दूर सामने काश्मीर की पहाड़ियों से बर्फ पिघल रही थी। उछल-उछल आते पानी के भँवरों से टकराकर कगारे गिर रहे थे लेकिन दूर-दूर तक बिछी रेत आज न जाने क्यों खामोश लगती थी ... नीचे रेत मे अगणित पाँव के निशान थे।'[4]

राकेश, रेणु, कमलेश्वर, भीष्म साहनी तथा अन्य कथाकारों ने शब्दो को नये सन्दर्भों में रखकर उसे अर्थयुक्त, संयत, प्रौढ़ और पहले से ज्यादा जीवन्त बनाया। अपने कथ्य के साथ उन्होंने अपनी भाषा भी चुनी। वह भाषा हर जीवन-खण्ड के साथ जीवित जन्तुओं की तरह उसी के कथ्य का अविभाज्य अंग बनाकर साकार हुई। इसी कारण गुरुदत्त, रघुवीरशरण मित्र और कुछ हद तक यशपाल तथा भगवतीचरण वर्मा जैसे लेखकों की भाषा से इनकी भाषा में एक स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है।

निष्कर्ष :

विभाजन की पृष्ठभूमि पर रचित कथा-साहित्य के विश्लेषण के बाद इस

1. 'मुट्ठी भर कांकर' : जगदीशचन्द्र, पृ० 71.
2. वही : पृ० 73.
3. वही : पृ० 83.
4. 'सिक्का बदल गया' : कृष्णा सोबती : सिक्का बदल गया, पृ० 86.

निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में विभाजन को लेकर बहुत उत्कृष्ट रचनायें सामने नहीं आईं। एक ऐसी घटना, जिसने भारतीय उपमहाद्वीप के जनजीवन को आन्दोलित किया, अपने आप में जो इतनी बड़ी त्रासदी थी, हिन्दी के कथाकार को जिस सीमा तक और जिस रूप में प्रभावित कर सकती थी, नहीं कर पाई। शायद यह दुर्घटना हिन्दी कथाकार के गहन अनुभव का विषय न बन सकी; चीजों के अर्थ बदल देने वाला नया जीवनानुभव और नई जीवन-दृष्टि प्रदान न कर सकी। दो-दो विश्वयुद्धों के दबाव ने यूरोप के समाज और साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया था। विभाजन कई अर्थों में युद्ध के समकक्ष दबाव वाली घटना थी, किन्तु वह उस अर्थ में, उस हद तक हिन्दी कथाकार के अनुभव का विषय नहीं बन सकी, जिस अर्थ में और जिस सीमा तक युद्ध यूरोप के साहित्यकार के अनुभव का विषय बने थे।[1] इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि विभाजन की घटना ने प्रत्यक्षतः भारतीय उपमहाद्वीप के एक सीमित भाग को प्रभावित किया। पंजाब और बंगाल प्रान्त ही उससे प्रभावित हुए थे, भले ही यह परोक्ष रूप में दूरगामी प्रभाव वाली घटना रही। विभाजन पर लिखने वाले अधिकांश लेखक—अज्ञेय, यशपाल, विष्णु प्रभाकर, मोहन राकेश, रामानन्द सागर, अमृता प्रीतम, अश्क आदि किसी-न-किसी रूप में पंजाब से जुड़े थे, इस कारण विभाजन उनके लिये एक निजी त्रासदी भी रही। अधिकांश उपन्यास एवं कहानियों में विभाजन से प्रभावित पंजाब के क्षेत्र को कथावस्तु का विषय बनाया गया। इसका कारण भी यही है कि अधिकांश लेखक इसी क्षेत्र के थे। केवल रेणु और बदीउज्जमा ने अपने उपन्यासों में विभाजन से प्रभावित बंगाल के क्षेत्र का चित्रण किया। शायद इसलिये कि ये दोनों ही लेखक बिहार के हैं, जो बंगाल के निकट है। इस तरह विभाजन की पृष्ठभूमि पर रचित कथा साहित्य का भौगोलिक क्षेत्र सीमित रहा। विभाजन के भौगोलिक क्षेत्र—पंजाब और बंगाल से दूर के क्षेत्रों में विभाजन के प्रभाव का अंकन बहुत अधिक नहीं हुआ। क्षेत्रविशेष की घटना होने के कारण विभाजन पर रचित कथा साहित्य में आंचलिकता की काफी संभावनायें थीं। किन्तु आंचलिकता का स्वर कुछ ही उपन्यासों में उभरा। रेणु के 'जुलूस', बदीउज्जमा के 'छाको की वापसी', जगदीशचन्द्र के 'मुट्ठी

---

1. "...क्या सार्त्र की कहानियाँ, केवल इसलिये नयी हैं कि उनका गठन नया है? गठन, सार्त्र से अधिक बहुत से दूटपुँजिये कहानीकारों का नया होगा। फिर क्या कारण है कि सार्त्र की कहानियाँ एक अधिक मौलिक और स्थायी ढंग से नई प्रतीत होती हैं। कारण है, नया जीवनानुभव और नयी जीवन दृष्टि ही वह चीज है, जो चीजों के अर्थ बदल देती है।
—'नयी जीवनदृष्टि और नये जीवनानुभव का अभाव'—श्रीकान्त वर्मा : पृ० 32-33.

भर कांकर' तथा राही मासूम रजा के उपन्यासों में आंचलिकता का स्वर उभरा। बलवन्त सिंह का 'काले कोस' तथा भैरव प्रसाद गुप्त का 'सत्ती मैया का चौरा' आंशिक आंचलिक उपन्यास कहे जा सकते हैं।

विभाजन पर रचित उपन्यास-साहित्य की लम्बी सूची मे महत्व के उपन्यास उँगलियों पर गिने जा सकते है। अधिकांश उपन्यासो मे वस्तुस्थिति का चित्रांकन मात्र है, मानवीय संवेगों के चित्रण का प्रयास इनमे नहीं दीखता। गुरुदत्त ने विभाजन को विषयवस्तु बनाकर कई उपन्यासों की रचना की, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इन्हें उच्च कोटि की रचनाओ में नही रखा जा सकता। इनके उपन्यास लेखक के मत विशेष तथा उनके पूर्वाग्रह के कारण प्रचारात्मक हो गये हैं। उनके पात्र लेखक द्वारा आरोपित जीवन जीते हैं। घटना प्रधान एवं विवरणात्मक होने के कारण ही इनका रचनात्मक मूल्य कम हो गया है, यद्यपि घटनाओं का चित्रण भी इस रूप मे किया जा सकता था कि एक प्रभाव निर्मित हो। जैसे रामानन्द सागर के उपन्यास 'और इन्सान मर गया ...' में भी विभाजन का तात्कालिक घटनाक्रम ही प्रधान है, किन्तु अपनी शैली दृष्टिकोण तथा भावुकता के कारण यह उपन्यास गुरुदत्त के उपन्यासो से भिन्न हो गया है। गुरुदत्त के उपन्यासों का महत्व इतना ही है कि इनमे विभाजन के राजनीतिक पक्ष का विस्तृत चित्रण है और इनसे विभाजन के प्रति सामान्य हिन्दू दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलती है। विभाजन के राजनीतिक पक्ष का विस्तृत चित्र भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों तथा यशपाल के 'झूठा-सच' में भी मिलता है। यद्यपि वर्माजी के उपन्यास पूरी तरह विभाजन पर आधारित नहीं हैं; किन्तु इनका एक बड़ा भाग विभाजन की पृष्ठभूमि, उसके घटनाक्रम तथा प्रभावों का अंकन करता है। वर्माजी का हिन्दूवादी दृष्टिकोण गुरुदत्त की तुलना मे अधिक उदार है। पूर्वाग्रहो के बावजूद युग परिवर्तन की उनकी समझ सही है। अपनी सही युग दृष्टि के कारण ही उनकी रचनायें रेखाचित्रात्मक हैसियत से ऊपर उठकर उच्चकोटि के लेखन का दर्जा पा सकी हैं। राजनीतिक पक्ष का विस्तृत चित्रण 'झूठा-सच' की भी विशेषता है तथा अपनी त्रुटियों के बावजूद यह इस विषय पर रचित महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें एक व्यापक फलक पर इस विभीषिका का जीवन्त और यथार्थ चित्र अंकित किया गया है। 'तमस', 'काले कोस', 'मुट्ठी भर कांकर' और 'लौटे हुए मुसाफिर' जैसी रचनाओं में राजनीतिक घटनाओ और दावपेंचों को गौण स्थान देकर सामान्य जनो की प्रतिक्रियाओं को वाणी दी गई है। ये रचनायें बहुसंख्यक दुःखी लोगो को जीवनगाथा है, जो साधारण जनों की समस्याओं तथा विभाजन के कारण उनके जीवन मे आये दुःखद परिवर्तनों को लेकर चलती हैं। कमलेश्वर, बदीउज्जमां, राही मासूम रजा जैसे उपन्यासकारों ने विभाजन के बाद भारत मे रह गये मुसलमानों की द्वन्द्वपूर्ण मनःस्थिति, उनकी अन्तर्वेदना तथा समस्याओं का चित्रण किया। 'लौटे हुए मुसाफिर' का कथानक जहाँ मुसाफिरों के

वापस लौटने, अपनी भूमि से जुड़ने की आकांक्षा की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति देता है, वहीं 'छाको की वापसी' कुछ भिन्न संदर्भों में वापसी की इसी आकांक्षा तथा अपनी भूमि से गहरे लगाव को सशक्त एवं मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करता है। बदी-उज्जमा का यह उपन्यास कई अर्थों में उल्लेखनीय रचना है, क्योंकि इसमें विभाजन के कई वर्षों के अन्तराल के बाद भारत में रह गये मुसलमानों की मनःस्थिति, बुलावे में आकर उनके पाकिस्तान जाने तथा वहाँ के माहौल में अपने आपको अजनबी पाकर वापस लौटने की व्याकुल आकांक्षा का मर्मस्पर्शी चित्रण है। फणीश्वरनाथ रेणु के जुलूस में विभाजन से प्रभावित पूर्वी क्षेत्र के निवासियों के विस्थापन, उनके द्वन्द्व तथा उनकी समस्याओं को मार्मिक वाणी प्रस्तुत की गयी। विभाजन को एक तात्कालिक घटना के रूप में चित्रित न कर इन उपन्यासकारों ने इसके व्यापक प्रभाव का अंकन किया है। इनमें स्थितियों और चरित्रों का सरली-करण नहीं है और भाषा की सम्भावनाओं से पूरा लाभ उठाया गया है।

इस विषय पर अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, मोहन राकेश, कमलेश्वर, कृष्णा सोबती, अश्क, भीष्म साहनी जैसे कथाकारों ने मर्मस्पर्शी कहानियों की रचना की। इनमें कई कहानियाँ उच्चस्तरीय रचनायें हैं। इन कहानियों का स्वर प्रचारात्मक नहीं है, यद्यपि इस विषय पर लिखी गयी कहानियों के प्रचारात्मक होने की काफी संभावना है। अधिकांश कहानियों में घटनायें नहीं, मनःस्थितियाँ महत्वपूर्ण हैं। इसी कारण ये जीवन्त तथा मर्मस्पर्शी बन पड़ी हैं। मानवीय भावों तथा संवेगों का इनमें मर्मस्पर्शी आकलन है। वस्तुतः ये मानवीय मूल्यों की कहानियाँ हैं, जिनमें लेखकों का तटस्थ और पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टिकोण सामने आया है, किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रति नहीं, मानवीय मूल्यों एवं मर्यादाओं के प्रति उनकी पक्ष-धरता स्पष्ट हुई है। विभाजन के अमानवीय परिवेश में उदात्त मानवीय मूल्यों के प्रति एक आशावादी स्वर इन कहानियों में उभरा है। कुछ कहानियाँ आदर्शवाद से परिचालित दीख पड़ती हैं, उदाहरणार्थ लेखक के आरोपित आदर्शवाद को लेकर अज्ञेय के 'बदला' शीर्षक कहानी की आलोचना की जाती रही है। किन्तु उस समय की जो विशेष परिस्थितियाँ थीं; क्रूरता और अमानवीयता का जो माहौल था; उसमें "बदला" के सरदार जैसे चरित्रों की सृष्टि लेखक के मानवीय दृष्टिकोण की परिचायक तथा मानवता के शाश्वत मूल्यों में आस्था दृढ़ करने वाली थी। इन कहानियों ने विभाजन की भयावह दृश्यावली की पृष्ठभूमि में मानव-चरित्र के अज्ञात पहलुओं के उद्घाटन के साथ-साथ विभाजन से उत्पन्न अनेकानेक समस्याओं तथा मानव जीवन की विडम्बनाओं का जीवन्त और मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किया। अनेक कहानियों से अपनी भूमि से अलग होने के लिए विवश मनुष्य की वेदना और करुणा को मार्मिक अभिव्यक्ति दी गई, जिनमें 'मलबे का मालिक', 'परदेसी', 'अन्तिम इच्छा', 'मेरा वतन' जैसी कहानियाँ उल्लेखनीय हैं।

विभाजन सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन से लेखकों का जो दृष्टिकोण उभरकर सामने आया, उससे कुछ बातें स्पष्ट हुई। पहला तो यह कि इन साहित्यकारों ने विभाजन को स्वीकार नही किया। गुरुदत्त जैसे प्रचारवादी लेखक से लेकर विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय, मोहन राकेश जैसे मानवतावादी लेखकों तक—सभी का यही दृष्टिकोण रहा; भले ही दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को गलत मानने के दृष्टिकोण के पीछे गुरुदत्त और इन मानवतावादी लेखको की मूल विचारधारा मे भिन्नता थी। बलवन्त-सिंह के 'काले कोस' का अन्तिम अंश दो राष्ट्रों के सिद्धान्त की आधारहीनता को प्रभावपूर्ण ढंग से स्थापित करना है। महीप सिंह की 'पानी और पुल' शीर्षक कहानी विभाजन की कृत्रिमता को अभिव्यक्ति देने वाली सशक्त रचना है।

उपसंहार . हिन्दी साहित्य को प्रदेय

अपनी त्रुटियो एवं सीमाओं के बावजूद विभाजन की पृष्ठभूमि ने हिन्दी साहित्य को कई उत्कृष्ट साहित्यिक रचनाएँ दी। 'झूठा-सच', 'तमस', 'काले कोस', 'लौटे हुए मुसाफिर', 'मुट्ठी भर कांकर', 'आधा गाँव', 'जुलूस' जैसे उपन्यास तथा अज्ञेय, मोहन राकेश, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, विष्णु प्रभाकर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, महीप सिंह तथा कृष्णा सोबती की कुछ कहानियाँ इस विषय पर रचित महत्वपूर्ण सार्थक रचनाएँ है। विभाजन जैसा दूरगामी प्रभाववाली घटना ने जहाँ भारतवासियों को एक स्वतन्त्र आकाश दिया, स्वप्न और योजनाएँ दी, समस्याओं से जूझने की नई अन्तर्दृष्टि दी, वहीं इसने साहित्य के क्षेत्र में सृजनशीलता के नये धरातल भी प्रस्तुत किये। विषयवस्तु की दृष्टि से विभाजन की घटना ने हिन्दी साहित्य को नये आयाम दिये, फलतः हिन्दी साहित्य के नये ढंग के कथानको का प्रवेश हुआ। 'मुट्ठी भर कांकर' का कथ्य हिन्दी साहित्य के दृष्टिकोण से बिलकुल नया था। इसमें स्थापितो के विस्थापन और विस्थापितो के स्थापन की त्रासदी का मार्मिक चित्रण हुआ। राही, बदीउज्जमाँ और रेणु के उपन्यासों में भी बिलकुल अछूता कथानक, अनोखे शिल्प के साथ प्रस्तुत किया गया। राही के उपन्यासों मे जहाँ भारतीय मुसलमानों की समस्याओं तथा उनकी पीड़ा को तटस्थ और सशक्त अभिव्यक्ति मिली, वहाँ 'छाको की वापसी' में बदीउज्जमाँ ने भूमि से गहरे लगाव को मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति दी। 'जुलूस' में बंगाल के शरणार्थियों की मनःस्थितियो का चित्रांकन हुआ। 'तमस' और 'लौटे हुए मुसाफिर' जैसे उपन्यासो मे साधारण जनों के दुःख-दर्द को वाणी दी गयी। विभाजन से प्रभावित नारी जीवन की समस्याओ एवं विडम्बनाओ को, तट के बन्धन, वह फिर नही आई, मन परदेसी, कुन्ती के बेटे जैसे उपन्यासो मे अभिव्यक्ति दी गई। भले ही यह अभिव्यक्ति बहुत प्रभावपूर्ण न हो किन्तु इनका अपना साहित्यिक महत्त्व तो है ही। शैली-शिल्प के नवीन प्रयोगो तथा आंचलिकता की दृष्टि से 'मुट्ठी भर कांकर' 'छाको की वापसी' 'आधा गाँव' और 'जुलूस'

उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। किन्तु अपनी सीमाओं के बावजूद 'झूठा-सच' इस विषय पर रचित साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसमें विभाजन के सम्पूर्ण परिवेश को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे रखकर स्वस्थ मानवीय पक्ष को उजागर किया गया है। उपन्यास के पहले भाग मे विभाजन-कालीन उग्र साम्प्रदायिक स्थितियों तथा दूसरे भाग मे विभाजन के बाद के परिवर्तित माहौल तथा भ्रष्ट राजनीति का बेबाक खाका खींचा गया है। कई अर्थों में यह उपन्यास इस विषय पर रचित कृतियों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। वस्तुतः भारत विभाजन ने साहित्य को नये विषय, नई स्थितियाँ, नये ढंग के पात्र दिये। अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर, मोहन राकेश, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, कृष्णा सोबती, बदीउज्जमाँ जैसे कथाकारों ने अपनी कहानियों में विभाजन के अनेकानेक पक्षों, उसकी समस्याओं तथा परिणामों को संवेदनापूर्ण वाणी दी। 'ज्ञानी', 'चारा काटने की मशीन' जैसी कहानियों में अश्क ने विभाजन से उत्पन्न मनःस्थितियों का व्यंग्यपूर्ण चित्रांकन किया। आचार्य चतुरसेन शास्त्री की कहानी 'लम्बग्रीव' बिल्कुल भिन्न प्रकार की रचना है, जिसमें श्लेष व्यंग्य के चमत्कार के सहारे सांकेतिक रूप में विभाजन की विभीषिका का चित्रण हुआ। स्पष्टतः मानवीय संवेदना को उद्वेलित करने वाली ये कहानियाँ हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान पाने की अधिकारिणी हैं।

विभाजन की घटना ने प्रत्यक्षतः ही नहीं, अप्रत्यक्षतः भी सृजनशीलता के नये धरातल प्रस्तुत किये। विभाजन ने भारतीय समाज के जीवन मूल्यों, पारम्परिकता तथा बनी-बनायी मर्यादाओं को बहुत दूर तक प्रभावित किया था। हमारे साहित्यिक सृजन को प्रेरित करने वाले विश्वासों को तोड़ डाला था, मानवीय मूल्यों की हत्या कर दी थी। विभाजन के बाद के स्वार्थपूर्ण, भ्रष्ट राजनीतिक वातावरण ने देश को अराजकता की स्थिति में पहुँचा दिया था। अप्रत्यक्ष रूप मे विभाजन की घटना भारतीय जनजीवन की विसंगतियों, उसके मोहभंग तथा पारिवारिक विघटन का कारण बनी थी। इस बदले हुए यथार्थ ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक नया दौर शुरू किया। विभाजन और उससे उत्पन्न परिस्थितियों ने कथाकार को कल्पनालोक से निकालकर यथार्थ की कठोर दुनिया मे जीना सिखाया। फलतः साहित्य में पहली बार आम आदमी को कथा का केन्द्र बनाकर उसकी पीड़ा और वेदना को अभिव्यक्ति दी गयी, उसके जीवनसंघर्ष का चित्रण हुआ। पहली बार मनुष्य को उसके सही परिवेश में चित्रित किया गया—उसकी विडम्बना, उसकी टूटन तथा अकेलेपन की यातना का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया। स्पष्टतः विभाजन की त्रासदी ने भारतीय जनजीवन तथा साहित्य—दोनों पर दूरगामी प्रभाव डाले, इसी कारण विभाजन का वह परवर्ती साहित्य, जो प्रत्यक्षतः विभाजन से सम्बद्ध

नहीं है, विभाजन के कारण हुए परिवर्तनों से प्रभावित हुआ। विभाजन इतने दूरगामी प्रभाव वाली घटना थी कि आजतक भारतीय जनमानस उसके प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाया। अबतक इस विषय पर कहानियों एवं उपन्यासों की रचना का क्रम इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि भारत विभाजन पर आधारित कथ्य की सर्जनात्मक संभावनाएँ साढ़े तीन दशकों के अन्तराल के बाद भी अभी चुकी नहीं हैं। बल्कि समय के अन्तराल ने लेखक की तात्कालिक उत्तेजना और भावुकता को कुछ हद तक सोख लिया है और उसे वह तटस्थता प्रदान की है जो किसी भी कलाकृति के लिये आवश्यक है।

परिशिष्ट—१

विभाजन पर आधारित अन्य भाषाओं का कथा साहित्य : संक्षिप्त परिचय

विभाजन की पृष्ठभूमि पर हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू, बंगला, मराठी, पंजाबी, सिन्धी, डोगरी आदि भाषाओं मे अनेक कहानियाँ लिखी गयी। ये कहानियाँ मानवीय करुणा का दस्तावेज हैं। विभाजन के परिवेश एवं उससे उत्पन्न समस्याओं को इनमे संवेदनात्मक दृष्टि से देखा गया है। अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें प्रत्यक्ष अनुभव की झलक तथा कलात्मक सन्तुलन एवं वैचारिक निष्पक्षता का योग है।

उर्दू :

ए० हमीद की कहानी 'पत्तर अनारां दे' तथा अशफ़ाक़ अहमद की कहानी 'गड़रिया' ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें सांस्कृतिक संकट या द्वन्द्व से उत्पन्न करुणा का चित्रण है। 'पत्तर अनारां दे' आत्मकथात्मक शैली में लिखी हुई है जिसमें सांस्कृतिक और प्राकृतिक उपादानों का कुशल समायोजन विभाजन के करुण प्रभाव को और गहरा कर देता है। 'मेरी प्यारी सहेली ! फिर तो बहुत बुरा होगा, हम लोग इन गलियों को छोड़कर कहाँ जाएँगे ? और जहाँ भी जाएँगे क्या वहाँ अनारों का बाग और टाहलियों के पेड़ होंगे ?'[1] अनारों का बाग, अनारों के फूल, ढोलक की लय और गीत, बचपन के हमजोली और उनसे जुड़ी अनेक मधुर स्मृतियाँ—मन मे इस तरह लिपटे हुए हैं कि इनसे टूटने की कल्पना नहीं की जा सकती। पर विभाजन के दिनों में और उसके बाद, इस टूटने की पीड़ा से बचा न जा सका। साम्प्रदायिकता की आग ने संस्कृति के पेड़ को जलाकर राख कर दिया : 'इस आग, इस दुर्गन्ध, इस हवस में हमारे आँगन वाला अनार का पेड़ मुरझाने लगा। फूलों ने...अपनी मखमली खिड़कियाँ बन्द कर लीं और...अनजान घाटियों की ओर निकल गये...मैं, कमला, बसन्त, रुक्मिणी और पाली उन्हें आवाजें ही देते रह गये...देखते ही रह गये और हमारे बीच एक जबर्दस्त हथगोला फटा और अनार का पेड़ जड़ से उखड़कर दूर जा गिरा। पेड़ के उखड़ते ही हम लोग भी अपनी जड़ों से उखड़ गये, सब लोग उखड़ गये, सब पेड़ उखड़ गये और देखते-ही-देखते वहाँ सिवाय उखड़ी हुई जड़ों के और कुछ दिखाई न देता था।'[2]

---

1. 'पत्तर अनारां दे'—ए० हमीद : सिक्का बदल गया, पृ० 64.
2. वही, पृ० 72

सांस्कृतिक जड़ों से टूट जाने के कारण सम्बन्धों मे तनाव और अविश्वास घर करने लगा। किन्तु सन्देह और हिंसा के इस माहौल में भी मानवीय तत्व पूरी तरह खत्म नहीं हुए थे। मुसलमान जिस सिख प्रहरी को खूंखार और कातिल समझते थे, वही स्टेनगन जमीन पर गाड़कर लेट गया और उसके संरक्षण मे मुसलमानों की भीड़ झुके-झुके, लाइनों, खेतों और बागों में से होती हुई मुस्लिम शरणार्थी शिविर मे पहुँच गई। इस कहानी मे सांस्कृतिक और प्राकृतिक उपकरणों का सर्जनात्मक उपयोग सांस्कृतिक संकट से उत्पन्न मानवीय करुणा को उभार देता है।

अशफाक अहमद की कहानी 'गड़रिया' (उर्दू) मे भी सांझे सांस्कृतिक संस्कार की पृष्टभूमि मे विभाजन की विभीषिका का चित्रण हुआ है। सांस्कृतिक कृतियाँ विभाजन के झटके से कैसे नष्ट-भ्रष्ट हो गईं, कहानी का अन्तिम अंश इसका गहरा एहसास जगाता है। दाऊजी हिन्दू होने पर भी मुस्लिम सभ्यता और संस्कृति मे ढले हुए थे। मुस्लिम धार्मिक ग्रन्थों का गहरा अध्ययन उन्होने किया था। कहानी के 'मैं' को उन्होंने अपने बच्चों की तरह रखा और पाला। विभाजन के बाद इन्हीं दाऊजी को कलमा पढ़ाया गया और रानू ने उनके हाथ मे अपनी लाठी थमाकर कहा : 'चल बे, बकरियाँ तेरी प्रतीक्षा कर रही होंगी।' और नंगे सिर दाऊजी बकरियों के पीछे यूं चले, जैसे लम्बे बालों वाला जिन्न चला आ रहा हो।[1] कहानी मे मानवीय करुणा का जो संस्पर्श है, वह घनिष्ठ सांस्कृतिक-पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन से पूरी कहानी में व्याप्त हो गया है।

विभाजन से उत्पन्न संत्रास की आन्तरिक बनावट बुनने वाली तथा विभाजन की जड़ पर आघात करने वाली कहानी है मन्टो की 'टोबा टेकसिंह'। इसमें बटवारे के कारण निर्मित पागल की मनःस्थिति के 'फोकस' मे बंटवारे को देखा गया है। तर्क-सिद्ध ऐतिहासिक प्रक्रिया को अतार्किक होकर देखने की यह कथा दृष्टि बड़ी तीव्रता और तल्खी से सांझी संस्कृति और मानवीयता का पक्ष सामने लाती है। बंटवारे के दो-तीन साल बाद पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की सरकारों को पागलों की अदला-बदली का खयाल आता है। समझदारों के फैसले के अनुसार ऊँचे स्तर पर कान्फ्रेंस होती है और एक दिन पागलों की अदला-बदली के लिए निश्चित हो जाता है। लाहौर के पागलखाने मे इस तबादले की खबर पहुँचने पर वे सब पागल, जिनका दिमाग पूरी तरह से खराब नही था, इस चिन्ता में डूब जाते हैं कि वे हिन्दुस्तान मे है या पाकिस्तान में। यदि हिन्दुस्तान मे है तो पाकिस्तान कहाँ है और यदि वे पाकिस्तान मे हैं तो यह कैसे हो सकता है कि वे कुछ समय पहले

---

1 'गड़रिया'—अशफाक अहमद : वही, पृ० 61

यहीं रहते हुए भी हिन्दुस्तान में थे।[1] कुछ पागल इसी चक्कर में और पागल हो जाते हैं। एक का कहना है "मैं न हिन्दुस्तान में रहना चाहता हूँ न पाकिस्तान में। मैं इस पेड़ पर रहूँगा।"[2] इसी पागलखाने में बशन सिंह नाम का एक पागल 15 वर्षों से पड़ा है। टोबा टेकसिंह का होने के कारण उसका नाम टोबा टेकसिंह पड़ गया है। टोबा टेकसिंह के पाकिस्तान में चले जाने की बात सुनकर वह बौखला जाता है। अधिकतर पागल इस अदला-बदली से खुश नहीं हैं, क्योंकि उनकी समझ में नहीं आता कि उन्हें अपनी जगह से उखाड़कर कहाँ फेंका जा रहा है। टोबा टेकसिंह हिन्दुस्तान जाने को किसी तरह तैयार नहीं होता। सुबह होने पर अधिकारियों ने देखा "वह आदमी जो पन्द्रह वर्ष तक दिन-रात अपनी टाँगों पर खड़ा रहा था, औंधे मुँह पड़ा हुआ है। उसकी टाँगों के पीछे हिन्दुस्तान के पागलों का दायरा था और उसके सिर की ओर पाकिस्तान के पागलों का दायरा था और बीच भूमि में जिसका कोई नाम न था, टोबा टेकसिंह पड़ा था।"[3] यह कहानी विभाजन के मूलभूत सिद्धान्त पर आघात करती है। विभाजन की पृष्ठभूमि पर उर्दू के प्रसिद्ध लेखक कृष्णचन्दर ने भी कई कहानियाँ लिखीं। 'पेशावर एक्सप्रेस' इस विषय पर लिखी गयी प्रसिद्ध कहानी है, जिसमें पेशावर से अम्बाला कैन्ट जाने वाली एक्सप्रेस गाड़ी की आत्मकथा के माध्यम से विभाजन के समय की पाशविकता, क्रूरता और मूल्यहीनता को उजागर किया गया है।

राजेन्द्रसिंह बेदी की कहानी 'लाजवंती' (उर्दू) में अपहृत स्त्रियों की समस्या को सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक धरातल पर ग्रहण किया गया है। बंटवारे के बाद सुन्दरलाल भारत आ गया, उसकी पत्नी लाजो वहीं रह गई। बंटवारे के पहले वह अपनी पत्नी को मारता-पीटता था, फिर भी उनके सम्बन्ध कटु नहीं थे। अतीत की स्मृतियाँ सुन्दरलाल को कचोटती हैं। सब की पीड़ा में अपनी पीड़ा को घुला देने के उद्देश्य से वह अपहृत औरतों की समस्या से निपटने के लिये बनी कमेटी का सेक्रेटरी बन गया। वापस लाई गई जिन औरतों को स्वीकारने में उनके आत्मीय हिचकिचाते थे, उन्हें सुन्दरलाल समझाता था, ऐसी औरतों को दिल में बसाने का प्रचार करता था। लेकिन जब उसकी पत्नी लाजो लौट आई तब वह मन से उसे स्वीकार न कर सका। उसने लाजो को देवी बना दिया पर दिल में न बसा सका। उसके संस्कार आड़े आ गये। पहले वह आदर्श और भावुकता के स्तर पर जीता था, अब कोरे आदर्श के स्तर पर जीने लगा। सच्चाई का सामना होते ही उसके

1. 'टोबा टेकसिंह'—सआदत हसन मंटो (उर्दू कहानी) अनुवाद : जफर पयामी : वही, पृ० 242.
2. वही, पृ० 242,
3. वही, पृ० 247.

सिद्धान्त हवा हो गये, यद्यपि वह उनका भ्रम जरूर पाले हुए था लाजो देवी बन गई, परन्तु लाजो नहीं बन सकी। वह बस गई, पर उजड़ गई...सुन्दरलाल के पास आँसू देखने के लिए न आँखें थी, न आहें सुनने के लिए कान।...प्रभात फेरियाँ निकलती रहीं और रसालू और नेकीराम के साथ मिलकर वे एक मशीनी आवाज मे गाते रहे—"हथ लायाँ कुमलान नी लाजवन्ती देबूटे।"[1]

रविवार 1979 के 6-12 मई के अंक में जमशेदपुर के साम्प्रदायिक दंगो मे मारे गये जकी अनवर को आखिरी प्रकाशित कहानी 'इश्क' भी अपने वतन के प्रति उत्कट लगाव और वतन छोड़ने के लिये विवश मनुष्य की अन्तर्वेदना के मार्मिक अभिव्यक्ति देती है। यह कहानी उर्दू मासिक 'बीसवी सदी' के अप्रैल 79 के अंक मे छपी थी। पति की मृत्यु के बाद बेगम अलताफ अपने बेटे के पास पाकिस्तान जाने का निश्चय करती है। उनकी पुत्री साजिदा किसी मूल्य पर अपना वतन छोड़ने के लिये तैयार नहीं है, किन्तु पिता की मृत्यु के बाद उसे माँ के दृढ निश्चय के सम्मुख झुकना पड़ता है। घर को बन्धक रखकर माँ-बेटी पाकिस्तान चली जाती हैं, जहाँ साजिदा का विवाह डॉक्टर फरीदी से हो जाता है। साजिदा अपने वतन को याद मे हमेशा छुप-छुप कर रोया करती है। पति भारत मे साजिदा के पड़ोसी चित्रकार फीरोज के प्रति साजिदा के लगाव को इसका कारण समझते है। साजिदा का यह उत्तर उन्हें सन्तुष्ट नही कर पाता कि उसके आँसुओं के पीछे केवल देश प्रेम की भावना निहित है। दुर्घटना में डॉक्टर फरीदी की मौत के बाद एक बार फिर इतिहास अपना पिछला अध्याय दोहराता है। साजिदा अपना मकान बेचकर भारत लौटना चाहती है। उसके भाई और भाभी उसे रोकना चाहते हैं। भाभी भी यही समझती है कि साजिदा फीरोज के इश्क के कारण ही भारत जाना चाहती है। वे साजिदा को फीरोज के मौत की सूचना देती है। लेकिन साजिदा का इश्क फीरोज के अस्तित्व से कही ऊँचा है "निस्सन्देह यह मेरे लिए बड़े दुःख की बात है कि फीरोज मर गया। लेकिन मेरी खुशी के लिए यह बहुत काफी है कि भारत की मिट्टी जिन्दा है। मैं जाऊँगी।"[2] और इस बार साजिदा के साथ-साथ उसकी भाभी भी रो पड़ती हैं।

'रविवार' के 14 दिसम्बर तथा 21 दिसम्बर '80 के अंकों मे प्रकाशित सैयद मुहम्मद अशरफ की लम्बी उर्दू (पाकिस्तानी) कहानी 'डार से बिछुडे' भी वतन छोड़ने और वहाँ कभी वापस न लौट पाने की हताश वेदना की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति है। अपना वतन छोडने को मजबूर लोग डाल से बिछुड़े उन परिंदों की भाँति है,

1. 'लाजवन्ती'—राजेन्द्रसिंह बेदी, अनुवाद—लेखक, वही, पृ० 210.
2. 'इश्क'—जकी अनवर, रविवार—6-12 मई 1979, पृ० 32.

जिनके पंख काट दिये गये हैं। कहानी का 'मैं' यू० पी० का रहने वाला है, जो विभाजन के समय अपना सब कुछ छोड़कर अनजान देश में चला आया था। अब वह सुपरिटेण्डेन्ट पुलिस है, लेकिन वतन की यादें उसे हमेशा बेचैन रहती है। परिन्दों के शिकार के लिये जाते समय उसकी मुलाकात अवध के मित्र नवाब से होती है। नवाब की बातें और पंख टूटे परिन्दे उसे बुरी तरह झकझोर कर देते हैं "अल-विदा... ऐ मासूमो अलविदा... इन साथियों को भूल जाओ......इन मरमल्लियों को भुला दो।......तुम्हारे पंख टूट गये हैं न। अब तुम कभी वहाँ नहीं जाओगे... कभी नहीं......"[1] वहीं वह अपने ड्राइवर गुलाम अली की बीबी जमीला से मिलता है जो जिला हरदोई की रहने वाली है। वह चाहती है कि एक बार भारत जाकर अपना घर देख आये। लेकिन गुलाम अली अपनी मेहनत की कमाई इस व्यर्थ के शौक में फूँकना नहीं चाहता। जमीला की विवशता भी 'मैं' को पर-टूटी मुर्गाबी की याद दिलाती है "परिन्दे, तेरे पर टूट गये। तू अब वापस वतन के मैदानों में नहीं जा सकती। खुदा हाफिज ऐ मासूम औरत! तुम भी उस सरजमीं को नहीं देख सकोगी, जहाँ तुम्हारा शऊर बेदार (जाग्रत) हुआ था। जहाँ तुमने लोकगीत सुने थे, जहाँ तुमने सावन के झूले-झूले थे, जहाँ तुमने अपनी हमउम्र लड़कियों के साथ सपने सजोये थे।......सब भूल जा, मेरी प्यारी बहन।......तालाब की सतह पर फड़कने से फायदा क्या......आड़ में छुपे शिकारी ने तेरे पर कब के तोड़ दिये......अब क्या धरा है......।"[2] और तब मैं को लगता है कि 'हम इन परिन्दों से भी ज्यादा लाचार और बेबस हैं कि कम-अज-कम ये अपने पंख टूट जाने के बाद जिबह तो कर दिये जाते हैं। और हम लोग......हम लोग तो लम्हा-लम्हा जिबह हो रहे है। हमारी उमंगें लम्हा-लम्हा कत्ल की जा रही हैं।'[3] इसीलिये मौका मिलने पर भी वह परिन्दों पर गोली नहीं चलाता। परिन्दों की उड़ती हुई टोली से वह चुपके से कहता है "......इतना करना कि हिन्दुस्तान पर से गुजरो, तो उन लोगों का मातम कर लेना, जो वहीं से आकर बेवतन हो गये थे।......हर जगह तुमको कितने ही शिकस्ता (टूटे हुए) पर मिलेंगे, जहाँ किसी को देखना, तो समझ लेना कि यह भी बर्फ को चूमने के सपने देख रहा है। बस वहीं तुम भी जरा दुखी हो लेना। जाओ, अब पहाड़ों के पीछे अपने वतन वापस चले जाओ।'[4] अपने वतन लौटने की नाकाम उम्मीदों, सपनों और विवशताओं को इस कहानी में मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है।

---

1. 'डार से बिछुड़े'—सैयद मुहम्मद अशरफ : रविवार, 21 दिसम्बर' 80, पृ० 30.
2. वही, पृ० 32.
3. वही, पृ० 34.
4. वही, पृ० 35.

बंगला :

विभाजन की पृष्ठभूमि पर बंगला में भी कई कहानियाँ लिखी गयी, जिनमे विभाजन के सन्दर्भ में मानवीय सम्बन्धों और मूल्यों में उत्पन्न द्वन्द्व, दुविधा और विघटन को आधार बनाया गया। मनोज बसु की 'सीमान्त', मानिक बन्द्योपाध्याय कहीं 'स्थान और स्तान मे' सम्बन्धों और मूल्यों के विघटन और द्वन्द्व की कहानियाँ है।

मनोज बसु की कहानी 'सीमान्त' में इस्माइल और मंजु के रिश्ते के शुद्ध मानवीय सम्बन्ध को उजागर किया गया है। विभाजन कालीन हिंसक, क्रूर परिवेश इस्माइल को कचोटता है तो एक वैयक्तिक प्रसंग कि उसके बेटे की हत्या कर दी गयी थी, उसकी मानसिकता को जकड़े हुए हैं। मंजु सन्देह और नफरत के माहौल मे भरोसे की जगह समझ कर इस्माइल के पास आई है किन्तु इस्माइल अपनी जकड़न से मुक्त नही हो पाता। अन्ततः उसकी मानवीय सवेदना इस जकड़न को तोड़ती है। वह अशर्फियो की हाँडी मंजु को चलती ट्रेन में थमा जाता है – जिन अशर्फियो के द्वारा वह बेटे की आत्मा को शान्ति पहुँचाना चाहता था, उसी से वह मंजु के भविष्य का प्रबन्ध कर देता है : 'रेलगाड़ी मोड पर जाने कब विला गई है। सारी जिन्दगी की साध और सम्बल लेकर उस रेलगाड़ी मे एक लड़की चली गई है—किसी भी नजरिये से जो अपनी सगी नही, न खून के लिहाज मे और न मजहब या हालात के लिहाज से।'[1] मानवीय रिश्ते का यह एहसास सभी कृत्रिम सीमाओ को तोड़ देता है।

मानिक वंद्योपाध्याय की कहानी 'स्थान मे और स्तान में' में विभाजन के दिनों में पूर्वी बंगाल और पश्चिमी बंगाल के बीच का तनाव अभिव्यक्त हुआ है। यह तनाव सम्बन्धों में कैसे रँग आया है, इस कहानी मे देखा जा सकता है। नरहरि ढाका से अपनी ससुराल कलकत्ता आया है, अपनी पत्नी को ढाका लिवा ले जाने के उद्देश्य से। ससुराल का कोई सदस्य दंगो मे सुमित्रा को भेजने के लिये तैयार नही। परिस्थिति का ज्ञान नरहरि को भी है, किन्तु वह विवश है। उसकी नौकरी के लिये यह आवश्यक है, क्योंकि जो परिवार सहित ढाका मे रहेंगे, उन्ही पर विश्वास किया जायेगा। किन्तु सुमित्रा तैयार नही होती। परिणाम होता है "क्रमशः कलह और रुदन। यह सब पहले भी बहुत होता रहा है, आज जाने किस विष ने इस कलह और रुदन को विषैला बना दिया है।"[1]

पंजाबी :

पंजाबी में भी इस विषय पर अनेक कहानियों की रचना हुई, जिनमे जमीन

---

1. 'सीमान्त'—मनोज बसु : अनुवाद—प्रबोध कुमार मजुमदार : वही, पृ० 171.
1. 'स्थान और स्तान में'—मानिक बंद्योपाध्याय : अनुवाद—प्रबोध कुमार मजुमदार—वही, पृ० 184.

से उखड़े हुए आदमी की करुणा और अन्तर्वेदना तथा अपहृत स्त्रियों की समस्याओं का चित्रण किया गया।

लोचन बख्शी की कहानी 'धूल तेरे चरणों की' में मातृभूमि के प्रति पालासिंह का उत्कट तथा गहरी करुणा का उत्पादक है। पालासिंह ग्यारह वर्षों के लम्बे अरसे के बाद धार्मिक स्थलों के दर्शनार्थ पाकिस्तान आया है। कभी रावलपिण्डी के पश्चिमी रेलवे इलाके में उसका गाँव था। फिर न जाने क्यों लोगों के सिर पर पागलपन का भूत सवार हुआ और अपने पराये हो गये। पालासिंह सब कुछ छोड़कर सरहद के पार चला आया। अब यूँ तो उसके पास सब कुछ था, लेकिन वह दुनिया न थी। अपने दालान का कुआँ उसे कभी न भूला।[1] उस शुष्क, बंजर धरती में मीठे पानी का वह कुआँ एक अनमोल सम्पदा की भाँति था। वर्षों के अन्तराल के बाद अपने गाँव पहुँचने पर पालासिंह यह देखकर बहुत दुःखी होता है कि लोग उस कुएँ के पानी को जहरीला समझ कर नहीं पीते। पालासिंह अमृत बतलाते हुए कुएँ का पानी निकाल कर पी लेता है। आश्चर्य चकित गाँव वाले फिर से कुएँ का पानी पीना शुरू कर देते हैं। लौटते समय पालासिंह उस धरती को प्रणाम करता है और मुट्ठी-भर रेत अत्यन्त स्नेह, श्रद्धा और सम्मान के साथ रख लेता है।

गुलजारसिंह संधु की कहानी 'आखिरी तिनका' में विभाजन की पाशविकता का शिकार बनी मुस्लिम स्त्री फातिमा को केन्द्र में रखकर कथा की रचना हुई है। विभाजन के दिनों में फातिमा को अपने यहाँ शरण देकर चन्दन उसको अपना भी बना लेता है। उसकी माँ भी फातिमा को बहू बनाने को तैयार नहीं। नम्बरदार के लड़के से कहकर वह फातिमा को ले जाने के लिये पुलिस को खबर करवा देती है। चंदन के अनुनय और फातिमा की अनिच्छा के बावजूद फातिमा को पाकिस्तान जाना पड़ता है। परिचित घटनाओं द्वारा वस्तु-विन्यास होने के बावजूद विभाजन के सन्दर्भ में उत्पन्न करुणा कहानी के अन्त में व्याप्त हो जाती है।

कुलवन्त सिंह विर्क की कहानी 'घास' अपहृत स्त्रियों की समस्या का एक कारुणिक पक्ष प्रस्तुत करने के साथ-साथ मनुष्य की अदम्य जिजीविषा की ओर भी संकेत करती है। कहानी का 'मैं' भारत सरकार की ओर से पाकिस्तान में तैनात अफसर नियुक्त होता है, जिसका काम अपहृत स्त्रियों को वापस भारत पहुँचाना है। इस क्रम में वह एक ऐसी स्त्री के पास पहुँचता है, जो उस गाँव के नम्बरदार की पुत्र वधू थी। उसके घर के सारे लोग दंगों में खत्म हो गये थे। पाकिस्तान से निकल पाना उसकी कल्पना से परे की बात थी। वह 'मैं' से आग्रह करती है "तुम मेरे सिख भाई हो, मैं भी कभी सिख थी।......इस समय इस दुनिया में मेरा कोई नहीं

1. 'धूल तेरे चरणों की'—लोचन बख्शी : अनुवाद—महीप सिंह, वही, पृ० 210.

है·· तुम मुझ सहारा दो। मेरी एक छोटी ननद है। निगोड़े ग्यारह चक वाले उसे ले गये हैं। तुम उसे यहाँ मेरे पास ला दो ·····वह मेरे पास आयेगी तो मैं अपने हाथ से उसका हाथ किसी को दूँगी, मेरी साँझ बढ़ेगी, मेरे सम्बन्ध बढ़ेंगे। मैं किसी को अपना कह सकूँगी।"[1] एक बूढ़े जाट की बात 'मैं' के दिमाग में चक्कर काटने लगती है "देखो घास होती है न खेत मे, बुनाई करते समय तो उसे उखाड़ने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी जाती। सारी जड़ से उखाड़ कर खेत के बाहर फेंक देते है। परन्तु दस दिन बाद फिर अंकुर निकल आते हैं।"[2] विभाजन के क्रूर और हिंसक परिवेश में जीवन के प्रति यह आशावादी दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है।

गुजराती :

जयंति दलाल की कहानी 'लुटा हुआ' (गुजराती) में चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व के साथ-साथ विभाजन के दौरान तथा उसके बाद की घटनाओं का आन्तरिक विन्यास किया गया है। सरदार मुच्चासिंह की पत्नी दगाइयों के हाथ पड़ जाती है। पति का कर्तव्य न निभा पाने की वेदना और ग्लानि निरन्तर सुच्चासिंह को कचोटती रहती है। सरकार अपहृत स्त्रियो को वापिस लाने का प्रबन्ध करती है। सरदारजी की पत्नी इन्दर भी लौटती है; किन्तु '···उसके मुँह मे जैसे जीभ नहीं है—ऐसा व्यवहार करती है। ···जो सितम उसपर ढहा उसके बारे मे वह कुछ नही कहती। ···सुच्चासिंह ने बार-बार पूछा, मिन्नत की, धमकी भी दी·· पर घाव के अतिरिक्त दूसरी बातो के लिए उसने एक शब्द भी नही कहा। उसकी आँखो मे भय, विषाद और बेबसी की छाया दिखाई देती है।'[3] सुच्चासिंह न बोल पाता है, न सहन कर पाता है। कहानी के व्यंजनापूर्ण अन्त द्वारा सुच्चासिंह की वेदना और उनका अन्त-र्द्वन्द्व साकार हो उठता है।

मराठी :

ना० ग० गोरे की कहानी 'चुल्लू भर पानी, चुल्लू भर खून'[4] (मराठी) परिवेश के दबाव से निर्मित क्रूर मानसिकता का बोध जगाती है। विभाजनकालीन हिंसा और क्रूरता ने किस प्रकार मनुष्य की मानसिकता को परिवर्तित किया, मानव-

1. 'घास'—कुलवन्त सिंह विर्क, अनुवाद : कीर्ति केसर, वही, पृ० 84.
2. वही, पृ० 85.
3. 'लुटा हुआ'—जयंति दलाल, अनुवाद : डॉ० चन्द्रकान्त मेहता : सिक्का बदल गया, पृ० 111.
4. 'चुल्लू भर पानी, चुल्लू भर खून' : ना० ग० गोरे, अनुवाद—वसुधा माने, वही, पृ० 122.

मन को विकृत किया; इसका यथार्थ चित्रण इस कहानी में हुआ है। जो ऊधमसिंह दो-चार वर्ष पूर्व गाड़ी में सफर करते समय एक मुसलमान बच्चे अनवर के लिये प्यार का रिश्ता बुनता है, उसमें अपने बच्चे की झलक पाता है; दंगों के दिनों में प्रतिशोध भाव और घृणा से भरकर वह उसी बच्चे की हत्या कर डालता है। विभाजन का परिवेश संवेदनशील हृदय को किस प्रकार मानव-विरोधी, संस्कृति-विरोधी बना देता है, यह कहानी इसका गहरा एहसास जगाती है।

सिन्धी :

मोतीलाल जोतवाणी की कहानी 'धरती से नाता' (सिन्धी) में इस समस्या का एक अछूता पहलू सामने आया है। विभाजन ने सिन्धी लोगों से उनका वतन, संस्कृति, भाषा—सबकुछ छीन लिया। 'बंगालियों को आधा बंगाल और पंजाबियों को आधा पंजाब मिला। लेकिन हम सिन्धियों को? हमारा सिन्ध पूरा का पूरा पाकिस्तान बन गया।'[1] अब इनका सर्जनात्मक माध्यम क्या हो? सिन्धी में लिखते हुए क्या ये छोटे दुकानदार होकर ही रह जायेंगे? 'हमारा अपनी भूमि से रिश्ता टूट गया है। इसलिये हम लोगों द्वारा रचित पात्र कृत्रिम हैं; व नई दिल्ली के कनाट प्लेस या बम्बई के फ्लोरा फाउन्टेन क्षेत्रों में घूमने वाले कोई भी लोग हैं। उन पात्रों का कोई चेहरा-मोहरा है?... कोई अलग पहचान, कोई अलग अस्तित्व है? लगता है, सब भीड़-भाड़ में खो गए हैं।'[2] तात्कालिक शून्य में भटकते, अभिव्यक्ति के संकट से जूझते हुए पात्रों की अन्तर्वेदना का इस कहानी में उद्घाटन हुआ है।

गुलजार अहमद की कहानी 'यादें' (सिन्धी) में भी अपने वतन, अपने सांस्कृतिक प्रतीकों से जुड़ने की तड़प अभिव्यक्त हुई है। पाकिस्तान के निवासी अबु-अल-हसन की हांगकांग में सिन्धी लोगों से भेंट होती है। ये वे लोग हैं जो अपना वतन छोड़ने के लिये विवश हुए किन्तु अभी भी अपने देश सिन्ध के दर्शन तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत से जुड़ने के लिए तड़प रहे हैं। एक वृद्ध सिन्धी अपने पुराने घर, घर के आंगन में अपने हाथों लगाये गये आम के पेड़ की स्मृतियों में खोया हुआ है। अबु-अल-हसन से वह अपने घर में जाने का आग्रह करता है "जब तुम उस घर में जाओ, तब वहाँ रहने वालों से विनती करके उस आम के पेड़ का एक ताजा पत्ता मांग लेना। फिर वह पत्ता बड़ी खबरदारी से मेरे पास पार्सल कर देना ... यही मेरा सबसे बड़ा काम है।"[3]

शेख अयाज की कहानी 'पड़ोसी' (सिन्धी) जून 1947 में छपी थी। इस कहानी का मूल स्वर यह है कि सिन्ध सिन्धियों का है; सिन्ध के मुसलमानों को

1. 'धरती से नाता'—मोतीलाल जोतवाणी, अनुवाद—लेखक, वही, पृ० 186.
2. वही, पृ० 189.
3. 'यादें'—गुलजार अहमद, अनुवाद—प्रताप गुरुस्वाणी, —वही, पृ० 96.

हिन्दुओं की रक्षा करनी चाहिए और हिन्दुओं को अपना वतन नहीं छोड़ना चाहिये। सिन्ध की जिन्दगी में बुनी हुई कई ऐसी स्थितियाँ थी, जिनमें आम हिन्दू मुसलमान आपस में ताने-बाने की तरह जुड़े हुए थे और जिनमें सिन्ध की एक सभ्यता, एक राष्ट्रीयता झलकती थी। अगर ये लोग सिन्ध छोड़ गये तो कौन वहाँ उनको शाह लतीफ की कविता सुनायेगा ? "हम सिन्ध शाह की कविता पर जान देनेवाले सिन्ध नदी पर जीनेवाले, सिन्ध से बाहर जाकर कैसे जीवन बितायेंगे ?"[1] ये हिन्दू उदयपुर या जोधपुर में हिन्दुओं के साथ रहने से अच्छा यही समझते हैं कि वे सिन्ध मे मुसलमान भाइयों के हाथो मरें। क्योंकि 'इस देश के साथ मेरी आत्मा जुड़ी हुई है। यहाँ के रास्ते, बाग-बगीचे और लाग मेरी आत्मा में रच गये है। मेरी हस्ती सिन्ध के बिना मुरदे के बराबर है।'[2] इस विचार को लेखक ने सम्बन्धों के धरातल पर सक्रिय होते हुए, केन्द्रीय चरित्र खानू के बदलते हुए रवैये के रूप मे दिखाया है।

डोगरी :

वेद राही की कहानी 'मौत' (डोगरी) परिवेश के दबाव से सम्बन्धो में झलक आनेवाली दहशत की कहानी है। सलीम और मदन बचपन के दोस्त है। विभाजन के समय जब दंगे शुरू होते है, सलीम के सिवा उसके परिवार के सारे लोग पाकिस्तान चले जाते हैं। विभाजन के बाद अपने ही शहर मे सलीम से मिलकर मदन को बहुत प्रसन्नता होती है। वह उसे अपने नये मकान मे ले जाता है। यह ज्ञात होने पर कि इस मकान में रहनेवाला मुसलमान परिवार कत्ल कर दिया गया, सलीम आतंकित हो उठता है। तब वह अपने मित्र से पूछता है—"मदन क्या तुम मुझे कत्ल कर सकते हो ?"[3] फिर वह चिल्ला उठता है, "नहीं, नहीं, मदन तुम मुझे कत्ल नही ⋯"[4] विभाजन से निर्मित आतंकपूर्ण मनःस्थिति ने सम्बन्धों की सहजता को समाप्त कर दिया है।

धर्मयुग 11 अप्रैल तथा 18 अप्रैल 1932 के अंकों मे प्रकाशित ओम गोस्वामी की लम्बी डोगरी कहानी 'भीगी मिट्टी' विभाजन के कारण उत्पन्न विडम्बनापूर्ण स्थितियों के एक अछूते पक्ष को प्रस्तुत करती है। विभाजन के समय तित्तरू और उसका परिवार भारत आ जाते हैं। भगदड़ मे उनका बड़ा पुत्र जग्गो सीमा पार रह जाता है। पैंतीस वर्षों के बाद माँ-बाप की ममता जग्गो को सीमा पार खींच लाती है। लेकिन अब वह जग्गो नही, सादिक अली है। पाकिस्तान मे

1. 'पड़ोसी'—शेख अयाज, अनुवाद—जफर पयामी : —वही, पृ० 239.
2. वही, पृ० 237.
3. 'मौत'—वेद राही, अनुवाद–लेखक, सिक्का बदल गया, पृ० 235.
4. वही, पृ० 235.

उसके पास सब कुछ है, कोठी, नौकर-चाकर और सुख-सुविधा की प्रत्येक वस्तु। भारत में माता-पिता की दयनीय अवस्था और उनके जात-कुल के झगड़े को देखकर वह स्तंभित रह जाता है। अब तक पाकिस्तान में यह सुनता आया है कि भारत में छुआ-छूत और जाति-पाँति के झमेले खत्म हो गये हैं। लेकिन यहाँ आकर वास्तविकता का दूसरा ही रूप उसे देखने को मिला है। तब उसे लगता है कि उसकी बेटी बहिन और बेटा परवेज अगर यहाँ पले-बढ़े होते तो सवर्ण उन्हें इस रूप में बढ़ने देते? मुखिया जैसे लोग उन बच्चों का हक मारकर उन्हें उसके माँ-बाप की तरह कंगाल न बना देते? माँ-बाप की ममता उसे रोकती है, किन्तु परिस्थितियों से लड़ना अब उसके वश में नहीं। उसे वापस पाकिस्तान लौटना ही है, जहाँ उसके बीवी-बच्चे उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, जहाँ उसका घर है, रसूख है, समाज में एक सम्मानित दर्जा उसे मिला है। माँ-बाप की तरह वहाँ वह अछूत और वंचित नहीं है। 'महज संवेदना के सहारे जिन्दगी की तमाम सुविधाओं को कुर्बान नहीं किया जा सकता।'[1] इस कारण वह जिस रास्ते से आया था, उसी रास्ते से मुड़ चलता है।

विभाजन की पृष्ठभूमि पर अंग्रेजी में भी कई कहानियाँ लिखी गयीं।

अंग्रेजी :

'दि रायट' शीर्षक कहानी में खुशवन्त सिंह ने दिखाया है कि किस प्रकार दो कुत्तों की लड़ाई साम्प्रदायिक झगड़े का कारण बनती है।

शान्ताराम राव की 'कीनिक्स प्लेक' शीर्षक कहानी में एक बूढ़ा की दुखद मृत्यु का चित्रण है, आत्मीयों के पाकिस्तान चले जाने के बाद आग में झोंक कर जिसकी हत्या कर दी जाती है।

आर० के० नारायण की कहानी 'ऐनदर कम्युनिटी' में भी साम्प्रदायिकता की भावना पर तीखा व्यंग्य किया गया है।

ख्वाजा अहमद अब्बास की कहानी 'दि ग्रीन मोटरकार' विभाजन के कारण बिछड़े हुए दो प्रेमियों के पुनर्मिलन की कथा है।

आग का दरिया : (उर्दू उपन्यास)

कुरअतुलऐन हैदर रचित 'आग का दरिया'[2] शीर्षक उर्दू उपन्यास भारतीय इतिहास के चार विशेष युगों की कथा है, जिसके अन्तिम भाग में भारत विभाजन की त्रासदी का मार्मिक चित्रांकन हुआ है। विभाजन के कारण भारतीय मुसलमानों के जीवन में उत्पन्न दुविधाओं तथा विडम्बनाओं का बड़ा यथार्थ और मर्मस्पर्शी चित्र यह उपन्यास प्रस्तुत करता है। सदियों से एक दूसरे के साथी और हमदर्द हिन्दू-

1. 'भीगी मिट्टी : ओम गोस्वामी, धर्मयुग 18 अप्रैल 82, पृ० 37.
2. 'आग का दरिया' : कुरअतुलऐन हैदर, (उर्दू उपन्यास)

मुसलमान राजनीतिक चालबाजियो का शिकार होकर किस प्रकार धीरे धीरे एक दूसरे से दूर होते चले जाते है, इसका तटस्थ चित्रण लेखिका ने किया है। कमाल रजा, हरिशकर, गौतम नीलाम्बर, अप्पी, तलअत, निर्मला और चम्पा जैसे प्रतिनिधि चरित्रो के सहारे लेखिका ने विभाजन के दर्द और पीड़ा को बडी गहराई और भावुकता के साथ प्रस्तुत किया है। कमाल और चम्पा जैसे लोगो को अपने वतन पर गर्व है। हिन्दुस्तान उनका प्यारा वतन है, जहाँ सात-आठ सौ साल से उनके पुरखे पैदा होते आये है। काशी की गलियाँ, घाट और शिवालय चम्पा के उतने ही अपने हैं, जितने उसकी सखी लीला भार्गव के। फिर यह क्या होता है कि बडी होने पर उसे पता चलता है कि इन शिवालयो पर उसका कोई हक नही, क्योंकि वह माथे पर बिन्दी नही लगाती और तपलेश्वर की आरती उतारने के बजाय उसकी माँ नमाज पढती है। बस इसीलिये उसकी तहजीब दूसरी है, वफादारियाँ दूसरी है। तिरंगे के साये मे उसे अजनबी समझा जाता है। कमाल रजा को भी अपनी राष्ट्रीयता और हिन्दू दोस्तों के कारण जलील होना पड़ता है। विभाजन के समय की क्रूरता और अमानवीयता नयी पीढ़ी को बुरी तरह मर्माहत करती है। उन्हें लगता है कि सारी फिजा से बेगुनाह इंसानों का खून बह रहा है। अब वे शीतल बसन्त की ओर कैसे लौटें ? वे नये हालात, दिखावे, बेईमानी और अन्तःकरण को बेचने वाले नये युग से समझौता कर पाने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। बदले हुए माहौल के कारण पाकिस्तान के कट्टर विरोधी कमाल को विवश होकर भारत छोड़ना पडता है। उसके सारे दोस्त और रिश्तेदार पाकिस्तान जा चुके है। मुसलमान होने के कारण उसे भारत में नौकरी भी नही मिल पाती। अन्ततः लखनऊ का यह इन-क्लाबी काँग्रेसी कार्यकर्ता, सयुक्त भारत की महानता के गीत गाने वाला करांची पहुँच जाता है। लेकिन वहाँ जाकर भी वह अपने वतन को भूल नही पाता। उसे लगता है कि उसने अपने आप को बेच दिया है। कमाल के माध्यम से लेखिका ने परस्पर विरोधी वफादारियो के संघर्ष की शिकार नई मुस्लिम पीढी की मनोव्यथा को प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति दी है। उपन्यास को पढकर अनुभव होता है कि लेखिका ने विभाजन की पीडा को, वफादारियो के कशमकश के दर्द को अपनी आत्मा में अनुभव किया है। हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायों की सांस्कृतिक एकता के पहलुओ पर प्रकाश डालते हुए लेखिका ने विभाजन की कृत्रिमता और अमानवीयता को ही उजागर किया है। अपना वतन छोड़ने को विवश अभागे हिन्दू-मुस्लिम शरणार्थियो का अप-राध आखिर क्या था ? जब सांस्कृतिक दृष्टि से दोनो सम्प्रदाय एक थे, तब विभाजन का राजनीतिक आधार कितना अमानवीय और क्रूर था जिसने लाखो लोगो को तबाह कर डाला। ऐसे अनेक कचोटने वाले प्रश्न इस उपन्यास मे उभरते हैं। विभाजनकालीन परिस्थितियों के लिए लेखिका ने गीता का वह दृश्य उपस्थित किया है जहाँ अर्जुन कृष्ण से अपना रथ दोनो सेनाओं के बीच खड़ी करने की प्रार्थना

करते हैं और तब वे देखते हैं कि दोनों सेनाओं में एक दूसरे के पुत्र, बाप दादा चाचा, भतीजे, बेटे मित्र ही एक दूसरे के विरुद्ध मोर्चा बाँधे खड़े हैं। यह दृश्य अर्जुन को सम्मोहित कर देता है। हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की तुलना कौरव-पाण्डव युद्ध से की गई यह सांकेतिक तुलना अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ी है। उपन्यास में इस अंश में साम्प्रदायिकता की समस्या पर बड़ी गहराई से विचार किया गया है। अपने भावुक, मानवीय दृष्टिकोण, विभाजन की त्रासदी की मार्मिक अभिव्यक्ति और कुशल शैली-शिल्प के कारण यह उपन्यास अनेक अर्थों में विभाजन पर लिखित उपन्यासों में उत्कृष्ट और प्रभावपूर्ण बन पड़ा है।

विभाजन पर रचित पंजाबी उपन्यास :

क्योंकि इस विभीषिका से प्रत्यक्षतः प्रभावित होने वाले मुख्य रूप से पंजाबी भाषी थे, इस कारण स्वातन्त्र्योत्तरकाल में लिखे गए पंजाबी उपन्यासों में इस दुर्घटना को प्रमुख स्थान मिला। नानक सिंह ने सर्वप्रथम इस विषय को लेकर दो पंजाबी उपन्यासों की रचना की। 'खून दे सोहले' (1947) तथा 'अग्ग दी खेड' (1948) वास्तव में एक ही बड़े उपन्यास के दो भाग हैं जिनमें स्वतन्त्रता प्राप्ति के अवसर पर पंजाब विभाजन के समय हुए रक्तपात का वर्णन है। प्रथम में पंजाब के पोठोहार प्रदेश में हुए फसाद तथा दूसरे में अमृतसर के दंगों का चित्रण हुआ है। 'खून दे सोहले' का पूर्वार्द्ध साम्प्रदायिक सौहार्द एवं भाई चारे का चित्र प्रस्तुत करता है तो उत्तरार्द्ध मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं के प्रति किए गए अमानवीय व्यवहार की कथा है। 'अग्ग दी खेड' में अमृतसर नगर में हिन्दू-सिक्खों की मुसलमानों के प्रति विद्वेष-भावना का रोमहर्षक चित्रण है। यहाँ दंगों, लूटमार, शरणार्थियों के पुनर्वास आदि के चित्र यथार्थ बन पड़े हैं। 'मंझधार' (1949) और 'चित्रकार' (1950) उपन्यासों में विभाजनोपरान्त शरणार्थियों के पुनर्वास से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का अंकन है। 'मंझधार' में स्वातंत्र्योत्तर काल के पंजाब प्रदेश में विस्थापितों के पुनर्वास की पृष्ठभूमि में राजनीतिक, सामाजिक नेताओं की धाँधली, भ्रष्टाचार एवं धन-लोलुपता का यथार्थ चित्रण हुआ है। 'चित्रकार' में विभाजनोपरान्त दिल्ली में आर्थिक संकट से ग्रस्त असहाय शरणार्थियों के भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता के दलदल में फँसने का यथार्थ चित्र प्रस्तुत है। कथा के केन्द्र में एक विस्थापित कलाकार का परिवार है जो जीवित रहने के लिये संघर्ष करता हुआ नैतिक पतन को प्राप्त होता है। 'फौलादी फुल्ल' के पत्रों में प्रकाशित लेखों से सिक्खों और मुसलमानों में भड़क उठने वाले साम्प्रदायिक झगड़ों का चित्रण है। गाँधीवादी मोहन के प्रभाव से हुए मौलवी साहब और उत्तमसिंह के हृदय परिवर्तन द्वारा लेखक ने समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। 'प्यार दी दुनिया' में भी एक चबूतरे को लेकर सिक्खों और मुसल-

पात्रों में विवाद आरम्भ होते दिखाया गया है। यहाँ भी नानकसिंह का आदर्शवादी पात्र प्रीतम सिंह अपने खर्च पर चबूतरा बनवाकर इस तनाव को शान्त करता है। 'गरीब दी दुनिया' में उद्योगपति अमरनाथ मजदूरों के हड़ताल को असफल करने के लिये यह अफवाह फैलाता है कि हिन्दू लड़की मालती को मुसलमान बनाया गया है। नानकसिंह के विचारों का प्रतिनिधि पात्र बलदेव हिन्दू-मुसलमानों को समझाकर तनाव शान्त करने की चेष्टा करता है। इसी के साथ नानकसिंह प्रेमचन्द की भाँति विभिन्न सम्प्रदायों के पात्रों को अभिन्न मित्र दिखाकर भी साम्प्रदायिक ऐक्य की भावना के प्रसार के प्रयास करते हैं। 'प्यार दी दुनिया' के सादक और प्रीतम सिंह, 'अधखिड़िया फुल्ल' में कुलदीप सिंह और अहमद तथा 'गरीब दी दुनिया' में कमर और शंकर की मित्रता इसके उदाहरण है।

पंजाबी उपन्यासों में विभाजन का अपेक्षाकृत निरपेक्ष अंकन सुरिन्दरसिंह नरूला के 'दीन ते दुनिया' उपन्यास में मिलता है। इसमे विभाजनकालीन लाहौर के साम्प्रदायिक दंगों का चित्रण है। 'प्यो पुत्तर' में स्वातन्त्र्यपूर्व के साम्प्रदायिक दंगों का प्रासंगिक वर्णन है। 'दिल दरिया' में भी वातावरण तो विभाजनोपरान्त दिल्ली का है, किन्तु मुख्य कथा से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सका।

सुरिन्दर सिंह कोहली के 'पारो आये चार जणे' मे भी प्रसंगवश साम्प्रदायिकता की समस्या पर विचार हुआ है। उपन्यास का पात्र करीम विदेश जाने पर साम्प्रदायिकता के सकुंचित घेर से ऊपर उठकर विचार करने लगता है "हिन्दुस्तान में अलग-अलग जातियाँ क्यों वन गई। हिन्दू-मुसलमान सबका अल्ला तो एक है, पर फिर भी आपस मे लड़ते झगड़ते रहते हैं।" उपन्यास का अन्त पाकिस्तान निर्माण की प्रसन्नता के नशे मे डूबे मुसलमानों द्वारा अपने सर्वप्रिय हिन्दू मित्र ज्ञानसिंह के वध से होता है।

करतार सिंह दुग्गल का 'नहूँ ते मास' (हिन्दी रूपान्तर—'चोली दामन') भी 'खून दे सोहले की' की कोटि का ही उपन्यास है। इसमें प्रथम पृष्ठ में ही विभाजन के बीज अंकुरित होते दिखाये गये हैं।

सोहन सिंह सीतल 'पतवन्ते कातल' में विभाजन के समय बलात् अपहृत लड़कियों के वापस अपने समाज में आश्रय पाने की समस्या को लेकर चलते हैं। इनका 'युग बदल गया' (पंजाबी से अनूदित) शीर्षक उपन्यास 1915 ई० से लेकर विभाजन काल तक की कथा कहता है। सामर्थ्य युक्त सरदार लक्खा सिंह पर परिवेश के प्रभाव के अंकन द्वारा लेखक विभाजन के परिणाम स्वरूप बदलती परिस्थितियों तथा परिवर्तित जीवन मूल्यों के चित्र प्रस्तुत करता है। नारी और शूद्र का शोषण करने वाला चतुर लक्खा सिंह विभाजन जनित परिस्थितियों में अपनी अछूत रखैल

को पत्नी तथा अवैध पुत्र जरनैल सिंह को पुत्र घोषित करने के लिये तैयार हो जाता है। यह स्थिति ही बदले हुए युग की सूचना है। विभाजन के लिये उत्तरदायी धर्म और राजनीति पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने विभाजन के बाद पनपने वाले भ्रष्टाचार तथा राजनीतिज्ञों की स्वार्थपरता के चित्रण के साथ-साथ शरणार्थियों की विभिन्न समस्याओं तथा उनकी दयनीय दशा का भी चित्रण किया है। इन उपन्यासों में विभाजन की विभीषिका का यथार्थ चित्रण है, किन्तु लेखकों के आदर्शवादी विचारों का समावेश हो जाने के कारण विषय का प्रभाव हल्का पड़ गया है।

अमृता प्रीतम :

पिंजर :

विभाजन की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर अमृता प्रीतम ने अपने उपन्यास 'पिंजर' में नारी-जीवन की करुण कथा प्रस्तुत की है। परिस्थितियों के विरोधाभास तथा विभाजन के कारण परिवर्तन जीवन-मूल्यों के चित्रण द्वारा लेखिका ने नारी-जीवन की विडम्बना का चित्र अंकित किया है। शेखों और साहों के घराने के बीच पीढ़ियों से चला आता वैर चुकाने की खातिर रशीद छत्तो वालों गांव की पूरो को उठा ले जाता है। पूरो छिपकर घर लौटती है, किन्तु मां-बाप उसे स्वीकार नहीं करते। निरुपाय और विवश पूरो का निकाह रशीद के साथ पढ़ा दिया जाता है। उसकी बाँह पर उसका नया नाम 'हमीदा' गोद दिया जाता है। 'किन्तु अभी तक जब रात को वह सो जाती थी, उसके सपनों में उसकी सहेलियां हंसती थीं, सपनों में वह अपने माता-पिता के घर खेलती-कूदती फिरती थी...दिन के प्रकाश में पूरो हमीदा बन जाती थी, रात के अन्धकार में वह पूरो रहती। किन्तु पूरो सोचती थी, वह वास्तव में हमीदा थी न पूरो, वह केवल एक पिंजर थी...जिसका कोई रूप न था, कोई नाम न था'[1] रशीद अपने हृदय का सारा प्रेम उड़ेल कर भी उसे खुश नहीं रख पाता। विभाजन की आँधी पूरो के हृदय में सुलगती आग को और भड़का देती है। हिन्दुस्तान जाते हुए एक काफिले में पूरो की भेंट अपने मंगेतर रामचन्द से होती है और तब उसे पता चलता है कि पूरो की छोटी बहन का विवाह रामचन्द से हो गया है और रामचन्द की बहन लाजो अब पूरो की भाभी है, जिसे कुछ लोग उठा ले गये हैं। रशीद और पूरो लाजो को ढूंढकर सुरक्षित अपने घर ले आते हैं। पूरो के मन में विचार आता है 'मेरे माता-पिता ने मुझे अपनी बेटी को तो वापस कबूल नहीं किया, क्या अब अपनी बहू को स्वीकार कर लेंगे?'[2] लेकिन रशीद पूरो को बतलाता है कि उनकी सरकार की ओर से सूचनाएँ निकली

1. 'पिंजर—अमृता प्रीतम, पृ० 30.
1. 'पिंजर', पृ० 108.

हैं बलपूर्वक ले जाई गई लड़कियों को लौटा दिया जाये, क्योंकि उनके बदले में दूसरी ओर से इसी प्रकार खोजी हुई लड़कियाँ मिलेंगी। लड़कियों के माता-पिता उन्हें वापस ले लेंगे।[1] यह सुनकर पूरो के हृदय में कसक-सी उठती है 'उसकी बार दुनिया के सब धर्म उसके रास्ते में काँटे बनकर बिछ गये थे, उसके माता-पिता ने उसे स्वीकार नहीं किया...आज सब मजहबों के मान टूट चुके थे।''[2] तब पूरो अकेली थी, उसके माँ-बाप को साहस न हुआ था कि वे लोगों की बातें सुन सकें। अब किसी एक को नहीं, सबके कलेजे पर लगी है।[3] पुलिस के पहरे के बीच लाहौर में रशीद और पूरो लाजो को उसके परिवार के सदस्यों को सौंप देते हैं। पुलिस की लारी तैयार हो जाने पर एक बार पूरो के मन में विचार आता है 'जो मैं इस समय कह दूँ, मैं एक हिन्दू स्त्री हूँ तो मुझे अवश्य ही वह इन सबके साथ लारी में बिठाकर ले जाएँगे। मैं भी लौट सकती हूँ, मैं भी लाजो की भाँति...देश की हजारों लड़कियों की भाँति...।''[4] लेकिन पूरो लौट नहीं पाती। पति और पुत्र की ममता को छोड़ना अब संभव नहीं है। रशीद के पास जाकर वह अपने पुत्र को गले से लगा लेती है। 'लाजो अपने घर लौट रही है, समझ लेना कि इसी में पूरो भी गई। मेरे लिये तो अब यही जगह रह गई है।'[5] उसका मन कहता है।

विभाजन पर रचित अंग्रेजी उपन्यास :

विभाजन की पृष्ठभूमि पर अंग्रेजी में भी कई महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे गये जिनमें मनोहर मुलगांवकर तथा खुशवन्त सिंह के उपन्यास प्रमुख हैं।

'डिस्टैंट ड्रम' :

मुलगांवकर का उपन्यास 'डिस्टैंट ड्रम' विभाजन के कारण उत्पन्न देश-भक्ति एवं मानवीय संवेदनाओं के संघर्ष की कहानी है। दो मित्र, किरण और अब्दुल, 1949 के बाद हिन्दू और मुसलमान होने के कारण दो शत्रु देशों के सिपाही बने और अनजान में अपने देशों की सीमा-रक्षा के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध तैनात हुए। देश के प्रति वफ़ादारी सैनिकों का परम कर्तव्य भले ही हो, उनकी मित्रता का भी कम महत्व नहीं होता। अतः दोनों मित्र अपनी-अपनी चौकियों से चलकर बीच के एक पेड़ के नीचे बैठे। उन्होंने साथ मिलकर शराब पी और फिर अपनी भावनाओं को बिना अनावश्यक तूल दिये एक दूसरे से अलग हुए। मुलगांवकर स्वयं सन् 1942

1. पिंजर, पृ० 108.
2. वही, पृ० 108.
3. वही, पृ० 127.
4. वही, पृ० 137.
5. वही, पृ० 137.

ने द्वितीय महायुद्ध के समय सैनिक जीवन बिता चुके थे। अतः जब देश के बँटवारे के साथ सेना का भी बँटवारा हुआ तो लेखक को यह लगा कि इतिहास ने भी सैनिकों का ही एक दूसरे पर गोलियाँ चलाने के लिए मजबूर कर दिया था। इतिहास के विद्यार्थी मुलगाँवकर की दृष्टि में युद्धकाल में देश को जो कुर्बानियाँ देनी पड़ी थीं, उनसे कहीं ज्यादा बँटवारे के बाद भारत और पाकिस्तान को झेलनी पड़ीं, क्योंकि इस बार वर्षों के प्रेम और सहानुभूति के फलस्वरूप बने सम्बन्धों को एक झटके से तोड़ दिया गया था। अनुशासन तोड़ने के अपराध में किरपा और [illegible] को सजा अवश्य मिली, लेकिन लेखक ने उनके प्रति सहानुभूति दिखाकर मानवीय मूल्यों को ही प्रतिष्ठित किया है।

'ए बेंड इन दि गैंजेज' :

'ए बेंड इन दि गैंजेज' (1964) में लेखक ने आतंकवादियों को केन्द्र में रखकर 1920 से 1947 के काल-खण्ड को कथा-सूत्र में पिरोया है। साहसी, कर्तव्य निष्ठ, देशप्रेमी देवीदयाल देश की स्वतन्त्रता हेतु आतंकवादियों के दल में सम्मिलित होता है और उसे कालेपानी की सजा मिलती है। स्वदेश लौटने पर विश्वासघाती मित्र शफी से बदला लेने के लिये वह उसकी प्रेयसी मुमताज को खरीद लेता है। मुमताज की रक्षा करते हुए वह घायल हो जाता है। मुमताज उसकी सेवा करती है, जिससे एक-दूसरे के प्रति दोनों में आकर्षण पैदा होता है। देश अब तक विभाजित हो चुका है और देवीदयाल का गाँव पाकिस्तान में चला गया है। माँ और पिता से आशीर्वाद लेने के लिये वह मुमताज के साथ अपने गाँव की ओर चल पड़ता है। रास्ते में ही उसकी ट्रेन को मुसलमान रोक लेते हैं और दोनों की हत्या कर दी जाती है। साम्प्रदायिक विद्वेष का परिणाम हिन्दू-मुस्लिम एकता और प्रेम के समर्थक देवीदयाल को भुगतना पड़ता है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने बड़ी ईमानदारी के साथ विभाजन के पहले देश में कार्यरत अनुदार राजनीतिक तथा धार्मिक शक्तियों का चित्रण किया है। वस्तुतः यह उपन्यास उन सारी शक्तियों के विरुद्ध लिखा गया है, जो भारत की एकता के दुश्मन थे और ऊँचे आदर्शों का जामा पहनकर जनता को धोखा देते थे। चूँकि विभाजन से पंजाब ही सर्वाधिक प्रभावित हुआ, वहीं के चरित्रों को ही उनके परिवेश में लेखक ने चित्रित किया है। विभाजनकाल की हिंसा और क्रूरता के दृश्य उसकी कथा में सजीव हो गये हैं। मुलगाँवकर ने स्वयं लिखा है, "इस कहानी में वर्णित हिंसा ही सिर्फ सच है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही जो हिंसा का बोलबाला हुआ वह भारत के इतिहास का एक अभिन्न अंग है। इसके अलावा जीवन से कुछ नहीं लिया गया है।" गाँधी-युग को उसकी पूरी समग्रता में प्रस्तुत करने के कारण ही नहीं, बल्कि जीवन के हर पक्ष से चरित्रों को लेने और देश के इतिहास को मुख्य शक्ति के

चित्रण के कारण इसकी तुलना 'वार एण्ड पीस' जैसे महाकाव्यकाय उपन्यास से की गयी है।

रामायण में एक स्थल पर कहा गया है : गंगा के मोड़ पर राम, सीता और लक्ष्मण ने पीछे मुड़कर उस भूमि को देखा, जिसे छोड़कर वे चौदह वर्ष के वनवास के लिये जा रहे थे। राम, सीता, लक्ष्मण की भाँति न जाने कितने लोग अपना जन्म-स्थान छोड़कर (जो अब पाकिस्तान बन चुका था) हिन्दुस्तान आ रहे थे। किन्तु सही अर्थ में वे अयोध्या छोड़कर अनजान जंगल में ही प्रवेश कर रहे थे। उपन्यास के शीर्षक का एक आधार यह भी है। लेखक ने भारतीय इतिहास की गंगा के मोड़ पर खड़े होकर उस काल-खण्ड की राजनैतिक-सामाजिक वास्तविकताओं को पीछे मुड़कर हसरत भरी नजर से देखने की चेष्टा की है, जिसे रूमानी इतिहासकार ने भद्दे रंगों से रंगा था।

'ट्रेन टू पाकिस्तान' :

खुशवन्त सिंह का 'ट्रेन टू पाकिस्तान' शीर्षक उपन्यास विभाजन की त्रासदी, मानवीय मूल्यों और प्रेम की महानता को चित्रित करने वाली प्रभावपूर्ण रचना है। विभाजन के हादसे का अत्यन्त तटस्थ चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। सतलज नदी के किनारे मानो माजरा नाम का एक गाँव है, जिसमें हिन्दू, मुस्लिम और सिख सभी आपस में प्रेम और भाईचारे से रहते हैं। उन्हें बाहर की दुनिया से कोई मतलब नहीं है; पाकिस्तान बन चुका है, इसका भी उन्हें पता नहीं चलता। अन्य स्थानों में होने वाले दंगे और लूट-पाट उन्हें उत्तेजित नहीं कर पाते। हाँ, पहली बार जब हिन्दुओं और सिखों की लाशों से भरी हुई एक ट्रेन पाकिस्तान से आती है, तब सभी गुरुद्वारे में एकत्र होकर ईश्वर से शान्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। बाद में सभी मुसलमानों को गाँव से निकाल कर पाकिस्तान भेज देने का सरकारी आदेश आता है। गाँव में नूरा नाम की एक लड़की है, जो जग्गा नामक डाकू से प्रेम करती है। जग्गा अपने क्षेत्र में काफी बदनाम है, किन्तु नूरा का प्रेम उसे बदल देता है। कुछ अतिवादी संगठन पाकिस्तान जाने वाली ट्रेन को पुल पर से नदी में गिरा देने का षड्यंत्र करते हैं। जग्गा जेल से छूटकर गाँव आता है। उसकी प्रेमिका नूरा को भी उसी ट्रेन से पाकिस्तान भेजा जा रहा है। षड्यंत्र का पता चलने पर उसे विफल करने के उद्देश्य से वह भागता हुआ पुल की ओर जाता है। पुल के एक छोर से दूसरे छोर तक बंधी हुई रस्सी को वह काटना प्रारम्भ करता है, लेकिन तभी आतंकवादी उसे देख लेते हैं। जग्गा आतंकवादियों की गोली का शिकार बन जाता है, लेकिन तब तक वह अपना काम कर चुका है—ट्रेन पाकिस्तान चली जाती है।

इस उपन्यास में पंजाब के ग्रामीण वातावरण का यथार्थ चित्रण हुआ है।

निस्सन्देह यह उपन्यास भारत विभाजन की पृष्ठभूमि पर रचित एक प्रभावशाली कृति है।

'आजादी' :

चमन नाहल कृत 'आजादी' विभाजन की त्रासदी पर आधारित अंग्रेजी का एक उत्कृष्ट उपन्यास है। 1975 ई० में प्रकाशित इस उपन्यास को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिल चुका है।

प्रस्तुत उपन्यास सियालकोट में रहने वाले लाला कांशीराम, उनकी पत्नी प्रभारानी, पुत्र अरुण पुत्री मधुबाला तथा विभाजन से प्रभावित अन्य कई गुमनाम लोगों की कहानी है। लाला कांशीराम का परिवार विभाजन से पूर्व सियालकोट में सानन्द अपना समय व्यतीत कर रहा है। हिन्दू और मुसलमान, दोनों सम्प्रदायों के लोग उनकी इज्जत करते हैं। लेकिन दंगों के कारण उन्हें सियालकोट छोड़कर भारत आने के लिये विवश होना पड़ता है। इस दौरान उनकी पुत्री की मृत्यु हो जाती है। भारत आने के बाद लाला कांशीराम को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

प्रस्तुत उपन्यास मूलतः मानवीय दृष्टिकोण से लिखा गया उपन्यास है जिसमें विभाजन की त्रासदी का निरपेक्ष अंकन किया गया है। जहाँ एक ओर लेखक ने पाकिस्तान में हिन्दू स्त्रियों पर किये गये अत्याचारों का चित्रण किया है, वहीं भारत मे मुस्लिम स्त्रियों पर हुए अत्याचारों का भी सजीव चित्रण है। उपन्यास में बरकत अली जैसे पात्र भी हैं, जो लाला कांशीराम के साथ अपनी मित्रता का निर्वाह अन्त तक करते हैं। उसके चरित्र के माध्यम से लेखक ने इस मान्यता का प्रतिपादन किया है कि उस घृणा और हिंसा के माहौल में भी मानवीय संवेदनाएँ और मूल्य पूरी तरह समाप्त नहीं हुए थे। उपन्यास का स्वर राजनीतिक या आलोचनात्मक नहीं है। लेखक के लिये विभाजन एक मानवीय त्रासदी है। विभाजन के समय की भयावह दृश्यावली का मार्मिक चित्रांकन इस उपन्यास में हुआ है।

'व्हेन फ्रीडम केम' :

'व्हेन फ्रीडम केम' शाफे मुकद्दम का नया उपन्यास है, जिसकी पृष्ठभूमि भारत विभाजन है, किन्तु इसका घटनास्थल विभाजन के वास्तविक घटनास्थल से दूर बम्बई का क्षेत्र है। विभाजन की घटना और उसके परिवेश ने देश के अन्य भागों को किस रूप में प्रभावित किया, प्रस्तुत उपन्यास में इसका यथार्थ चित्रण है।

कोंकण क्षेत्र से फकीर नाम का मुसलमान लड़का जीविकोपार्जन हेतु बम्बई आता है। बम्बई में वह पैसे कमाने की अन्धी दौड़ में शामिल होने से बचने का प्रयास करता है, लेकिन इसी दौरान वह पाकिस्तान समर्थक आन्दोलन की ओर आकृष्ट होकर जिन्ना द्वारा गठित 'नेशनल गार्ड' में सम्मिलित हो जाता है।

केशो अप्पा नामक एक हिन्दू युवक भी कोंकण क्षेत्र से आकर बम्बई में बस गया है उसने कुछ पैसा भी कमा लिया है। वह हर सम्भव तरीके से देश-विभाजन को रोकना और एक हिन्दू राज्य की स्थापना करना चाहता है। शीघ्र ही वह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का एक प्रमुख समर्थक बन जाता है।

इसी बीच केशो अप्पा का भतीजा और फकीर का बचपन का मित्र शंकर बम्बई आता है। यह देखकर उसे बड़ी निराशा होती है कि उसका बालमित्र फकीर हिन्दू होने के कारण उससे दूरी बनाये रखना चाहता है। इन तीनों के आपसी संघर्ष के माध्यम से कथानक आगे बढ़ता है। अन्त में किस प्रकार ये तीनों एक समझौते पर पहुँचते हैं, इसका प्रभावशाली चित्रण उपन्यासकार ने किया है।

'उत्तराधिकार' : (बंगला उपन्यास)

जरासंध लिखित 'उत्तराधिकार' शीर्षक उपन्यास विभाजन के उपरान्त शरणार्थियों द्वारा अधिकृत भूमि पर बसी कालोनी की समस्याओं और टूटती जमींदारी प्रथा की पटकथा पर विनिर्मित उपन्यास है। शरणार्थियों की आर्थिक विपन्नता, उसके कुप्रभावों के साथ-साथ राजनीतिक दुरभिसंधियों के व्यापक दुष्चक्र का प्रभावपूर्ण रेखांकन इस उपन्यास में हुआ है। स्वरूपकांदी के बंद्योपाध्याय जमींदार घराने का वर्तमान वंशधर अभिजीत जब शरणार्थियों की गन्दी बस्ती से गुजरता है, उसे अनुभव होता है कि यहाँ सारे मानवीय मूल्य टूट-बिखर गये हैं। अपनी जान बचाकर भाग आने वाले शरणार्थी खो आये थे अपनी 'सम्पत्ति, मान-मर्यादा, अपने आत्मीय स्वजन और इनसे भी अधिक कीमती मनुष्य के ऊपर से विश्वास।'[1] वह सोचने पर विवश हो जाता है कि क्या विस्थापन व्यक्ति की सभी परम्पराओं, मान-मर्यादा और मनुजत्व का अपहरण कर लेता है? शरणार्थियों के नेता शम्भूचरण की सहायता से वह उस कालोनी की समस्याओं का समाधान करना चाहता है, किन्तु शरणार्थियों की आर्थिक विपन्नता का अनुचित लाभ उठाने वाले राजनीतिज्ञों के हथकण्डों के कारण अभिजीत तथा शम्भू जैसे शुभचिन्तकों की योजनाओं को भी संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगता है। इसका प्रायश्चित करना पड़ता है, शम्भू जैसे निर्दोष लोगों को अपने बलिदान से। विस्थापन के बाद उजड़कर आये शरणार्थियों को उत्तराधिकार में क्या मिला, इस प्रश्न पर उपन्यासकार ने गहराई से विचार किया है। उसका विश्वास है कि विस्थापन व्यक्ति को अपने वतन के भू-खण्ड से ही अलग नहीं करता, बल्कि उसकी सारी परम्पराओं, नैतिक मान्यताओं और रीति रिवाजों को भी तोड़ डालता है। आर्थिक विपन्नता उसके मूल्य-मर्यादाओं को प्रभावित करती है, जीवन में सुख भोग की लालसा और बाह्य आकर्षण उसे पतन

1. उत्तराधिकार : (बंगला उपन्यास) मूल लेखक : जरासंध, अनुवादक : छेदीलाल गुप्त

के आग की ओर ढकेल देते हैं, जिसका लाभ उठाते हैं राजनीतिज्ञ। शरणार्थियों की दयनीय अवस्था के साथ-साथ लेखक ने राजनीति के नंगे क्रूर कुचक्र को भी रेखांकित किया है।

अब किसकी बारी है?[1]

विमल मित्र का यह नया उपन्यास भी देश के विभाजन की रोमांचकारी पृष्ठभूमि पर आधारित है। यह अपने ढंग की प्रेम-कथा तथा साथ ही मानवीय मूल्यों के संघर्ष का दस्तावेज है।

परिशिष्ट—2

शोध प्रबन्ध में चर्चित विभाजन सम्बन्धी कथा-साहित्य की सूची

उपन्यास—

लेखक का नाम	उपन्यास	प्रकाशक
1. गुरुदत्त	'पथिक'	विद्या मन्दिर लिमिटेड, दिल्ली पाँचवाँ संस्करण, 1972
2. ,,	'स्वराज्य दान'	विद्या मन्दिर लिमिटेड, दूसरा संस्करण, 1962
3. ,,	'देश की हत्या'	भारती साहित्य सदन, दिल्ली 1953
4. ,,	'दीन दुनिया'	पंजाबी पुस्तक भण्डार, दिल्ली प्रथम सस्करण, 1974
5. यशपाल	'झूठा-सच'	
	भाग 1—'वतन और देश'	विप्लव प्रकाशन, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण
	भाग 2—'देश का भविष्य'	विप्लव प्रकाशन, तीसरा सस्करण, 1967
6. भीष्म साहनी	'तमस'	राजकमल प्रकाशन, प्रथम सस्करण 1973
7. बलवन्त सिंह	'काले कोस'	सरस्वती प्रेस, 1973
8. कमलेश्वर	'लौटे हुए मुसाफिर'	हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली
9. जगदीशचन्द्र	'मुट्ठी भर कांकर'	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम सस्करण 1976
10. फणीश्वरनाथ रेणु	'जुलूस'	
11. राही मासूम रजा	'आधा गाँव'	राजकमल प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, 1980
12. ,,	'टोपी शुक्ला'	राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 1977

लेखक का नाम	उपन्यास	प्रकाशक
13. राही मासूम रजा	'ओस की बूंद'	राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 1976
14. बदीउज्जमाँ	'छाको की वापसी'	राजकमल प्रकाशन
15. रामानन्द सागर	'और इन्सान मर गया'	स्टार पब्लिकेशन्स, प्रथम संस्करण 1977
16. रघुवीरशरण मिश्र	'बलिदान'	भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, पंचम संस्करण 1972
17. यज्ञदत्त शर्मा	'इन्सान'	
18. आचार्य चतुरसेन शास्त्री	'ढहती हुई दीवार'	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
19. ,,	'धर्मपुत्र'	राजपाल एण्ड सन्स, सातवाँ संस्करण 1973
20. मन्मथनाथ गुप्त	'जययात्रा'	
21. ,,	'रैन अंधेरी'	
22. ,,	'प्रतिक्रिया'	
23. ,,	'अछूत समस्या'	
24. ,,	'सागर संगम'	
25. ,,	'गृह-युद्ध'	
26. ,,	'तूफान के बादल'	
27. ,,	'चक्की'	
28. ,,	'दो दुनिया'	
29. ओंकार राही	'शवयात्रा'	अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1972
30. भगवतीचरण वर्मा	'वह फिर नहीं आई'	
31. विष्णु प्रभाकर	'तट के बन्धन'	
32. अमृता प्रीतम	'पिंजर'	हिन्द पाकेट बुक्स, 1969
33. उषादेवी मित्रा	'नष्ट नीड़'	

लेखक का नाम	उपन्यास	प्रकाशक
34. उषाबाला	'कुन्ती के बेटे'	राजपाल एण्ड सन्ज, प्रथम संस्करण, 1977
35. प्रमोद बंसल	'अन्धे युग के बुत'	प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली
36. कर्तारसिंह दुग्गल	'मन परदेसी'	सरस्वती विहार, नई दिल्ली प्रथम संस्करण, 1982
37. प्रतापनारायण श्रीवास्तव	'बयालीस'	जिज्ञासा प्रकाशन, कानपुर
38. भगवतीचरण वर्मा	'भूले-बिसरे चित्र'	राजकमल प्रकाशन, छठा संस्करण, 1975
39. ,,	'सीधी सच्ची बातें'	राजकमल प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 1976
40. ,,	'प्रश्न और मरीचिका'	राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1973
41. भैरव प्रसाद गुप्त	'सती मैया का चौरा'	नीलाभ प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1959
42. फणीश्वरनाथ रेणु	'कितने चौराहे'	
43. शुकदेव बिहारी मिश्र प्रतापनारायण मिश्र	'स्वतन्त्र भारत'	
44. रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	'नई इमारत'	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1942
45. विष्णु प्रभाकर	'निशिकान्त'	
46. देवेन्द्र सत्यार्थी	'कठपुतली'	
47. जयवीर त्यागी	'तूफान के उस पार'	साहित्य सेवक संस्थान, दिल्ली, 1976
48. ख्वाजा अहमद अब्बास	'काँच की दीवारें'	पंजाबी पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 1976

कहानियाँ –

लेखक	कहानी का नाम	कहानी संग्रह और प्रकाशक
1. अज्ञेय	'शरणदाता'	'अज्ञेय' की सम्पूर्ण कहानियाँ-2 'लौटती पगडंडियाँ' राजपाल एण्ड सन्ज, प्रथम संस्करण, 1975
2. ,,	'बदला'	,,
3. ,,	'लेटर बाक्स'	,,
4. ,,	'रमन्ते तत्र देवताः'	,,
5. ,,	'मुस्लिम-मुस्लिम भाई-भाई	,,
6. ,,	'नारंगियाँ'	,,
7. पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'	'माँड़ा टुरा'	'पोली इमारत' आत्माराम एण्ड सन्स, प्रथम संस्करण, 1961
8. ,,	'खुदाराम'	'ऐसी होली खेलो लाल' आत्माराम एण्ड सन्स, प्रथम संस्करण, 1964
9. ,,	'शाप'	,,
10. ,,	'खुदा के सामने'	,,
11. पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'	'दोजख ! नरक !!	'ऐसी होली खेलो लाल' आत्माराम एण्ड संस, प्रथम संस्करण 1961
12. ,,	'ईश्वरद्रोही'	,,
13. ,,	'दिल्ली की बात'	,,
14. ,,	'मलंग'	'यह कंचन सी काया' आत्माराम एण्ड सन्स
15. ,,	'दोजख की आग'	'मुक्ता' आत्माराम एण्ड संस, प्रथम संस्करण 1964

लेखक	कहानी का नाम	कहानी संग्रह और प्रकाशक
48. महीप सिंह	'पानी और पुल'	,,
49 फणीश्वरनाथ रेणु	'जलवा'	'मेरी प्रिय कहानियाँ' राजपाल एण्ड सन्स, दूसरा संस्करण, 1975
50. कृष्णा सोबती	'सिक्का बदल गया'	सिक्का बदल गया'
51. ,,	'मेरी माँ कहाँ'	'भारत–विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ'
52. बदीउज्जमाँ	'परदेसी'	'सिक्का बदल गया'
53. बदीउज्जमाँ	'अन्तिम इच्छा'	'भारत–विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ'
54. देवेन्द्र इस्सर	'मुक्ति'	'सिक्का बदल गया'
55. श्रवण कुमार	'मामूली लोग'	'भारत विभाजन : हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ'
56 विधान टंडन	'माटी रही पुकार'	'धर्मयुग' 13 दिसम्बर 1981
57. हरि भक्त	'जड़ें'	'रविवार' 28 मार्च 1982

अन्य भाषाओं के कथा-साहित्य की सूची

उपन्यास

लेखक का नाम	उपन्यास	प्रकाशक
1. कुर्रतुलऐन हैदर	'आग का दरिया' (उर्दू)	किताब महल, इलाहाबाद
पंजाबी उपन्यास		
2. नानक सिंह	खून दे सोहले'	
3. ,,	'अग्ग दी खेड'	
4. ,,	'मंझधार'	
5. ,,	'चित्रकार'	
6 ,,	फौलादी फुल'	
7 ,,	'गरीब दी दुनियाँ'	
8 सुरिन्दरसिंह नरूला	दीन ते दुनियाँ'	
9. ,,	प्यो पुतर'	
10. ,,	'दिल दरिया'	
11. सुरिन्दरसिंह कोहली	पारों आये पार अणों'	
12. करतारसिंह दुग्गल	नहुँ ते मास'	
13. सोहन सिंह सीतल	'पतवन्ते कातल'	
14. ,,	'युग बदल गया'	
अंग्रेजी उपन्यास		
15. मनोहर मुलगांवकर	'डिस्टेंट ड्रम'	
16. ,,	'ए बेंड इन दि गैंजिस'	
17. खुशवन्त सिंह	'ट्रेन टू पाकिस्तान'	
18. चमन नाहल	'आजादी'	ओरिएन्ट पेपरबैक्स 1979
19. शार्फे मुकद्दम	'व्हेन फ्रीडम केम'	
बंगला उपन्यास		
20. जरासंध	'उत्तराधिकार'	अनुवादक—छेदीलाल गुप्त, साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद, 1976
21. विमल मित्र	'अब किसकी बारी है'	प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज कश्मीरी गेट, दिल्ली

लेखक	कहानी का नाम	कहानी संग्रह और प्रकाशक
उर्दू कहानियाँ		
1. ए० हमीद	'पतर अनारों दे'	'सिक्का बदल गया'
2. अशफ़ाक अहमद	'गडरिया'	,,
3. सआदत हसन मंटो	'टोबा टेकसिंह	,,
4. कृश्नचन्दर	'पेशावर एक्सप्रेस'	
5. राजेन्द्रसिंह बेदी	'लाजवन्ती'	'सिक्का बदल गया'
6. जकी अनवर	'इश्क'	'रविवार' 6-12 मई 19
बंगाली		
7. मनोज बसु	'सीमान्त'	'सिक्का बदल गया'
8. मानिक बंद्योपाध्याय	'स्थान और स्नान में'	,,
डोगरी		
9. वेद राही	'मौत'	'सिक्का बदल गया'
10. ओम गोस्वामी	'भीगी मिट्टी'	'धर्मयुग' 11 अप्रैल तथा 18 अप्रैल, 1982
मराठी		
11. ना० ग० गोरे	'चुल्लू भर पानी' चुल्लू भर खून'	'सिक्का बदल गया'
पंजाबी		
12. लोचन बक्शी	'धूल तेरे चरणों की'	,,
13. गुलजारसिंह संधु	'आखिरी तिनका'	,,
14. कुलवन्तसिंह विर्क	'घास'	,,
गुजराती		
15. जयंति दलाल	'लुटा हुआ'	,,
सिन्धी		
16. मोतीलाल जोतवाणी	'धरती से नाता'	,,
17. गुलजार अहमद	'यादें'	,,
18. शेख अयाज	'पड़ोसी'	,,
अंग्रेजी		
19. खुशवन्त सिंह	'दि रायट'	
20. शान्ताराम राव	'फोनिक्स फ्लेड'	
21. आर० के० नारायण	'ऐनादर कम्युनिटी'	
22. ख्वाजा अहमद अब्बास	'दि ग्रीन मोटरकार'	

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

लेखक	पुस्तक	प्रकाशक
1. जवाहरलाल नेहरू	'हिन्दुस्तान की कहानी'	अनुवादक—श्री रामचन्द्र टंडन श्री [illegible] शर्मा सस्ता साहित्य मण्डल, तृतीय संस्करण 1966
2. मौलाना अबुल कलाम आजाद	'आजादी की कहानी'	अनुवादक—महेन्द्र चतुर्वेदी ओरियन्ट लोंगमैन्स, प्रथम संस्करण 1965
3. बी० आर० अम्बेडकर	'भारत का विभाजन अथवा पाकिस्तान'	अनुवादक श्री दयाराम जैन बहुजन कल्याण प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1972
4. लैरी कालिन्स और डोमिनिक लैपियरे	'आधी रात को आजादी'	अनुवादक [illegible] [illegible] प्रकाशन, अहमदाबाद, 1976
5. गुरुदत्त	'भारत गांधी नेहरू की छाया में'	भारती साहित्य सदन, दूसरा संस्करण 1970
6. खान अब्दुल गफ्फार खाँ	'आत्मकथा'	अनुवादक—जगन्नाथ प्रभाकर हिन्द पाकेट बुक्स, 1969
7. प्रभा दीक्षित	'साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक सन्दर्भ'	मैकमिलन प्रकाशन, 1980
8. डॉ० नरेन्द्र मोहन	'सिक्का बदल गया'	सीमान्त पब्लिकेशन्स, 1975
9. Ramesh Mathur Mohendra Kulsrestha	Writings on India's Partition.	Simant Publications, 1976
10. Rajendra Prasad	India Divided	Hind Kitab Publishers, Second Edition, May 1946
11. C. H. Philips & Mary Doreen Wainwright	The Partition of India	George Allen and Unwin Ltd. London. First Published in 1970

12. B. B. Misra	The Indian Political Parties	Oxford University Press, Delhi 1976
13. ब्रजभूषण सिंह 'आदर्श'	हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन	रचना प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1972
14. डॉ० सीताराम झा 'श्याम'	भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम और हिन्दी उपन्यास	हिन्दी प्रचारक प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1969
15. इन्द्रनाथ मदान	हिन्दी उपन्यास : एक नयी दृष्टि	राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1975
16. डॉ० प्रतापनारायण टंडन	हिन्दी उपन्यास का परिचयात्मक इतिहास	विवेक प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1967
17. कृष्ण बिहारी मिश्र	आधुनिक सामाजिक आन्दोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य	आर्य बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1972
18. डॉ० नरेन्द्र मोहन	आधुनिक हिन्दी उपन्यास	दि मैकमिलन कं० ऑफ इंडिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1975
19. भीष्म साहनी, रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद निदारिया	आधुनिक हिन्दी उपन्यास	राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1980
20. डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे सूर्यनारायण रणसुभे ओमप्रकाश होलीकर	हिन्दी उपन्यास : विविध आयाम	पुस्तक संस्थान, कानपुर, संस्करण 1977
21. डॉ० बेचन	आधुनिक हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास	सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1971
22. डॉ० गणेशन	हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन	राजपाल एण्ड सन्ज दूसरा संस्करण 1967
23. घनश्याम मधुप	हिन्दी लघु उपन्यास	राधाकृष्ण प्रकाशन 1971

37. इन्द्रनाथ मदान	हिन्दी कहानी : पहचान और परख	लिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 197[illegible]
38. [illegible]	हिन्दी कहानी : सातवाँ दशक	दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण 1975
39. रघुवर दयाल [illegible]	हिन्दी कहानी [illegible] प्रतिमान	पाण्डुलिपि प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1975
40. डॉ० [illegible]	समकालीन कहानी : समान्तर कहानी	दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 1977
41. डॉ० [illegible]प्रकाश अमिताभ	हिन्दी कहानी : [illegible]	गिरनार प्रकाशन, पिलाजीगंज (उ० गुजरात) प्रथम संस्करण, 1981
42. राकेश वत्स	सक्रिय कहानी की भूमिका	अभिषेक पब्लिकेशन्स, चण्डीगढ़, 1979
43. डॉ० शिवशंकर पाण्डेय	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी : कथ्य और शिल्प	आलेख प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1978
44. डॉ० सुरेश सिन्हा	हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास	अशोक प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1967
45. डॉ० नूरजहाँ	हिन्दी कहानी में यथार्थवाद	अभिनव भारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1976
46. डॉ० अरविन्द जोशी	गाँधी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव	जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्रथम संस्करण 1973
47. नरेन्द्र मोहन, देवेन्द्र इस्सर	विद्रोह और साहित्य	साहित्य भारती दिल्ली, प्रथम संस्करण 1970
48. नेमिचन्द्र जैन	बदलते परिप्रेक्ष्य	राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 1968
49. डॉ० सुखबीर सिंह	समीक्षा के नये प्रतिमान	तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम 1977

62 डॉ० सुषमा अग्रवाल — कहानीकार मोहन राकेश — पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 1979

63. सूर्यकान्त गुप्त (सम्पादक) — हिन्दी उपन्यास वार्षिकी 1976 — सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1979

पत्र--पत्रिकाएं

1. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 4 मार्च 1969
2. दिनमान—4 मार्च 1979
3 ,, 31 अगस्त—6 सितम्बर 1980
4. ,, 7–13 सितम्बर 1980
5. ,, 21–27 सितम्बर 1980
6. रविवार 19 अप्रैल 1981
7. हंस अप्रैल 1932
8 आज का साहित्य, वर्ष 1, अंक–4
9. समीक्षा. वर्ष : 6, अंक 6, अक्टूबर 1972
10. ,, वर्ष : 10, अंक—1-2, मई—जून 1976
11. ,, वर्ष : 10, अंक—3-4, जुलाई—अगस्त, 1976
12. ,, वर्ष : 10, अंक—10-12, फरवरी—अप्रैल, 1977